केशव मिश्र प्रणीता

तर्कभाषा

समीक्षात्मक भूमिका
भाषानुवाद
व्याख्यात्मक टिप्पणी सहित

डा. श्रीनिवास शास्त्री

अर्थ

श्रीकेशवमिश्रप्रणीता

तर्कभाषा

[समीक्षात्मक-भूमिका-भाषानुवाद-व्याख्या-टिप्पणी-सहित]

S KHATRI

कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयप्राध्यापकेन

डा० श्रीनिवासशास्त्रिणा

सम्पादिता

KALA - MANDIR
1687, Nai Sarak,
Delhi - 110006
Tel;- 3278828
No Return/Exchange

साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाज़ार, मेरठ-२५०००२

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ–२
☎ ५१८७५४

लेखक द्वारा सम्पादित अन्य उपयोगी पुस्तकें

१. कादम्बरी (पूर्वार्द्ध)
२. काव्यप्रकाश
३. दशरूपक
४. एम. ए. संस्कृत व्याकरण
५. संस्कृतरचनानुवादप्रभा
६. मृच्छकटिक
७. कुसुमांजलिकारिकाव्याख्या
८. न्यायबिन्दुटीका
९. वाचस्पतिमिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन

प्रथम संस्करण, १९७२ ई०
द्वितीय संस्करण, १९७५ ई०
तृतीय संस्करण, १९७६ ई०
चतुर्थ संस्करण १९७७ ई०
पंचम संस्करण, १९८१ ई०
सप्तम संस्करण, १९८९ ई०
अष्टम् संस्करण, १९९२ ई०
नवम संस्करण, १९९४ ई०
दशम संस्करण १९९६
एकादश संस्करण १९९९
द्वादश संस्करण २००१

मूल्य : साठ रुपये (६०.००)

मुद्रक दुर्गा आफसैट प्रिन्टर्स
गढ़ रोड (मेरठ)

प्राक्कथन

तर्कभाषा की यह हिन्दी व्याख्या पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की जा रही है। यहाँ विषय-प्रवेश में भारतीय दर्शन का संक्षिप्त विवरण देते हुए न्याय-वैशेषिक-सम्प्रदाय के उद्‌भव तथा विकास का परिचय दिया गया है। इस सन्दर्भ में न्याय०-वै० के प्रमुख आचार्यों तथा उनकी कृतियों का वर्णन करते हुए यह उल्लेख भी किया गया है कि न्या०-वै० सम्प्रदाय को उनकी क्या विशेष देन है? तदनन्तर न्याय तथा वैशेषिक के मन्तव्यों की तुलना करते हुए सम्मिलित न्या०-वै० सम्प्रदाय के प्रकरण ग्रन्थों का इतिहास संक्षेप में दिया गया है। अन्त में केशवमिश्र के समय आदि तथा तर्कभाषा के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

हिन्दी व्याख्या का क्रम यह रक्खा गया है—प्रथमतः ग्रन्थ का सरल हिन्दी में अनुवाद किया गया है। अनुवाद की स्पष्टता के लिये कहीं-कहीं आवश्यक शब्द या किसी शब्द की व्युत्पत्ति आदि कोष्ठक में रख दिये गये हैं। कहीं किसी अंश का भावानुवाद ही कर दिया गया है। संस्कृत के जो शब्द हिन्दी में उसी रूप में प्रचलित हैं उनका ज्यों का त्यों प्रयोग किया गया है; किन्तु जिन शब्दों का हिन्दी रूपान्तर करना आवश्यक एवं सम्भव प्रतीत हुआ है उनका प्रचलित शब्दों द्वारा अनुवाद किया गया है। इस प्रकार अनुवाद की अविकलता तथा स्पष्टता दोनों का ध्यान रक्खा गया है।

ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने के लिये अवतरणिका, व्याख्या तथा टिप्पणी का आश्रय लिया गया है। व्याख्या में पूर्वपक्ष या शङ्का को पृथक् दिखलाकर सिद्धान्त पक्ष को स्पष्ट शब्दों में रक्खा गया है, यथासम्भव उदाहरणों द्वारा विषय को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया गया है। व्याख्यात्मक टिप्पणियों में कठिन शब्दों या पारिभाषिक शब्दों के अर्थ तथा व्याख्या आदि दिखलाई गई हैं। यथावसर तर्कभाषा के प्रतिपाद्य विषय की अन्य ग्रन्थों से तुलना भी दिखाई गई है तथा विविध मन्तव्यों का भेद स्पष्ट करने का भी प्रयास किया गया है। संक्षेप में ग्रन्थ के अभिप्राय को स्पष्ट करना तथा इसकी विषयवस्तु का यथासम्भव तुलनात्मक अनुशीलन करना ही इस व्याख्या का उद्देश्य रहा है।

प्रश्न उठ सकता है कि तर्कभाषा के कई अनुवाद तथा व्याख्याओं के होते हुए इस नवीन व्याख्या की क्या आवश्यकता है। इस विषय में यही नम्र निवेदन है कि सरस्वती की पूजा विविध जन अपने-अपने भाव से किया करते हैं, उनकी दृष्टि तथा शैली में भी भेद हुआ करता है। अतः यह सम्भावना है कि यह व्याख्या तर्क-भाषा के पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

आभार-स्वीकृति का आरम्भ करते हुए प्रथमतः उन गुरुजनों के प्रति नतमस्तक होकर प्रणाम करना अपना पावन कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके चरण-रज के प्रभाव से इस गुरुतर कार्य का आरम्भ करके समापन किया जा सका है। इसमें जो भी ग्राह्य है वह उनका ही है जो अग्राह्य है वह लेखक का असफल प्रयासमात्र है।

इस व्याख्या में भारतीय दर्शन के अनेक मूल ग्रन्थों, टीकाओं तथा आधुनिक भारतीय दर्शन सम्बधी इतिहासों एवं व्याख्याओं का आधार लिया गया है। इसके पाठ-संशोधन, व्याख्या तथा भूमिका-लेखन आदि में तर्कभाषा के विविध संस्करणों ने लेखक का बड़ा उपकार किया है, जिनमें से निम्न संस्करणों से विशेष सहायता मिली है:—

१. तर्कभाषा क्रिटिकल एडिशन ऑरियण्टल बुक एजेन्सी पूना
श्री एन० एन० कुलकर्णी १९४३

२. " गोवर्धनटीका अंग्रेजी टिप्पणी तथा भूमिका सहित
श्री एम० एम० परांजपे

३. " चिन्नं भट्ट टीका अंग्रेजी भूमिका सहित
श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर १९३७

४. " अंग्रेजी अनुवाद श्री गङ्गानाथ झा

५. " तत्त्वावलोकविराजिता हिन्दी अनुवाद सहित श्री रुद्रधर झा

६. " तर्करहस्यदीपिका हिन्दी व्याख्या विभूषिता
श्री आचार्य विश्वेश्वर १९६७

७. " हिन्दी व्याख्या सहिता श्री बदरीनाथ शुक्ल १९६८

इन सभी ग्रन्थों के प्रणेता विद्वानों का यह लेखक हृदय से आभार स्वीकार करता है।

डॉ० केशवराम पाल तथा डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार ने आवश्यक पुस्तकों की व्यवस्था कराकर इस कार्य में सहयोग प्रदान किया है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। इनके अतिरिक्त जिन महानुभावों से इस कार्य में किसी प्रकार की भी सहायता मिली है उन सबके प्रति हार्दिक धन्यवाद है।

अन्त में साहित्य भण्डार के अध्यक्ष रतिराम शास्त्री को भी धन्यवाद तथा साधुवाद देना मेरा परम कर्त्तव्य है जिनकी निरन्तर प्रेरणा एवं अनुरोध से यह कार्य पूर्ण हो सका है। साथ ही प्रिय वत्स राजकिशोर शर्मा को भी साधुवाद देना आवश्यक है जिन्होंने केवल मुद्रण के कार्य में ही अथक परिश्रम नहीं किया है अपितु समय-समय पर महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर इस कार्य को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है।

ग्रन्थ को शुद्ध एवं उपयोगी बनाने का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है। तथापि साधनाभाव अथवा दृष्टिदोष के कारण कुछ कमियाँ रह जाना सम्भव ही है। स्नेहशील विद्वज्जनों के सत्परामर्श से उन कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया जायेगा। यदि इससे पाठक जन का कुछ भी उपकार हो सका तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

पञ्चम संस्करण

प्रस्तुत तर्कभाषा-व्याख्या का पाठकवृन्द ने उत्साहपूर्वक स्वागत किया है तथा अपने सत्परामर्शों से भी हमें अनुगृहीत किया है तदर्थ वे हार्दिक धन्यवाद के भाजन हैं। आशा एवं विश्वास है कि भविष्य में भी वे इसे समुचित आदर प्रदान करेंगे।

लेखक—

विषय-क्रम

प्रमुख सहायक ग्रन्थों के संकेत तथा विवरण

विषय प्रवेश

१. **भारतीयदर्शन का संक्षिप्त परिचय;** दर्शन तथा उसके समानार्थक शब्द, ६, दर्शन का उद्भव १०, भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदाय १० ।

२. **न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय;** न्यायशास्त्र के विविध नाम १४, वैशेषिक का नामकरण १७, न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास १७, नव्यन्याय २४ ।

३. **न्याय-वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थ;** प्रकरण ग्रन्थ का लक्षण २५, प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा २५, न्याय तथा वैशेषिक मतों की तुलना २६, न्याय-प्रधान प्रकरण २७, वैशेषिक-प्रधान प्रकरण २८ ।

४. **केशवमिश्र की तर्कभाषा;** केशवमिश्र का जीवन तथा समय २८, तर्कभाषा की टीकाएँ ३०, तर्कभाषा और उसका न्या०-वै० सम्प्रदाय में महत्त्व ३१ ।

उपोद्घात १–११

ग्रन्थ का प्रयोजन १, न्यायशास्त्र का प्रयोजन ३, त्रिविधा शास्त्रप्रवृत्ति ५, (लक्षण का लक्षण तथा उदाहरण ८, परीक्षा-लक्षण १०) ।

प्रमाण-लक्षण ११–५०

प्रमाण का लक्षण १२ (अयथार्थ अनुभव १३, स्मृति का लक्षण और प्रत्यभिज्ञा १६), करण का लक्षण १७, कारण का लक्षण १८, (मीमांसक के कारण-लक्षण का खण्डन २३), कारण के प्रकार तथा समवायी कारण २४, (अयुतसिद्ध की व्याख्या २७, प्रथम क्षण में द्रव्य की निर्गुणता ३५), असमवायी कारण ३६, निमित्त कारण ४२, प्रमाण-लक्षण का उपसंहार ४४, अन्यों के प्रमाण-लक्षण का खण्डन ४५, (धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य ४६), प्रमाता आदि की अपेक्षा प्रमाण की प्रकृष्टता ४६, प्रमाण के प्रकार ५० ।

प्रत्यक्ष-प्रमाण ५१–७७✓

प्रत्यक्ष-ज्ञान के तीन प्रकार के करण तथा प्रत्यक्ष की प्रक्रिया ५३, (इन्द्रियों का वस्तुप्राप्यकारित्व ५५, निर्विकल्पक ज्ञान ५३, सविकल्पक ज्ञान-स्वरूप ५७), अवान्तर व्यापार का लक्षण, त्रिविध करण-विषयक मत-भेद ५८, षड्विध सन्निकर्ष ६१, (संयोग सन्निकर्ष ६३, संयुक्तसमवाय ६४, संयुक्तसमवेतसमवाय ६६ समवाय सन्निकर्ष ६७, समवेतसमवाय सन्निकर्ष ६७, विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष ६८), प्रत्यक्ष-विषयक बौद्धमत का निराकरण ७२ ।

अनुमान-प्रमाण ७७–११९

(उपमान का लक्षण ७८), लिङ्गपरामर्श तथा व्याप्ति का निरूपण ७९, उपाधि का निरूपण ८१, अनुमिति में लिङ्गपरामर्श की अनिवार्यता ८५, अनुमान के प्रकार ९०, तीन प्रकार के हेतु ९३, (अन्वयव्यतिरेकी हेतु ९६, केवलव्यतिरेकी ९७, लक्षण भी व्यतिरेकी हेतु ९९, केवलान्वयी १०१), हेतु की पञ्चरूपता १०२, हेत्वाभास १०९, (असिद्ध हेत्वाभास १११, विरुद्ध हेत्वाभास ११५, अनैकान्तिक हेत्वाभास ११५, प्रकरणसम ११७, बाधितविषय ११८)।

उपमान-प्रमाण ११९–१२२

(उपमान का लक्षण ११९, उपमान की पृथक् प्रमाणता १२१)।

शब्द-प्रमाण १२२–१३६

शब्द-प्रमाण का लक्षण, १२२, वाक्य का लक्षण १२२, पद का लक्षण, पदप्रतीति १२६, पदों में वाक्यप्रतीति १३२, शब्द-प्रमाण का फल तथा उसका क्षेत्र १३४।

प्रमाणचतुष्ट्व १३६–१५५

अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण नहीं १३७, अभाव प्रमाण की पृथक्ता का खण्डन १४१, (इन्द्रियाँ सम्बद्ध अर्थ की ग्राहक १४३, विशेष्य-विशेषण-भाव सम्बन्ध नहीं १४६, इन्द्रियों द्वारा अभाव का ग्रहण सम्भव नहीं १५२), पूर्वपक्षी के मत का निराकरण १५३।

प्रामाण्यवाद १५५–१७४

मीमांसक, प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व १५८, मीमांसक के मत का निराकरण १६१, (ज्ञातता १६१, ज्ञातता का खण्डन १६२, प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व का निराकरण १६६), प्रामाण्यवाद के विषय में न्यायसिद्धान्त का निरूपण १६८।

प्रमेय १७५–२६३

प्रमेयों का निर्देश १७५, आत्मा १७५, (आत्मा का विभुत्व-नित्यत्व-नानात्व १८१), शरीर १८३, इन्द्रिय १८५, अर्थ १९२, [द्रव्य १९५, कार्यद्रव्यों का उत्पत्ति-विनाशक्रम २०३, परमाणु की सिद्धि २०८, गुण २१९, कर्म २४३, सामान्य २४४, विशेष २४८, समवाय २४८, (अवयवी २४९), अभाव २५०], बुद्धि २५४, मन २५९, दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःख-अपवर्ग २६०।

प्रमाण तथा प्रमेय से अन्य पदार्थ

संशय २६३, प्रयोजन २६५, दृष्टान्त २६५, सिद्धान्त २६६, अवयव २६७, तर्क २६९, निर्णय २७०, वाद २७०, जल्प २७१, वितण्डा २७१, हेत्वाभास २७२, छल २८६, जाति २८७, निग्रहस्थान २८८।

— —

प्रमुख सहायक ग्रन्थों के संकेत तथा विवरण

(अभि०)	अभिधर्मकोश;	वसुबन्धु, के० पी० रि० इन्स्टीट्यूट, पटना १९६७
(अ०)	अष्टाध्यायी;	पाणिनि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.
—	काव्यप्रकाश;	मम्मट, साहित्य भण्डार, मेरठ.
(अ० विश्वे०)	तर्कभाषा;	तर्क-रहस्य-दीपिका-हिन्दी-व्याख्या; आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज बनारस, १९६७.
(गोवर्धन)	तर्कभाषाप्रकाश	गोवर्धन मिश्र (प्रकाशित)
(गौ० का०)	तर्कभाषाप्रकाशिका;	गौरीकान्त सार्वभौम.
(चि०)	तर्कभाषाप्रकाशिका;	चिन्नं भट्ट (प्रकाशित)
(तत्त्व०)	तत्त्वसंग्रह;	शान्तरक्षित, बौद्धभारती, वाराणसी, १९६८.
(तत्व० प०)	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका;	कमलशील, बौद्धभारती, वाराणसी, १९६८.
(तर्कभाषा)	तर्कभाषा;	केशवमिश्र, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७२.
,,	तर्कभाषा;	क्रिटिकल एडिशन, ऑरियन्टल बुक एजन्सी, पूना, १९४३.
,,	तर्कभाषा;	(अंग्रेजी अनुवाद) गङ्गानाथ झा, ऑरियन्टल बुक एजन्सी, पूना, १९४९.
,,	तर्कभाषा;	(तत्त्वालोकविराजिता) श्री रुधर झा.
,,	तर्कभाषा;	(हिन्दी व्याख्या) बदरीनाथ शुक्ल. १९६८.
,,	तर्कसंग्रह;	अन्नंभट्ट, बाम्बे संस्कृत सीरीज, १९६३.
(न्या० क०)	न्यायकन्दली	श्रीधर, वाराणसेय सं० विश्व० वाराणसी १९६३.
(न्या० कु०)	न्यायकुसुमाञ्जलि;	उदयनाचार्य, चौ० सं० सीरीज. बनारस, १९५७.
(न्या० को०)	न्यायकोश;	भीमाचार्य, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९२८.
(न्या० बि०)	न्यायबिन्दु;	धर्मकीर्ति, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५.
(न्या० बि० टी०)	न्यायबिन्दुटीका;	धर्मोत्तर, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५.
(न्या०भा०)	न्यायभाष्य;	(वात्स्यायन भाष्य), वात्स्यायन, न्यायसूत्रवृत्ति सहित, चौ० सं० सीरीज बनारस, १९२०.
(न्या० म०)	न्यायमञ्जरी;	जयन्त भट्ट, चौ० सं० सीरीज बनारस, १९९२ वि.
(न्या० मु०)	न्यायमुक्तावली;	विश्वनाथ, चौ० सं० सीरीज बनारस, १९५१.
—	न्यायरत्नाकर;	(श्लोकवार्त्तिकटीका), पार्थसारथि मिश्र, चौ० सं० सीरीज बनारस, १८९८.
(न्या० वा०)	न्यायवार्त्तिक;	उद्योतकराचार्य, चौ० सं० सीरीज. बनारस, १९१५
(न्या० वा० ता०, तात्पर्य०)	न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका;	वाचस्पति मिश्र, चौ० सं० सीरीज, बनारस, १९२५.
(न्या० सू०)	न्यायसूत्र;	गौतम, चौ० सं० सीरीज, बनारस, १९२०.
(न्या० सू०)	न्यायसूत्रवृत्ति;	विश्वनाथ, चौ० सं० सीरीज, बनारस, १९२०.
(पा०)	पाणिनीयाष्टक;	(अष्टाध्यायी), पाणिनि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.
(प्र० प०)	प्रकरणपञ्चिका;	शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, १९६१.
	प्रमाणमीमांसा;	हेमचन्द्र सूरि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९३९,

	प्रमाणसमुच्चय;	दिङ्नाग, (प्रथम परिच्छेद), मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर.
(प्र० वा०)	प्रमाणवार्त्तिक;	धर्मकीर्ति, (मनोरथनन्दिवृत्तिसहित), बिहार-उड़ीसा रिसर्च जर्नल, पटना, १९६७.
(प्रशस्त०) (प्र० भा०)	प्रशस्तपादभाष्य;	प्रशस्तपादाचार्य (न्यायकन्दली सहित) वाराणसेय सं० विश्व० वाराणसी, १९६३.
(ब्र० सू०)	ब्रह्मसूत्र;	बादरायण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४.
—	ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य;	शङ्कराचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४.
—	भारतीयदर्शन;	उमेश मिश्र, सूचना-विभाग, उ० प्र० सरकार, १९६४
—	भारतीयदर्शनशास्त्र न्याय-वैशेषिक;	धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास. वाराणसी, १९५३.
—	मानमेयोदय;	नारायणभट्ट, अडयार, मद्रास, १९३३.
—	योगभाष्य;	व्यास (तत्त्ववैशारदी सहित) कलकत्ता, १९४०.
—	योगवार्त्तिक;	विज्ञानभिक्षु.
—	वेदान्त परिभाषा;	धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौ० विद्याभवन, वाराणसी, १९६३.
—	वेदान्तसार;	सदानन्द, ऑरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९२९.
(वै० सू०)	वैशेषिकसूत्र;	(प्रशस्तपाद भाष्य तथा उपस्कार भाष्य सहित) चौ० सं० सीरीज, बनारस, १९१३.
—	शाबरभाष्य;	शबर, आनन्दश्रम मुद्रणालय, पूना, १९३२.
—	शारीरक भाष्य;	(ब्रह्मसूत्र); शङ्कराचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४.
(शा० दी०)	शास्त्रदीपिका;	पार्थसारथिमिश्र, चौ० स० सीरीज, बनारस, १९१३.
(श्लो० वा०)	श्लोकवार्त्तिक;	कुमारिलभट्ट (न्यायरत्नाकर सहित) चौ० सं० सीरीज, बनारस, १८९८.
—	सर्वदर्शनसंग्रह;	माधव, भण्डारकर ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट, पूना. १९५१.
(सा० का०)	सांख्यकारिका;	ईश्वरकृष्ण, } ऑरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९६७.
(सां० त०)	साँख्यतत्त्वकौमुदी;	वाचस्पति मिश्र } ऑरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९६७.
(HIL)	History of Indian Logic,	S. C. Vidyabhusana, Calcutta University, 1921.
(HIP)	A History of Indian Philosophy.	S. N. Dass Gupta, Cambridge Univrrsity press, 1932.
—	Indian Logic and Atomism,	A. B. Keith. Oxford, 1921.
(PIL)	A primer of Indian Logic,	S. Kuppuswami Shastri, Mylapore Madras, 1961.

अन्य संकेत—का० (कारिका), टि० (टिप्पणी), द्र० (द्रष्टव्य), न्या०-वै० (न्याय-वैशेषिक), मि० मिलाइये, श्लो० (श्लोक)।

———

विषय-प्रवेश

१. भारतीय दर्शन का संक्षिप्त परिचय

(क) दर्शन तथा उसके समानार्थक शब्द

पाश्चात्य वाङ्मय के 'फिलासफी' शब्द के स्थान पर हिन्दी भाषा में दर्शन शब्द का प्रयोग किया जाता है दर्शन शब्द √दृश् (देखना) धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है देखना। केवल चक्षु इन्द्रिय से देखना ही नहीं अपितु तत्त्व का साक्षात्कार भी दर्शन कहलाता है, जैसा कि 'आत्मदर्शन' आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है। अतः दर्शन शब्द वाङ्मय के उस विशेष अङ्ग के लिये रूढ हो गया है जिसमें जीवन और जगत् का विवेचन किया जाता है। किन्तु इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नवीन ही है। प्राचीन काल में इस प्रकार के तत्त्व-विवेचन के लिये 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। मीमांसा शब्द का अर्थ है मनन या पूजित विचार। इसी आधार पर पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा का नामकरण हुआ होगा। इस प्रकार के तत्त्व-विवेचन के लिये 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन है कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चार विद्याएँ गिनाई गई हैं आन्वीक्षिकी; त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति। उनमें आन्वीक्षिकी का विवरण देते हुए सांख्य, और लोकायत को गिनाया गया है। इससे विदित होता है उस समय 'दर्शन' शब्द के पर्याय रूप में आन्वीक्षिकी शब्द प्रचलित रहा होगा। मनुस्मृति (७·४३) में आन्वीक्षिकी को आत्मविद्या कहा गया है। कामन्दक (६ ७) में इसे आत्मविज्ञान कहा गया है इससे यह भी स्पष्ट है कि दर्शन के लिये प्राचीन काल में आत्मविद्या या आत्मविज्ञान शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। वात्स्यायन भाष्य (१·१·१) में भी इसी अर्थ में अध्यात्मविद्या शब्द का प्रयोग किया गया है।

दर्शन जीवन की व्याख्या है। साथ ही जीवन को सुखी बनाने का उपाय भी प्रस्तुत करता है। दर्शनशात्र का जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्ध है। जीवन-सम्बन्धी किसी ज्ञान-विज्ञान को इससे पृथक् नहीं रक्खा जा सकता। इसीलिये आधुनिक युग में भी इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति तथा विज्ञान आदि से दर्शन का सम्बन्ध दिखलाया जाता है। मनोविज्ञान तथा धर्मशास्त्र आदि से दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय दर्शन के तो मनोविज्ञान, साधना-मार्ग तथा तर्कशास्त्र सभी अभिन्न अङ्ग रहे हैं। यहां दर्शन के भीतर ही भौतिक विज्ञान का प्रारम्भिक रूप भी दृष्टि-गोचर होता है। शरीर-विज्ञान (आयुर्वेद) के साथ भी दर्शन का सम्बन्ध रहा है। वस्तुतः सभी भारतीय विद्याओं के गम्भीर विवेचन में दार्शनिक विचारों का पुट मिलता है। यहां व्याकरण तथा साहित्य भी दार्शनिक मन्तव्यों से परिपूर्ण हैं।

दर्शन समस्त मानव जाति की सामान्य सम्पत्ति है। किसी एक देश या जाति की निजी सम्पत्ति नहीं। हां, मानव की विभिन्न देशगत, समाजगत, मानसिक एवं

राजनैतिक परिस्थितियों के कारण विभिन्न देशों में दर्शनशास्त्र का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से विकसित हुआ है। इसी आधार पर भारतीय दर्शन, यूनानी दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन आदि नाम प्रचलित हो गये हैं।

(ख) दर्शन का उद्भव

प्रायः विद्वान् संशय या जिज्ञासा से दर्शन का उद्भव मानते हैं। तथ्य यह प्रतीत होता है कि जब मानव के लिये किसी कर्त्तव्य का विधान किया गया होगा, सुख-प्राप्ति और दुःखनाश के उपाय बतलाये गये होंगे तब अपने स्वरूप और जगत् के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी। उसी से दर्शन का उद्भव हुआ होगा। कम से कम भारतीय दर्शन के मूल में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। जिज्ञासा के मूल में भी व्यक्ति का सुख-प्राप्ति और दुःखनाश का उद्देश्य ही निहित होता है।

दर्शन का उद्भव कब हुआ और प्रथमतः कहाँ हुआ? यह कहना कठिन है। जहाँ तक भारतीय दर्शन का सम्बन्ध है, विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद में भारतीय दार्शनिक प्रवृत्ति का बीज उपलब्ध होता है। वहाँ पुरुषसूक्त आदि में दार्शनिक प्रवृत्ति के स्पष्ट संकेत हैं। वेद में बीज रूप से जो दार्शनिक तत्त्व विद्यमान है उसका उपनिषदों में विकास हुआ है। उपनिषदों के अनुशीलन से विदित होता है कि वे दार्शनिक भावों से परिपूर्ण हैं। फिर भी उपनिषदों का विवेचन भाव-प्रधान है, वहाँ दर्शन का व्यवस्थित विवेचन नहीं उपलब्ध होता। हाँ, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों के आधार पर कालान्तर में अनेक प्रस्थानों में भारतीय दर्शन का विकास हुआ है। जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड-विषयक वाक्यों की संगति लगाने के लिये पूर्वमीमांसा दर्शन का उद्भव हुआ उसी प्रकार उपनिषदों के सिद्धान्त की व्यवस्थित व्याख्या करने के लिसे उत्तरमीमांसा या वेदान्त का उद्भव हुआ। सांख्य-योग भी किसी न किसी रूप गें उपनिषदों पर आश्रित दर्शन है। यद्यपि न्याय तथा वैशेषिक का ब्राह्मण या उपनिषदों से विशेष सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता तथापि इनका मूलस्रोत भी उन्हें ही माना जाता है। विद्वानों का यह भी विचार है कि चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन भी उपनिषद् की विचारपरम्परा से अनुप्राणित हैं।

(ग) भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदाय

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का प्रतिपादन करने से पूर्व भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। भारतीय दर्शन के इतिहास-लेखकों ने सभी भारतीय दर्शनों को दो वर्गों में रक्खा है-आस्तिक तथा नास्तिक। उन्होंने चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन के नाम स अभिहित किया है तथा शेष दर्शनों को आस्तिक नाम से। यहाँ आस्तिक उन्हें कहा गया है जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। उनसे भिन्न को नास्तिक कहा गया है। किन्तु आस्तिक तथा नास्तिक शब्द अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं

अतः इन दोनों वर्गों के लिये वैदिक तथा अवैदिक शब्द ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं।

अवैदिक दर्शनों में पहिले चार्वाक (लोकायत) का नाम लिया जाता है। यह एक भौतिकवादी दर्शन है। व्यङ्ग्य या तथ्य के रूप में भी 'यावज्जीवं सुखं जीवेत्' इसका उद्देश्य बताया जाता है। यह एक प्राचीन दर्शन है। इसके आचार्य बृहस्पति और चार्वाक कहे जाते हैं। यह केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है, आत्मा, परमात्मा तथा परलोक को स्वीकार नहीं करता : किन्तु सुशिक्षित चार्वाक सामाजिक नियमों को महत्त्व देता ही है। चार्वाक के सिद्धान्तों का प्रतिपादक मूल ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। दर्शन ग्रन्थों में यत्र-तत्र इसके मतों की चर्चा है। सर्वदर्शनसंग्रह में चार्वाक के सिद्धान्तों का संकलन किया गया है। तर्कभाषा में चार्वाक का उल्लेख नहीं किया गया। केवल यह माना जा सकता है कि देहेन्द्रियादि से व्यतिरिक्त आत्मा की सिद्धि करते हुए चार्वाक के मत का ही निराकरण किया गया है।

वेद-बाह्य दर्शनों में दूसरा बौद्ध दर्शन है। यद्यपि बौद्धों के पालि त्रिपिटक में भी दार्शनिक मन्तव्य उपलब्ध होते हैं तथापि इस दर्शन का रूप बाद में व्यवस्थित हुआ है। बौद्ध दर्शन के अनेक प्रस्थान हैं जिनमें थेरावाद को सबसे प्राचीन कहा जाता है। आधुनिक लेखकों ने प्रायः चार सम्प्रदायों का निरूपण किया है वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी (योगाचार) तथा शून्यवादी (माध्यमिक)। प्राचीन बौद्ध दार्शनिकों में नागार्जुन का नाम उल्लेखनीय है। इनका समय ईसा की द्वितीय शती के लगभग माना जाता है। वादविद्या के सन्दर्भ में वसुबन्धु का नाम सामने उपस्थित होता है। आगे चलकर बौद्धन्याय (तर्कशास्त्र) का विशेष रूप से विकास हुआ है। दिङ्नाग (५म शती) को बौद्धन्याय का सूत्रधार कहा जा सकता है। इनका 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रन्थ, जो आज अपने मूल रूप में पूर्णतया उपलब्ध नहीं है, भारतीय दर्शन शास्त्र की अमूल्य निधि है। धर्मकीर्ति (सप्तम शती) बौद्धन्याय के प्रमुख आचार्य हैं, उनके प्रमाणवार्त्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु आदि ग्रन्थ आज बौद्ध-न्याय के ज्ञान के प्रमुख आधार हैं। इनके अनन्तर बौद्धन्याय-परम्परा में शान्तरक्षित (८ म शती) का तत्त्वसंग्रह कमलशील (८ म शती) की तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका, रत्नकीर्ति (११ वी शती) तथा ज्ञानश्री मित्र (११ वीं शती) के बौद्ध-दर्शन-विषयक निबन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। केशवमिश्र की तर्कभाषा में कई स्थलों पर बौद्ध के मन्तव्यों की समीक्षा की गई है, जैसे बौद्ध सविकल्पक को प्रत्यक्ष नहीं मानता, सामान्य की भावात्मक सत्ता का निषेध करता है, अवयवों से भिन्न अवयवी की सत्ता को स्वीकार नहीं करता।

अवैदिक दर्शनों में तीसरा जैन दर्शन है। वह भी अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इसके प्राचीन आचार्यों में उमास्वामी (प्रथम शती) का नाम आदर से लिया जाता है। मध्ययुग में जैन-न्याय का भी पर्याप्त विकास हुआ है। सिद्धसेन दिवाकर (५ म शती) को जैन-न्याय का सूत्रधार कहा जा सकता है। अकलङ्कदेव (८ म शती) तथा

विद्यानन्द (८ म शती का अन्तिम चरण) जैन-न्याय को समृद्ध बनाने वाले हैं। प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हेमचन्द्र सूरि (१२ वीं शती) के प्रमाणमीमांसा'आदि ग्रन्थों तथा मल्लिषेण की स्याद्वादमञ्जरी में जैन दर्शन का स्पष्ट विवेचन उपलब्ध होता है। जैन दर्शन में सूक्ष्म समस्याओं पर गहन विचार किया गया है। उसका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त एक मौलिक सिद्धान्त है। उसका अभिप्राय है विविध दृष्टियों से वस्तु के विविध रूप सत्य हैं। तर्कभाषा में जैन-मतों का कहीं उल्लेख नहीं किया गया। आत्मा मध्यम परिमाण वाला है, केवल इस मत के निराकरण के सन्दर्भ में टीकाकारों ने जैन दर्शन का नाम लिया है।

वैदिक दर्शनों को तीन वर्गों में रक्खा जाता है—

१. पूर्वमीमांसा—उत्तरमीमांसा
२. सांख्य—योग
३. न्याय—वैशेषिक

पूर्वमीमांसा के सूत्रकार जैमिनि मुनि हैं। उनका समय विवादास्पद है। वह तृतीय शती ई० पू० से लेकर ईस्वी शती के आरम्भ पर्यन्त माना जाता है। मीमांसा सूत्र पर शबर स्वामी का भाष्य है। यह मीमांसा सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है। शबर स्वामी का समय भी विवादास्पद है। पूर्वमीमांसा का मुख्य विषय कर्मकाण्ड सम्बन्धी ब्राह्मण वाक्यों की संगति लगाना है। किन्तु ७ म शती ई० से यह सम्प्रदाय विशुद्ध दार्शनिक विवेचन की ओर भी प्रवृत्त हो गया है। इसका श्रेय कुमारिल भट्ट तथा प्रप्राकर मिश्र (गुरु) को है। इन दोनों का अनेक विषयों में मत-भेद है। इनके मत क्रमशः भाट्टमत तथा गुरुमत के नाम से प्रसिद्ध है। कुमारिल का श्लोकवार्त्तिक, जो शाबरभाष्य के प्रथम (तर्क) पाद पर लिखा गया है, भाट्टसम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है। प्रभाकर के अनुयायी शालिकनाथ की प्रकरणपञ्चिका गुरुमत के ज्ञान का मुख्य स्रोत है। भाट्टमत में पार्थसारथि मिश्र की शास्त्रदीपिका भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उत्तरकालीन 'मानमेयोदय' नामक ग्रन्थ में भाट्ट-मतों (तथा गुरुमतों) की अन्य दर्शनों के मन्तव्यों से तुलना करते हुए विवेचना की गई है।

मीमांसा-सम्प्रदाय के कुछ विलक्षण मन्तव्य हैं, जैसे भाट्ट सम्प्रदाय का ज्ञातानुमेयवाद (ज्ञातता द्वारा ज्ञान का अनुमान मानना) तथा प्रभाकर का अख्यातिवाद (भ्रान्तिविषयक मन्तव्य)। तर्कभाषा में मीमांसा के प्रमाणलक्षण ['अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' का खण्डन किया गया है तथा इस सम्बन्ध में धारावाहिक ज्ञान के विषय में मीमांसा का मत भी दिखलाया गया है। वहाँ मीमांसा के स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन करते हुए भाट्टमीमांसक के ज्ञातता सिद्धान्त का निराकरण किया गया है तथा मीमांसा के अभिमत अर्थापत्ति और अभाव की पृथक्प्रमाणता का भी। अन्य भी कई सन्दर्भों (जैसे शब्द की नित्यता आदि) में मीमांसा की ओर संकेत है, जिसका इस व्याख्या में यथास्थान उल्लेख किया गया है।

उत्तरमीमांसा या वेदान्त का मूल ग्रन्थ बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र है। ये सूत्र मीमांसा सूत्रों के समकालीन ही माने जाते हैं। ब्रह्मसूत्रों पर कोई प्राचीन भाष्य उपलब्ध नहीं है। शङ्कराचार्य (८ म शती) का भाष्य (शारीरक भाष्य) ही आज विद्वानों का आदर-भाजन है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों की अद्वैतवादी व्याख्या की है। इस भाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं तथा अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। वाचस्पति मिश्र (नवम शती) की 'भामती' टीका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। श्री हर्ष (१२ वीं शती) का 'खण्डनखण्डखाद्य'; चित्सुखाचार्य (१३ वीं शती) की तत्त्वदीपिका या चित्सुखी, विद्यारण्य (१४ वी शती) की पञ्चदशी, विवरणप्रमेयसंग्रह तथा जीवन्मुक्तिविवेक; सदानन्द (१६ वीं शती) का वेदान्तसार तथा मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थों में अद्वैत वेदान्त के मन्तव्यों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। धर्मराज-अध्वरीन्द्र की वेदान्तपरिभाषा अद्वैतवेदान्त सम्बन्धी तर्कशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त वेदान्त में रामानुज (११वीं शती) का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क (१२वीं शती) का द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य (१३वीं शती) का द्वैत तथा वल्लभाचार्य (१५ वीं शती) का शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय भी हैं। ये सम्प्रदाय वैष्णव वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। वेदान्त के सभी सम्प्रदाय प्रस्थानत्रयी का आश्रय लेते हैं। उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के तीनों भारतीय दर्शन में प्रस्थानत्रयी नाम से प्रसिद्ध हैं। अद्वैतवाद के अनुसार एकमात्र ब्रह्म की पारमार्थिकी सत्ता है, जगत् अविद्याकल्पित ही है। तर्कभाषा में 'अर्थ' की व्याख्या के सन्दर्भ में ब्रह्म व्यतिरिक्त अर्थ नहीं इस मत की समीक्षा की गई है। टीकाकारों ने आत्मा की अनेकता (प्रतिशरीरं भिन्न) आदि के प्रसङ्ग में भी वेदान्त का नाम लिया है।

सांख्य संप्रदाय अत्यन्त प्राचीन है। इसके प्रवर्तक कपिल मुनि माने जाते हैं। आज जो सांख्यसूत्र उपलब्ध हैं कुछ विद्वानों के अनुसार वे कपिलकृत नहीं अपितु उत्तर काल की रचना हैं। कपिल के पश्चात् आसुरि, पञ्चशिख आदि अनेक आचार्य हुए हैं जिसके मतों का उल्लेख मिलता है; किन्तु उनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। विन्ध्यवासी के नाम का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। यह विवाद का विषय है कि विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती है या उत्तरवर्ती। ईश्वरकृष्ण की साख्यकारिका आज सांख्य का विशेष प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। ईश्वरकृष्ण का समय तृतीय शताब्दी से षष्ठ शताब्दी तक दोलायमान है। सांख्यकारिका की अनेक टीकाएँ हुई हैं, जैसे माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य, जयमङ्गला, सांख्यतत्त्वकौमुदी तथा सांख्यचन्द्रिका आदि। इनमें वाचस्पतिमिश्र (९ म शती) की सांख्यतत्त्वकौमुदी आज विशेष-प्रचलित है। वाचस्पति मिश्र द्वारा व्याख्यात सिद्धान्त ही सांख्य के सिद्धान्त समझे जाते हैं। दूसरी ओर सांख्यसूत्रों पर अनिरुद्धवृत्ति तथा विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यप्रवचन भाष्य नामक व्याख्याएँ हैं। विज्ञानभिक्षु (१६ वीं शती) समन्वय दृष्टि वाले विद्वान् थे। उन्होंने सांख्य के सिद्धान्तों की समन्वयात्मक व्याख्या की है। किन्तु विद्व-

त्समाज में उनकी व्याख्या को प्रामाणिक नहीं माना जाता (मि० उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन)।

तर्कभाषा में कहीं नामोल्लेख करके सांख्य मतों की चर्चा नहीं की गई। केवल कुछ सन्दर्भों में टीकाकारों ने सांख्य का नाम लिया है जैसे 'बुद्धि' (=ज्ञान) के लक्षण आदि के सन्दर्भ में।

योग—भारतीय साधनामार्ग में योग का स्थान प्राचीन काल से रहा है। वेदमतावलम्बियों के समान बौद्ध तथा जैन मतों में भी योग का निरूपण किया गया है। ६ वैदिक दर्शनों में जो योग सम्प्रदाय गिना जाता है वह **पातञ्जल योग** है। इसका मूलग्रन्थ पतञ्जलिकृत योगसूत्र है। कुछ विद्वानों का कथन है कि योगसूत्रों पर विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है अतः योगसूत्र का समय विज्ञानवाद के पश्चात् ही होना चाहिये। किन्तु दूसरे विद्वान् योगसूत्र की प्राचीनता में विश्वास करते हैं। योगसूत्रों पर व्यासभाष्य है जो योग का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ समझा जाता है। व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' तथा विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्त्तिक' दो प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। इसके अतिरिक्त योगसूत्रों पर भोजवृत्ति, मणिप्रभा आदि कतिपय स्वतन्त्र व्याख्याएँ भी उपलब्ध हैं।

योग का मुख्य विषय योग (चित्तवृत्तिनिरोध या समाधि) के स्वरूप तथा साधनों का प्रतिपादन करता है। जहाँ तक दार्शनिक मन्तव्यों का प्रश्न है, यह दर्शन सांख्य के ही सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। यह केवल ईश्वर की सत्ता को अधिक दिखलाता है। इसीलिये सेश्वर सांख्य के नाम से प्रसिद्ध है।

तर्कभाषा में योगसूत्र या योगभाष्य आदि का तो कहीं उल्लेख नहीं किया गया। हाँ, यहाँ शब्द की अनित्यता के सन्दर्भ में योगी की सत्ता सिद्ध की गई है, किञ्च, अपवर्ग की व्याख्या करते हुए ध्यान तथा 'योगर्द्धि' का भी उल्लेख किया गया है।

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का निरूपण आगे विस्तारपूर्वक किया जा रहा है।

२. न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय

(क) न्यायशास्त्र के विविध नाम

'न्याय' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है तथापि न्यायविद्या के अर्थ में न्याय शब्द का प्रयोग बाद में ही हुआ होगा। पाणिनि ने 'अध्यायन्यायोद्याव० (अ० ३.३,१२२) सूत्र में संज्ञावाची न्याय शब्द का निपातन किया है किन्तु वहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि न्याय शब्द किसकी संज्ञा थी। दूसरे स्थल पर पाणिनि ने एक विशेष अर्थ में निपूर्वक √इण् धातु से न्याय शब्द की निष्पत्ति दिखलाई है (परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः ३.३.३७)। तदनुसार 'अभ्रेष' अर्थ में न्याय शब्द निष्पन्न होता है। काशिका के अनुसार अभ्रेष शब्द का अर्थ है पदार्थों का अतिक्रमण न करना, जैसे प्राप्त हो वैसा करना।[1] इस प्रकार न्याय=औचित्य। संभवतः यही अर्थ आगे इस रूप में विकसित हुआ जिससे न्याय शब्द का न्यायविद्या के अर्थ में प्रयोग होने लगा। दूसरी ओर लोक में न्याय शब्द का प्रयोग पद्धति या नियम के

---

१. पदार्थानामनपचारो यथा प्राप्तकरणमभ्रेषः, काशिका ३.३.३७।

अर्थ में दृष्टिगोचर होता है जैसे काकतालीयन्याय, सूचिकटाहन्याय इत्यादि । संभवतः इसी आधार पर उन सामान्य नियमों को भी न्याय कहा जाने लगा जिनका ब्राह्मण वाक्यों के अर्थ-निर्णय के लिये पूर्व-मीमांसा में अनुसन्धान किया गया था । इसीलिये प्राचीन काल में मीमांसा के लिये 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा । बुहलर ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि आपस्तम्ब सूत्र (११·४८·१३ और १६·६·१४·१३) में न्याय शब्द का प्रयोग पूर्व मीमांसा के अर्थ में ही हुआ है (मि०, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, भारतीय दर्शन०, पृ० ६६)। उत्तरकाल में भी पूर्वमीमांसा के लिये न्याय शब्द का प्रयोग होता ही रहा । पूर्वमीमांसा के अनेक ग्रन्थों का नाम 'न्याय' शब्द से विशिष्ट हैं, जैसे न्यायकणिका, न्यायरत्नमाला, न्यायमालाविस्तर, मीमांसान्यायप्रकाश इत्यादि ।

न्यायविद्या के लिये भी प्राचीनकाल से 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता था, यह वृत्तिकार विश्वनाथ ने श्रुति, स्मृति तथा पुराण के आधार पर बतलाया है (न्या० वृ०१·१·१)। 'न्यायसूत्र' नाम इस बात का द्योतक है कि न्यायसूत्र के प्रणेता के समय 'न्याय' शब्द न्यायविद्या के लिये प्रसिद्ध हो गया था । 'न्याय' का पारिभाषिक अर्थ क्या था ? यह वात्स्यायन ने स्पष्ट किया है । तदनुसार न्याय शब्द का अर्थ है प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करना—प्रामाणैरर्थपरीक्षण न्यायः (न्या० भा० १·१·१)। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने यह भी स्पष्ट किया है कि न्यायविद्या विशेष रूप से अनुमान का विवेचन करती है—प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा । तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी-न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् (न्या० भा० १·१·१); अर्थात् प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित अनुमान होता है वही अन्वीक्षा कहलाता है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा ईक्षित का अन्वीक्षण (=पश्चात् मनन) होता है । उस अन्वीक्षा से जो प्रवृत्त होती है वह आन्वीक्षिकी न्यायविद्या या न्यायशास्त्र हैं । दूसरे स्थल पर वात्स्यायन ने बतलाया है कि प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव परम न्याय है 'सोऽयं परमो न्याय इति' (न्या० भा० १·१·१) इस प्रकार न्याय शब्द का प्रयोग अनुमान तथा न्यायविद्या या तर्कशास्त्र आदि के लिये किया गया है । न्याय शब्द का यह पारिभाषिक अर्थ है । किन्तु पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी न्याय शब्द अपने सामान्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता रहा तथा मीमांसा के लिये भी इसका प्रयोग प्रचलित रहा ।

आन्वीक्षिकी—वात्स्यायन के उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि आन्वीक्षिकी शब्द का न्यायविद्या के अर्थ में प्रयोग किया जाता था । जैसे कि ऊपर दिखलाया गया है, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु वहाँ इसका विवरण सांख्य योग तथा लोकायत किया गया है अतः वहाँ यह 'दर्शन' का पर्याय प्रतीत होता है । इसी प्रकार मनुस्मृति में भी आत्मविद्या को आन्वीक्षिकी कहा गया है अतः वहाँ भी यह सामान्य दर्शन का वाचक है । इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि आन्वीक्षिकी शब्द कब से अनुमान विद्या के लिये प्रयुक्त

हुआ होगा। इतना तो निश्चित है कि वात्स्यायन के समय यह शब्द अनुमान-विद्या के लिये प्रयुक्त होता था।

तर्कशास्त्र-तर्कविद्या—न्यायविद्या या अनुमान विद्या के लिये तर्कविद्या या तर्कशास्त्र शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। प्रश्न यह है कि यह प्रयोग कब आरम्भ हुआ। तर्क शब्द का प्रयोग तो पर्याप्त प्राचीन है। कठोपनिषद् (१·२·९) में कहा गया है 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'। इसी प्रकार 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (मनु), 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्रह्मसूत्र २·१·११) इत्यादि। गौतम के न्यायसूत्रों में भी तर्क को एक पृथक् पदार्थ के रूप में दिखलाया गया है और उसका लक्षण भी किया गया है। बौद्ध पालि साहित्य के उदान तथा दिग्घनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में, जिनका समय ५००ई० पू० के लगभग माना जाता है, तक्क, वीमंसा शब्दों का प्रयोग मिलता है। आगे चलकर न्यायभाष्य में तर्क की स्पष्ट व्याख्या है तथा तर्क को प्रमाणों का अनुग्राहक कहा गया है—प्रमाणानामनुग्राहकः (न्या० भा० १·१·१)। किन्तु इन सभी स्थलों में 'तर्क' शब्द का अर्थ ऊहा=ऊहापोह प्रतीत होता है। प्रश्न तो यह है कि तर्क शब्द न्याय-विद्या के अर्थ में कब प्रचलित हुआ। विशेष प्रमाणों के अभाव में इसका उत्तर देना कठिन ही है। फिर भी कुछ ऊहापोह किया जा सकता है। विष्णुपुराण में कहा गया है—मीमांसान्यायतर्काश्च उपाङ्गाः परिकीर्तिताः (उद्धृत न्या० वृ० १·१·१)। यहाँ तर्क को उपाङ्ग बतलाया गया है और मीमांसा तथा न्याय के साथ रक्खा गया है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यहाँ तर्क शब्द तर्कविद्या के लिये आया है। किन्तु यहाँ न्याय को पृथक् कहा गया है अतः प्रश्न यह है कि यदि तर्क शब्द न्यायविद्या के लिये आया है तो न्याय का पृथक् निर्देश क्यों किया गया है। इस समस्या का समाधान यह प्रतीत होता है कि यहाँ न्याय शब्द आत्मविद्या का वाचक है तथा 'तर्क' शब्द केवल प्रमाण-विद्या या अनुमान विद्या का वाचक है। गोवलीवर्दन्याय से यही अर्थ संगत प्रतीत होता है। इस आधार पर येन केन प्रकारेण यह कहा जा सकता है कि विष्णुपुराण के इस स्थल में तर्कशब्द तर्कविद्या के लिये आया है। किन्तु विष्णुपुराण का समय भी विवादास्पद ही है। अतः तर्क शब्द का तर्कविद्या के अर्थ में प्रयोग कब प्रचलित हुआ? यह निश्चित करना सरल नहीं है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मध्यकाल में न्यायविद्या के लिये हेतुविद्या या तर्कविद्या आदि शब्दों का प्रयोग प्रचलित हो गया था। ऐसा मानने के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं। केशव मिश्र की तर्कभाषा से पूर्व ही 'तर्क' शब्द से विशिष्ट नाम वाले कतिपय ग्रन्थ लिखे गये थे; जैसे बौद्ध आचार्य मोक्षाकर गुप्त (११वीं शती) की तर्कभाषा, वरदराज (१२वीं शती) की तार्किक-रक्षा आदि। केशव मिश्र के पश्चात् तो ऐसे अनेक ग्रन्थ मिलते हैं; जैसे अन्नं भट्ट (१७वीं शती) तर्कसंग्रह, जगदीश तर्कालङ्कार (१७वीं शती) तर्कामृत, लौगाक्षि-भास्कर (१७वीं शती) तर्ककौमुदी तथा यशोविजय (१७वीं शती (जैन) तर्कभाषा इत्यादि। विश्वनाथ (१७वीं शती) ने तो स्पष्टतः यह निरूपण किया है कि आन्वी-

क्षिकी को न्याय या तर्क आदि शब्दों से भी अभिहित किया जाता था–सेयमान्वीक्षिकी न्यायतर्कादिशब्दैरपि व्यवह्रियते (न्या० वृ० १.१ १।

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि आन्वीक्षिकी=न्यायविद्या या न्यायशास्त्र आदि के अन्तर्गत अध्यात्मविद्या, वादविद्या तथा प्रमाण-विवेचन आदि सभी विषयों का समावेश है, यह भाष्यकार के अध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात्' यहाँ 'मात्र' शब्द के प्रयोग से ही प्रकट होता है। गौतम के नामों के आधार पर इस दर्शन की गौतमीय दर्शन आदि भी कहा जाता है, कहीं-कहीं इसके लिये 'योग' शब्द का प्रयोग भी मिलता है।

(ख) वैशेषिक का नामकरण

चीनी परम्परा के अनुसार इसका वैशेषिक नाम पड़ने का कारण यह है कि यह सांख्य की अपेक्षा विशिष्ट (=विशेष) है। तथ्य यह प्रतीत होता है कि 'विशेष' नामक एक विलक्षण पदार्थ को मानने के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक हुआ है। (विशेष पदार्थ के विषय में द्रष्टव्य, तर्कभाषा पृ० ३१)। यह दर्शन औलूक्य दर्शन भी कहलाता है (एच० उई दशपदार्थशास्त्र, पृ० ६)। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि बौद्धों की जनश्रुति के अनुसार इस दर्शन के प्रणेता का नाम उलूक था। जैन लेखक राजशेखर ने न्याय-कन्दली की टीका में एक जनश्रुति के आधार पर बतलाया है कि कणाद मुनि की तपस्या से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उलूक के रूप में प्रकट होकर कणाद को द्रव्य आदि पदार्थों का उपदेश दिया था। इसी आधार पर इस दर्शन का नान औलूक्य दर्शन पड़ा। कणाद के विविध नामों के आधार पर इस दर्शन को कणाद-दर्शन आदि भी कहा जाता है।

(ग) न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास

न्याय तथा वैशेषिक दोनों प्रस्थानों का स्वतन्त्र रूप से उद्भव तथा विकास हुआ है। फिर भी दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। दोनों में जो सैद्धान्तिक समानता या असमानता है उसका आगे वर्णन किया जायेगा। यहाँ तो यह विचार करना है कि दोनों में ऐतिहासिक दृष्टि से क्या सम्बन्ध रहा है। यह माना जाता है कि ये दोनों माहेश्वर सम्प्रदाय हैं। इन दोनों के प्रवर्तक दोनों ऋषि शिव के अवतारभूत सोमशर्मा नामक गुरु के शिष्य थे। (भण्डारकर, तर्कभाषा-इन्ट्रोडक्शन पृ० १०)। महाभारत के एक सन्दर्भ से भी यह प्रतीत होता है कि न्याय वैशेषिक का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ न्यायविद् को संयोग-समवाय आदि का ज्ञाता कहा गया है। (विद्याभूषण H I L पृ० ४३)। चरक संहिता में जो न्याय और वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण किया गया है उससे विदित होता है कि उस समय न्याय-वैशेषिक में भेद नहीं माना जाता था। बौद्ध परम्परा में तो पञ्चम शताब्दी तक न्याय और वैशेषिक को पृथक्-पृथक् नहीं माना जाता रहा। न्यायसूत्र तथा वैशेषिक सूत्र के अनुशीलन से विदित होता है कि दोनों में कुछ सूत्र समान ही हैं (एच० उई० दशपदार्थसंग्रह, पृ० १६)। इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों का आरम्भ से ही घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। आगे चलकर भी दोनों का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है वात्स्यायन ने वैशेषिक के समान ही मन

को इन्द्रिय बतलाया है (न्या० भा० १.१.४)। साथ ही उन्होंने द्रव्य-गुण कर्म सामान्य विशेष आदि का भी प्रमेय के रूप में स्मरण किया है (न्या० भा० १. १. ९)। (विशेष द्रष्टव्य, भारतीय दर्शनशास्त्र)। उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों में तो कतिपय वैशेषिक मन्तव्यों का स्वकीय सिद्धान्तों के समान ही निरूपण किया गया है। उदयन जैसे आचार्य ने दोनों सम्प्रदायों का समान रूप में ही विवेचन किया है। आगे चलकर तो दोनों सम्प्रदायों का एक सम्मिलित रूप विकसित हो गया जो विशेषकर न्या०-वै० के प्रकरण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है जिसका आगे विवेचन किया जायेगा। यहाँ न्या० वै० के विशिष्ट आचार्यों तथा ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है:—

(१) कणाद—वैशेषिक सूत्र के प्रणेता

वैशेषिक सम्प्रदाय का प्रारम्भ न्याय सम्प्रदाय से पहले माना जाता है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्रों को भी न्यायसूत्र से प्राचीन माना जाता है। विद्वानों का विचार है कि वैशेषिक सूत्रों का प्रभाव चरक संहिता पर भी परिलक्षित होता है। अतः इनका समय चरक से पूर्व ही है। वैशेषिक सूत्रों के प्रणेता कणाद मुनि हैं। इनका कणभुक्, कणभक्ष आदि नामों से भी उल्लेख किया जाता है। इनका कणाद नाम क्यों पड़ा? इस विषय में अनेक प्रकार के अनुमान लगाये गये हैं। यह भी कहा जाता है कि इनका नाम औलूक्य भी था इनके व्यक्तित्व तथा जीवन के विषय में कुछ जनश्रुतियों के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है।

कणाद के वैशेषिक सूत्र में १० अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं। 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इस सूत्र से शास्त्र का आरम्भ किया गया है तथा तृतीय सूत्र में द्रव्य आदि ६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की सिद्धि बतलाई गई है। फिर ६ पदार्थों का यथायोग्य विभाजन करते हुए उनका विवेचन किया गया है। तर्कभाषा में कई स्थलों पर वैशेषिक सूत्रों को उद्धृत किया गया है, जैसे शब्द का वर्णन करते हुए यथोक्तम्—'संयोगात्, विभागात् शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः' (वै० सू० २.२.३१)। तर्कभाषाकार ने कणाद या वैशेषिक सूत्र का नामोल्लेख नहीं किया।

(२) गौतम—न्यायसूत्र के प्रणेता

न्यायसूत्र के कर्ता गौतम (या गोतम) मुनि कहे जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि गोतम के ही अक्षपाद तथा अक्षचरण आदि नाम भी हैं। दूसरे विद्वान् मानते हैं कि गौतम तथा अक्षपाद-भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। सतीशचन्द्र विद्याभूषण के अनुसार न्यायसूत्र का एक अंश गौतम ने लिखा और दूसरा अंश अक्षपाद ने। दास गुप्ता ने भी वर्तमान न्यायदर्शन के दो अंश स्वीकार किये हैं एक अध्यात्म विद्या और दूसरा तर्क विद्या (H I P पृ० २७८)। जैसे कि ऊपर उल्लेख किया गया है वात्स्यायन भाष्य से यह स्पष्ट है कि आन्वीक्षिकी या न्यायविद्या के दो अङ्ग हैं अध्यात्मविद्या तथा प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा (तेषां पृथक्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात्, यथोपनिषदः, न्या० भा० १.१.१)। इन दो अङ्गों को आधार

बनाकर गौतम तथा अक्षपाद को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हुए आ० विश्वेश्वर ने न्यायदर्शन के कर्तृत्व की समस्या को इस प्रकार सुलझाने का प्रयास किया है— "प्राचीन न्याय के विकास में·· दो युग स्पष्ट प्रतीत होते हैं······अध्यात्म-प्रधान युग के निर्माता गौतम और प्रमाण-प्रधान युग के प्रवर्तक अक्षपाद हैं" (हिन्दीतर्कभाषा भूमिका पृ० २७)। किन्तु इस प्रकार की व्याख्या पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होने पर ही स्वीकार्य हो सकती है। न्याय के कर्तृत्व के विषय में एक और भी शङ्का है, वह यह कि भास के प्रतिमानाटक में मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्' यह वाक्यांश आया है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायशास्त्र के कर्त्ता मेधातिथि थे। दासगुप्ता ने मेधातिथि को आख्यानिक व्यक्ति माना है किन्तु आ० विश्वेश्वर ने महाभारत (शान्तिपर्व अ० २६३.४५, बङ्गवासी) के आधार पर यह दिखलाया है कि गौतम तथा मेधातिथि एक ही थे।

इस प्रकार न्यायसूत्र के कर्तृत्व पर विचार करने के उपरान्त न्यायसूत्र के समय पर विचार करना है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी शब्द से न्यायसूत्र का ग्रहण नहीं किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र का कर्ता न्यायदर्शन से परिचित नहीं था। दूसरी ओर 'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च' (अ० ३. ३. १२२ आदि पाणिनि-सूत्रों के आधार पर गोल्डस्टकर का मत है कि पाणिनि पञ्चावयव वाक्य के समान अर्थ वाले न्याय शब्द से परिचित थे (Nyaya was known to Panini in the sence of Syllogism, Panini P. 116)। इसके अतिरिक्त 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् (अ० ४. २. ६०) में आये हुए उक्थापिगण में न्याय शब्द का पाठ है' जिससे 'तदधीते' इत्यादि अर्थ में नैयायिक शब्द की सिद्धि होती है। इससे भी गोल्डस्टकर के मत की पुष्टि होती है (मि०, आ० विश्वे० पृ० २६)। इस विषय में यही कहा जा सकता है कि इन प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि पाणिनि से पूर्व न्यायसूत्र की रचना हो चुकी थी या 'न्याय' शब्द का प्रयोग न्यायविद्या के अर्थ में होने लगा था। इसी प्रकार विशिष्ट प्रमाणों के अभाव में न्यायसूत्र को अर्थशास्त्र से प्राचीन भी नहीं माना जा सका है।

दूसरी ओर, न्यायसूत्र में शून्यवाद का खण्डन देखकर कुछ विद्वानों ने उन पर नागार्जुन के माध्यमिक सूत्र का प्रभाव स्वीकार किया है और न्यायसूत्र का समय-नागार्जुन के बाद माना है। नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी का आरम्भ है। अन्य विद्वानों ने न्यायसूत्रों में विज्ञानवाद का भी खण्डन माना है और उनका समय विज्ञानवाद के पश्चात् सिद्ध किया है। किन्तु यदि ऐसा मान लिया जाये तो न्याय भाष्य आदि न्यायग्रन्थों तथा उनका खण्डन करने वाले दिङ्नाग आदि के बौद्ध-ग्रन्थों के काल-क्रम का सामञ्जस्य नहीं किया जा सकता। इसीलिये प्रो० जैकोबी ने यह स्वीकार किया है कि न्यायसूत्रों में विज्ञानवाद का खण्डन नहीं है। तथ्य तो यह प्रतीत होता है कि न्यायसूत्रों में जो शून्यवाद का खण्डन दिखलाई देता है उससे भी न्याय-सूत्रों के समय का निश्चय नहीं किया जा सकता; क्योंकि (i) वहाँ उत्तरकालीन

व्याख्याओं के आधार पर जो शून्यवाद का खण्डन समझा जाता है, यह सम्भव है कि वह उसी प्रकार के अन्य किसी प्राचीन मत का खण्डन रहा हो । अथवा (ii) यह भी सम्भव है कि इस प्रकार के सूत्र बाद में जोड़ दिये गये हों । अनेक विद्वानों का विचार है कि न्यायसूत्र एक ही काल की रचना नहीं है।

न्यायदर्शन में ५ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं । आरम्भ में 'प्रमाणप्रमेय०' इत्यादि सूत्र में बतलाया गया है कि प्रमाण आदि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है । फिर प्रमाण आदि का यथायोग्य लक्षण तथा विभाजन करके उनका भेद-प्रभेदो सहित विस्तृत वर्णन किया गया है । न्याय-दर्शन की क्रमबद्धता, विषयव्यवस्था तथा शास्त्रीय गठन सभी वैज्ञानिक हैं । इस समस्त शास्त्र को एक वृक्ष के रेखाचित्र के रूप में प्रकट किया जा सकता है । तर्कभाषा के विषय-विवेचन में न्यायसूत्र का पर्याप्त अनुसरण किया गया है । कई न्यायसूत्र उद्धृत भी किये गये हैं, जैसे प्रमाण० (१. १. १), प्रत्यक्ष० (१. १. ३), आत्म० (१. .. ६) इत्यादि ।

(३) वात्स्यायन—न्यायभाष्यकार

न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन हैं। जैकोबी के अनुसार इनका समय ३०० ई० के आसपास है । सम्भवतः इनका नाम पक्षिलस्वामी (पक्षिलस्वामिन्) था, वाचस्पति मिश्र ने न्या० वा० ता० टीका में इस नाम का उल्लेख किया है । वात्स्यायन इनका गोत्र नाम ही होगा । किन्हीं का मत है कि कामसूत्र के कर्ता वात्स्यायन तथा न्यायभाष्यकार वात्स्यायन एक ही हैं । हेमचन्द्र की अभिधानचिन्तामणि (मर्त्यखण्ड ५ १७·५१८) के आधार पर वात्स्यायन तथा कौटिल्य को भी एक माना जाता है । किन्तु इन मतों की प्रमाणों के द्वारा पुष्टि नहीं होती ।

न्यायसूत्रों के स्पष्टीकरण का श्रेय वात्स्यायन को ही है । वस्तुतः आज जो न्याय के सिद्धान्तों का विकसित रूप हमारे सामने है उसके विकास का उपक्रम वात्स्यान ने ही किया था । उनकी व्याख्या तथा उस पर किये गये आक्षेपों के प्रयास में ही उत्तरकाल में न्याय-सिद्धान्तों का विकास हुआ है । तर्कभाषा में न्याय-भाष्य को कई स्थलों पर उद्धृत किया गया है । यहाँ भाष्यकार शब्द से ही वात्स्यायन का स्मरण किया गया है, नामोल्लेख नहीं किया गया है; जैसे 'यदाह भाष्यकारः त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्ति (न्या० भा० १. १. ४) इसी प्रकार 'नानुपलब्धे न निर्णीति० (न्या० भा० १. १,) ।

(४) प्रशस्तपाद—वैशेषिक प्रशस्तपाद भाष्य के कर्ता

वैशेषिक सूत्रों पर कोई प्राचीन सूत्रक्रमानुसारी भाष्य उपलब्ध नहीं होता, केवल एक अर्वाचीन विद्वान् शङ्कर मिश्र (१५वीं शती) का 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' नामक भाष्य ही उपलब्ध होता है । यह कहा जाता है कि वैशेषिक सूत्रों पर रावण-भाष्य नाम का कोई भाष्य था जो आज उपलब्ध नहीं है । आज तो वैशेषिक के मन्तव्यों के समझने के लिये प्रशस्तपाद भाष्य ही हमारा मार्गदर्शक है । इसका नाम

'पदार्थधर्मसंग्रह' भी है । कीथ ने आचार्य प्रशस्तपाद को दिङ्नाग का उत्तरवर्ती माना है, किन्तु जैकोबी ने यह सिद्ध किया है कि ये दिङ्नाग के पूर्ववर्ती हैं । विद्वानों का यह भी कहना है कि वसुबन्धु तथा दिङ्नाग पर प्रशस्तपाद भाष्य का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्रों का क्रमशः भाष्य नहीं किया । अपि तु वैशेषिक सूत्रों में आये हुए तत्त्वों का एक स्वतन्त्र क्रमबद्ध निबन्ध के रूप में प्रतिपादन किया है । उन्होंने ऐसे भी अनेक मन्तव्यों का निरूपण किया है जिनका वैशेषिक सूत्रों में उल्लेख नहीं है । संक्षेप में, उनकी विशिष्ट देन है—(i) समवाय तथा विशेष की व्याख्या, (ii) कणाद के १७ गुणों के स्थान पर २४ गुणों की स्थापना, (iii) बुद्धि आदि गुणों की क्षणिकता और (iv) अपेक्षा बुद्धि द्वारा संख्या की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण, (v) पाकजरूपादि की उत्पत्ति तथा पीलुपाकवाद की व्याख्या, (vi) परमाणु से द्वयणुक आदि की उत्पत्ति की प्रक्रिया एवं सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय के क्रम का निरूपण, (viii) द्वयणुक तथा त्र्यणुक आदि के परिमाण की उत्पत्ति के निमित्त का निरूपण आदि । (द्र०, भारतीयदर्शनशास्त्र, पृ० ११२) ।

वस्तुतः आज के वैशेषिक सिद्धान्त प्रशस्तपाद द्वारा प्रतिपादित किये गये सिद्धान्त ही हैं । वैदिक या अवैदिक दर्शनों के लेखकों ने वैशेषिक के सिद्धान्तों की चर्चा करते समय प्रायः प्रशस्तपाद भाष्य को ही उद्धृत किया है या उसकी ओर संकेत किया है । तर्कभाषा में यद्यपि प्रशस्तपादभाष्य का नामतः उल्लेख नहीं किया गया तथापि वैशेषिक सम्बन्धी विवेचन में सर्वत्र प्रशस्तपादभाष्य का ही आधार लिया गया है । द्रव्य आदि पदार्थों के निरूपण में, कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति एवं विनाश के प्रसङ्ग तथा पाकजोत्पत्ति, संख्या की उत्पत्ति आदि में स्पष्टतः प्रशस्तपाद का प्रभाव दिखलाई देता है । कहीं-कहीं 'यथोक्तम्' इत्यादि कहकर भाष्य को उद्धृत भी किया गया है जैसे "यथोक्तम्-संयोगवेगप्रयत्नाभावे गुरुत्वात् पतनम् इति" । इत्यादि ।

(४) उद्योतकर—न्यायवर्त्तिककार

ये पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी भारद्वाजगोत्रीय विद्वान् थे अतः पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनका समय षष्ठ शती माना जाता है । सुबन्धु (६५० ई० के लगभग) ने वासवदत्ता नामक ग्रन्थ में उद्योतकर का उल्लेख किया है । किञ्च, उद्योतकर ने दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण का निर्देश किया है, धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण का नहीं । इससे यह स्पष्ट है कि ये धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती हैं । उद्योतकर ने प्रवाहमयी सरल भाषा में न्याय भाष्य की व्याख्या की है । वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका से यह विदित होता है कि इन्होंने दिङ्नाग आदि बौद्धों के आक्षेपों का परिहार करने के लिये न्यायभाष्य पर वार्त्तिक लिखा है । न्यायवार्त्तिक में न्याय के अनेक सिद्धान्तों की नवीन प्रकार से व्याख्या की गई है तथा स्थान-स्थान पर बौद्धमतों का खण्डन किया गया है । उद्योतकर ने विशेष रूप से वसुबन्धु तथा

दिङ्नाग के मतों की आलोचना की है किन्तु इन आचार्यों के नामों का उल्लेख नहीं किया ।

(६) वाचस्पति मिश्र (तात्पर्यकार), न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका के रचयिता

वाचस्पति मिश्र भारतीय दर्शन में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आचार्य के नाम से विख्यात हैं। उन्होंने प्रायः सभी वैदिक दर्शनों पर ग्रन्थ लिखे हैं। उनका न्याय-सूची-निबन्ध नामक एक लघुकाय ग्रन्थ न्यायसूत्रों की रक्षा के लिये लिखा गया था। उसके अन्त में उन्होंने उसकी रचना के समय का उल्लेख किया है जो ८४०–८४१ ई० निर्धारित किया गया है। तदनुसार वाचस्पति मिश्र का समय नवम शताब्दी निश्चित ही है। उन्होंने त्रिलोचन' नामक गुरु से शास्त्रों का अध्ययन करके अद्भुत विद्वत्ता प्राप्त की थी। धर्मकीर्ति एवं धर्मोत्तर आदि के न्याय-वैशेषिक पर किये गये आक्षेपों का परिहार करने के लिये उन्होंने उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक पर न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका' नाम का ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के द्वारा न्या०-वै० के मन्तव्यों का परिष्कार हुआ तथा यथोचित विकास भी। वस्तुतः न्या०-वै० के सिद्धान्तों को परिनिष्ठित रूप देना वाचस्पति मिश्र का कार्य है। साथ ही अन्य दर्शन भी उनकी अद्वितीय प्रतिभा से आलोकित हुए हैं। उनके सांख्यतत्त्वकौमुदी तथा योग-तत्त्ववैशारदी नामक ग्रन्थ सांख्य-योग की विशद व्याख्या करते हैं। न्यायकणिका तथा तत्त्वबिन्दु मीमांसा सबन्धी ग्रन्थ हैं। ब्रह्मसूत्र शारीरिक भाष्य पर लिखी गई उनकी भामती टीका अद्वैत वेदान्त का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ समझा जाता है। वैदिक दर्शनों के गम्भीर पाण्डित्य के साथ साथ उनका बौद्ध दर्शन सम्बन्धी ज्ञान भी उच्चकोटि का था। उन्होंने अपने ग्रन्थों में बौद्धों के अनेक मन्तव्यों की ऐसी सच्ची व्याख्या प्रस्तुत की है जैसी धर्मकीर्ति आदि के ग्रन्थों में भी नहीं मिलती। अपनी सूक्ष्म दृष्टि और गहन अध्ययन के आधार पर उन्होंने जो बौद्धमन्तव्यों का खण्डन किया था, उससे बौद्ध विद्वानों को भी अपने सिद्धान्तों को परिष्कृत करने की प्रेरणा मिली।

(७) जयन्त भट्ट—न्यायमञ्जरीकार

जयन्त भट्ट के समय के विषय में कुछ विवाद है। प्रतीत होता है कि ये वाचस्पति मिश्र के पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती समकालीन हैं। इन्होंने न्यायसूत्रों पर कोई क्रमिक व्याख्या नहीं लिखी किन्तु न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में निर्दिष्ट पदार्थों के क्रम का अनुसरण करके न्याय के सभी मन्तव्यों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है जो न्याय-मञ्जरी के नाम से प्रसिद्ध है। उसका प्रमाण, प्रमेय आदि प्रकरणों में विभाजन किया गया है तथा न्यायदर्शन के आवश्यक सूत्रों का उल्लेख करते हुए प्रत्येक मन्तव्य का प्रतिपादन किया गया है। जयन्त भट्ट नवीन शैली के प्रवर्तक दार्शनिक हैं। उनके विवेचन में सूक्ष्मता है, गहनता है साथ ही स्पष्टता भी है। सरल, सुबोध काव्यमयी प्राञ्जल भाषा में दर्शन के गहन मन्तव्यों का विवेचन करना उनकी निजी विशेषता है। किञ्च, न्यायमञ्जरी में न्याय के मन्तव्यों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

अन्यमतों की समीक्षा करते हुए न्याय के मतों की स्थापना की गई है; न्याय के एक-देशी तथा सिद्धान्ती मतों का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः न्यायमञ्जरी न्यायसम्प्रदाय का एक मौलिक शोध ग्रन्थ है जो न्या०-वै० सम्प्रदाय में स्वतन्त्र रचना का मार्ग प्रशस्त करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तर्कभाषाकार को न्यायमञ्जरी से प्रेरणा मिली होगी किन्तु तर्कभाषा में कहीं न्यायमञ्जरी या जयन्त भट्ट का उल्लेख नहीं किया गया।

(८) उदयनाचार्य

उदयनाचार्य न्या०-वै० सम्प्रदाय के विलक्षण प्रतिभा वाले आचार्य हैं। इनका समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग है। इन्होंने अपने 'लक्षणावली' नामक ग्रन्थ की समाप्ति का समय दिखलाया है जो ईस्वी संवत् के अनुसार ९८४ हो सकता है। कालक्रम की दृष्टि से ये प्रशस्तपाद के टीकाकार व्योमशिव के परवर्ती तथा श्रीधर के समकालीन प्रतीत होते हैं। इन्होंने न्याय तथा वैशेषिक पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। तात्पर्यटीका पर इनकी परिशुद्धि नामक एक विस्तृत टीका है। प्रशस्तपाद भाष्य पर किरणावली नामक व्याख्या है। इनके अतिरिक्त न्यायकुसुमाञ्जलि तथा आत्मतत्त्व-विवेक इनके दो महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ हैं। न्यायकुसुमाञ्जलि में अनेक युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की गई है तथा आत्मतत्त्वविवेक में आत्मा की। आत्मतत्त्वविवेक बौद्धधिक्कार के नाम से भी प्रसिद्ध है। उदयनाचार्य ने अपने सभी ग्रन्थों में यथावसर बौद्धमतों की आलोचना की है तथापि आत्मतत्त्वविवेक में बौद्धों के क्षणभङ्गवाद आदि का विशेष रूप से खण्डन किया है। उदयनाचार्य की कृतियों का पर्याप्त प्रभाव तर्कभाषा पर होना सम्भव है। यहाँ असिद्ध हेत्वाभास के सन्दर्भ में नाम निर्देश करके उदयनाचार्य का मत उद्धृत किया गया है (पृ० २७१)।

(९) प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकार

प्रशस्तपाद भाष्य पर भी टीका-परम्परा चलती रही। इसके कतिपय टीका-कारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

(क) व्योमशिव की व्योमवती–व्योमशिव का समय निश्चित नहीं है। संभवतः व्योमवती नामक टीका प्रशस्तपाद भाष्य की सबसे प्राचीन टीका है। इसमें कुछ नवीन मत भी स्थापित किये गये हैं जैसे शब्द प्रमाण की पृथक्ता।

(ख) श्रीधर की न्यायकन्दली—श्रीधर का समय दशम शती माना जाता है। न्यायकन्दली प्रशस्तपाद भाष्य की विशद व्याख्या है। इसमें अन्य मतों विशेषकर बौद्ध मतों का निराकरण करते हुए न्या०-वै० के मन्तव्यों की स्थापना की गई है। किन्तु श्रीधर ने कुछ निजी मत भी स्थापित किये हैं जैसे वे ज्ञान-कर्म समुच्चय को मुक्ति का साधन मानते हैं।

(ग) उदयनाचार्य की किरणावली—यह एक महत्त्वपूर्ण टीका है इसमें वैशेषिक के सिद्धान्तों की युक्तियुक्त व्याख्या की गई है।

(घ) न्यायलीलावती—नवीन शोध के अनुसार प्रशस्तपादभाष्य की टीका जो न्यायलीलावती थी वह वल्लभाचार्य की कृति से भिन्न थी। वल्लभाचार्य का समय ११वीं शती है। इनकी न्यायलीलावती प्रशस्तपादभाष्य पर क्रम से लिखी गई टीका

नहीं है । अपि तु इसमें वैशेषिक के पदार्थों का स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया गया है। वस्तुतः इसे टीका की अपेक्षा एक स्वतन्त्र ग्रन्थ कहना अधिक अच्छा है । यह वैशेषिक सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ समझा जाता रहा है, यह इस तथ्य से विदित होता है कि इस पर अनेक टीकायें तथा उपटीकाएँ लिखी गई हैं ।

उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्ति प्रशस्तपाद भाष्य पर पद्मनाभ मिश्र (१३ वीं शती) की 'सेतु' नामक टीका भी है । उत्तर काल में भी प्रशस्तपाद भाष्य पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं । वैशेषिकोपस्कार के लेखक शंकर मिश्र (१५वीं शती) ने 'कणादरहस्य' नामक टीका लिखी है ।

सम्भवतः ११वीं शती में टीका-परम्परा की ओर से विद्वानों का मन ऊब चुका था और उनकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र ग्रन्थ-लेखन की ओर हो गई थी । नवम दशम शताब्दी में भासर्वज्ञ तथा उदयन में भी इस प्रवृत्ति का संकेत मिलता है । किञ्च, टीका-परम्परा आगे भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है, उत्तर काल में विश्वनाथ (१७वीं शती) ने न्यायसूत्रों पर एक स्वतन्त्र वृत्ति लिखी हैं । तथा जगदीश तर्कालङ्कार ने प्रशस्तपाद भाष्य पर 'सूक्ति' नामक टीका । फिर प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण ११वीं शती के पश्चात् के युग को न्या०-वै० के प्रकरण ग्रन्थों का युग कहना उचित प्रतीत होता है । इसी समय न्या०-वै० में विशिष्ट धारा का आविर्भाव भी हुआ है जिसे नव्यन्याय के नाम से कहा जाता है ।

(घ) **नव्यन्याय**—१२वीं शती में गङ्गेश उपाध्याय नामक प्रतिभाशाली विद्वान् का मिथिला में उदय हुआ । उन्होंने न्याय के अभिमत प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को लेकर तत्त्वचिन्तामणि नाम का एक प्रौढ ग्रन्थ लिखा । यद्यपि भासर्वज्ञ इस क्रम से न्याय का विवेचन कर चुके थे, किञ्च उदयनाचार्य न्या० वै० में एक नवीन शैली का प्रवर्तन कर चुके थे तथापि गङ्गेश की विवेचना-पद्धति कुछ विलक्षण समझी गई । उनका विवेचन अधिक परिष्कृत था, उनकी शैली परिमार्जित थी, उसमें विशेष पदावली का प्रयोग करके विवेचन के याथातथ्य पर अधिक बल दिया गया था, व्याप्ति आदि के स्वरूप पर गहन विचार करने का प्रयास किया गया था । इसलिये कुछ विद्वान् तत्त्वचिन्तामणि को नव्यन्याय का आदि ग्रन्थ मानते हैं तथा गङ्गेशोपाध्याय को नव्यन्याय का प्रवर्तक आचार्य ।

नव्यन्याय में प्रमाण के अन्तर्गत ही न्या० वै० के तत्त्वों का विवेचन किया गया है । फिर भी नव्यन्याय की अपनी निजी विशेषताएँ हैं । शैलीगत विशेषताओं के अतिरिक्त इसमें तर्क की प्रधानता है, प्रमाण, विवेचन को दर्शन का साध्य मान लिया गया है तथा तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्ति का उद्देश्य गौण हो गया है । यद्यपि तत्त्वचिन्तामणि आदि में मुक्ति का विवेचन किया गया है तथापि नव्यन्याय के अध्ययन की दृष्टि से वह गौण ही है । वस्तुतः नव्यन्याय सच्चे अर्थों में तर्कशास्त्र कहा जा सकता है । शास्त्रार्थ के लिये या कहिये शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के लिये यह शैली विशेष महत्त्व की है । किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि तत्त्वविवेचन की दिशा में न्या० वै० की गति अवरुद्ध हो गई, प्राचीन न्या० वै० के ग्रन्थों का पठन-पाठन ही कुछ समय के लिये समाप्त हो गया ।

नव्य-न्याय का उद्भव तथा विकास मिथिला में हुआ। वहाँ वर्धमानोपाध्याय, पक्षधर मिश्र तथा वासुदेव मिश्र आदि अनेक विद्वानों ने इस धारा को आगे बढ़ाया। मिथिला के विद्वानों ने नव्यन्याय को मिथिला में ही सुरक्षित रक्खा, उन्हें इसका मिथिला से बाहर जाना अभिमत नहीं था। किन्तु पक्षधर सार्वभौम ने मिथिला में नव्यन्याय का अध्ययन करके इसका नवद्वीप (बंगाल) में प्रचार किया। इस प्रकार नव्यन्याय की दो शाखाएँ हो गई मिथिला शाखा और नवद्वीप शाखा। नवद्वीप शाखा में रघुनाथ शिरोमणि (१५ वीं शती), मथुरानाथ तर्कवागीश (१६ वीं शती), जगदीश तर्कालङ्कार (१७वीं शती) तथा गदाधर भट्टाचार्य (१७वीं शती) विशेष उल्लेखनीय हैं।

३. न्याय-वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थ

(क) **प्रकरण ग्रन्थ का लक्षण**—जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है ११वीं शती में टीका-परम्परा को छोड़कर विद्वज्जन स्वतन्त्र ग्रन्थ-लेखन में प्रवृत्त होने लगे। इस युग में शास्त्र के सर्वाङ्गीण विवेचन की अपेक्षा किसी विशिष्ट अङ्ग का विवेचन अधिक उपयोगी समझा जाने लगा। परिणामतः एक विशेष प्रकार के ग्रन्थों का प्रचलन अधिक हो गया, जिन्हें प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है। प्रकरण एक विशेष प्रकार के ग्रन्थ होते हैं जिनमें शास्त्र के समस्त प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन नहीं किया जाता, केवल कतिपय विषयों (एकदेश) का प्रतिपादन किया जाता है, जिनका विवेचन शास्त्र से भिन्न प्रकार का होता है। वह सुगठित, सरल, संक्षिप्त किन्तु विशद होता है तथा उस विषय के नवीनतम मन्तव्यों से युक्त भी। प्रकरण का परम्परागत लक्षण यह है:—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

(ख) **प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा और न्या० वै० के प्रकरण ग्रन्थ**

प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु को प्रकरण ग्रन्थ बतलाया है। इसी प्रकार धर्मकीर्ति का हेतुबिन्दु भी एक प्रकरण ग्रन्थ है न्यायबिन्दु एक सुगठित तथा सुव्यवस्थित प्रकरण ग्रन्थ है। इससे विदित होता है कि प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा बहुत पहिले से प्रचलित थी। इसके अनन्तर तो प्रकरण-ग्रन्थों की धारा लक्षित या अलक्षित रूप में प्रवाहित होती ही रही। वाचस्पति मिश्र का तत्त्वबिन्दु नामक ग्रन्थ एक मीमांसा-सम्बन्धी प्रकरण ग्रन्थ ही है। उदयनाचार्य की लक्षणावली तथा न्यायकुसुमाञ्जलि आदि भी प्रकरण ग्रन्थ ही हैं। सम्भवतः इनसे भी पूर्व भासर्वज्ञ का न्यायसार लिखा जा चुका था।

जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय तथा वैशेषिक का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। प्रकरण ग्रन्थों के युग में तो दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे से अभिन्न से हो गये। इसलिये इस युग को विद्वज्जन सम्मिलित न्याय-वैशेषिक का युग कहते हैं। इस युग में जो प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं सामान्यतः उन्हें दो वर्गों में रक्खा जा सकता है, एक तो न्याय-प्रधान प्रकरण तथा दूसरे वैशेषिक-प्रधान

प्रकरण । प्रथम प्रकार के प्रकरण ग्रन्थों में प्रधान रूप से न्याय के पदार्थों का वर्णन है तथा द्वितीय प्रकार के प्रकरण ग्रन्थों में प्रधान रूप से वैशेषिक के पदार्थों का वर्णन है । एक अन्य प्रकार के भी प्रकरण ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें न्याय तथा वैशेषिक के पदार्थों का पृथक्-पृथक् वर्णन कर दिया गया है, दोनों का परस्पर मिश्रण नहीं किया गया । इस प्रकार का प्रमुख प्रकरण ग्रन्थ शशधर (१२वीं शती) का 'न्यायसिद्धान्त-दीप' है । इसमें न्याय तथा वैशेषिक के कुछ चुने हुए पदार्थों का निरूपण किया गया है । वस्तुतः ऐसे प्रकरण ग्रन्थों को उसी वर्ग में रक्खा जा सकता है जिसके प्राधान्य की विवक्षा प्रतीत होती हो ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि इस युग के ग्रन्थों में न्याय तथा वैशेषिक अभिन्न से हो गये हैं तो एक की प्रधानता तथा दूसरे की अप्रधानता का क्या अभिप्राय है । इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अभिन्न से हो जाने पर भी दोनों पृथक् प्रस्थान हैं अतः एक की प्रधानता तथा दूसरे की अप्रधानता हुआ ही करती है । वस्तुतः दोनों में समानता होते हुए भी भेद है । कैसे ?

(ग) न्याय तथा वैशेषिक के मतों की समानता एवं असमानता

विद्वानों का कथन है कि न्याय के दार्शनिक सिद्धान्त बहुत अंश तक वैशेषिक से लिये गये हैं किन्तु न्याय का अपना मुख्य विषय प्रमाण का निरूपण है (डॉ० धर्मेन्द्र-नाथ शास्त्री, भारतीयदर्शनशास्त्र, पृ० ६८) । यह भी माना जाता है कि वैशेषिक के सिद्धान्तों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये ही न्याय का उद्भव हुआ होगा । अभिप्राय यह है कि न्याय तथा वैशेषिक के सिद्धान्तों में अत्यधिक समानता है । दोनों दर्शन वस्तुवादी (realist) हैं, जड़ जगत् तथा आत्मा (ईश्वर भी) की वस्तुसत्ता को स्वीकार करते हैं । जड़ जगत् में पृथिवी आदि को परमाणुरूप तथा कार्यरूप दो प्रकार का मानते हैं, और परमाणु की सत्ता को सिद्ध करते हुए उनसे द्व्यणुक आदि के क्रम से कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति तथा विनाश का वर्णन करते हैं । किञ्च, दोनों ही धर्म एवं धर्मी का भेद स्वीकार करते हुए धर्मों से भिन्न धर्मी (अवयवी आदि) की सत्ता मानते हैं । दोनों असत्कार्यवादी हैं उत्पत्ति से पूर्व कारणों में कार्य की सत्ता नहीं स्वीकार करते । समवायी, असमवायी तथा निमित्त तीन प्रकार के कारण मानते हैं । शरीर आदि से भिन्न आत्मा की सिद्धि करते हुए आत्मा को विभु (परममहत् परिमाण वाला), नित्य तथा प्रति शरीर में भिन्न (नाना) मानते हैं । यह भी स्वीकार करते हैं कि आत्मा के जन्म आदि का कारण धर्म-अधर्म (अदृष्ट) हैं, आत्मा के अदृष्ट का नियन्ता, सृष्टि तथा प्रलय का कर्त्ता और वेदों का निर्माता ईश्वर है । दोनों के मतानुसार बन्ध और मोक्ष दोनों यथार्थ हैं, पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है ।

फिर भी न्याय तथा वैशेषिक मतों में परस्पर भेद है—(i) वैशेषिक का मुख्य विषय भौतिक जगत् का विवेचन है और न्याय का मुख्य विषय आत्मा आदि प्रमेयों तथा प्रमाणों का विवेचन है । (ii) वैशेषिक में द्रव्य आदि ६ पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति मानी गई है; किन्तु न्याय में प्रमाण आदि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से । फलतः वैशेषिक की रूपरेखा द्रव्य आदि

सात पदार्थों पर आधारित है और न्याय की प्रमाण आदि षोडश पदार्थों पर। अतः दोनों के पदार्थ-विवेचन का क्रम नितान्त भिन्न है। (iii) वैशेषिक में दो प्रमाण माने गये हैं प्रत्यक्ष तथा अनुमान, अन्य प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव किया गया है; किन्तु न्याय में चार प्रमाण माने गए हैं तथा उपमान और शब्द की प्रमाणान्तरता की सिद्धि की गई है। दोनों के एतद्विषयक विवाद का न्या० वै० के ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन किया गया है। (iv) अनुमान के सन्दर्भ में वैशेषिक तो 'हेतु' के (पक्षसत्त्व आदि) तीन रूप मानता है तथा तदनुसार तीन ही हेत्वाभाव भी; किन्तु न्याय 'हेतु' के पाँच रूप मानता है तथा तदनुसार पांच ही हेत्वाभास भी। (द्र० पृ० १०२) (v) पाकजोत्पत्ति के विषय में वैशेषिक 'पीलुपाकवादी' है और न्याय 'पिठरपाकवादी' (द्र० पृ० १९७)। (vi) न्याय के मत में समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है; किन्तु वैशेषिक के मत में उसका अनुमान से ग्रहण किया जाता है। (vii) वैशेषिक नित्य-संयोग (दो नित्य तथा विभु द्रव्यों का संयोग) नहीं मानता, जबकि न्याय मानता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों में भी न्याय तथा वैशेषिक का मत-भेद है। (द्र० उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन)।

न्याय तथा वैशेषिक के पारस्परिक भेद को दृष्टि में रखते हुए ही न्या० वै० के प्रकरण ग्रन्थों के उपर्युक्त दो भेद किये गये हैं। उन दोनों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

(घ) **न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थ**—इन प्रकरण ग्रन्थों में मुख्य रूप से न्याय परम्परा के अनुसार प्रमाण-प्रमेय आदि षोडश पदार्थों का विवेचन किया जाता है। वैशेषिक के द्रव्य आदि सात पदार्थों का 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत वर्णन किया जाता है। इसमें कुछ दोष अवश्य हैं, वह यह कि आत्मा तथा मन आदि का निरूपण दो बार हो जाता है, किञ्च, 'अर्थ' (प्रमेय) का तात्पर्य न्यायसूत्र आदि प्राचीन ग्रन्थों के परम्परागत अभिप्राय से दूर चला जाता है, जैसा कि तर्कभाषा में दृष्टिगोचर होता है (पृ० १९३)। इन दोषों के परिहार के लिये कुछ ग्रन्थों में प्रमेय के मध्य आत्मा आदि के साथ-साथ द्रव्य आदि की भी गणना कर ली गई है; जैसे वरदराज ने 'तार्किकरक्षा' में। इन प्रकरण ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी हैं जिनमें वैशेषिक के पदार्थों का विवेचन ही नहीं किया गया है। वहाँ केवल न्याय के प्रमाणों का विवेचन है, उसी के अन्तर्गत प्रमेय आदि का भी विवेचन कर दिया गया है। इस प्रकार का प्रमुख प्रकरण ग्रन्थ (i) **भासर्वज्ञ** (१०वीं शती) का **न्यायसार** है। इस प्रकार के प्रकरण ग्रन्थों को कुछ व्याख्याकारों ने पृथक् एक वर्ग में रक्खा है। **गङ्गेशोपाध्याय** की 'तत्त्वचिन्तामणि' भी इसी वर्ग में रक्खी जा सकती है। न्यायसार एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण ग्रन्थ है। उसका महत्त्व इसी से प्रकट होता है कि उस पर १८ टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें भूषण टीका (गुणरत्न) विशेष महत्त्व की है। भासर्वज्ञ ने न्यायपरम्परा से हटकर कुछ नवीन मतों की भी स्थापना की है जैसे वे मुक्ति में आनन्द की सत्ता स्वीकार करते हैं।

अन्य न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थ हैं:—

(ii) **वरदराज** (१२वीं शती) की '**तार्किकरक्षा**' इसमें आत्मा आदि प्रमेय के साथ ही द्रव्य आदि पदार्थों की गणना करके इनका निरूपण किया गया है। (iii) **केशवमिश्र** (१३वीं शती) की **तर्कभाषा**, इसका आगे वर्णन किया जायेगा।

(ङ) **वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रन्थ**—इन प्रकरण ग्रन्थों में वैशेषिक के द्रव्य; गुण आदि पदार्थों का क्रम से विवेचन किया जाता है। वहाँ प्रमाणों का वर्णन गुण के सन्दर्भ में बुद्धि के अन्तर्गत किया जाता है। किन्हीं ग्रन्थों में आत्मा के सन्दर्भ में बुद्धि के अन्तर्गत प्रमाणों का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार का प्रथम प्रकरण ग्रन्थ कौनसा है ? यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि (i) **शिवादित्य** (१०वीं शती) की **सप्तपदार्थी** इस वर्ग का प्रथम प्रकरण ग्रन्थ है। यदि शिवादित्य को उदयनाचार्य का परवर्ती माना जाता है तो इस प्रकार का प्रथम प्रकरण ग्रन्थ (ii) **उदयनाचार्य** (१०वीं शती) की **लक्षणावली** को मानना होगा। इसके अनन्तर इस प्रकार के अनेक प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं जैसे (iii) **वल्लभाचार्य** (१२वीं शताब्दी) की **न्यायलीलावती,** यह भी किन्हीं के अनुसार प्रकरण ग्रन्थ ही है। (iv) **अन्नंभट्ट** (१७वीं शती) का **तर्कसंग्रह** नामक प्रकरण जो पठन-पाठन में विशेष प्रचलित है। यह न्याय अथवा तर्कशास्त्र का प्रवेश द्वार समझा जाता है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें अन्नंभट्ट की स्वलिखित टीका तर्कसंग्रहदीपिका तथा न्यायबोधिनी आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। (v) **विश्वनाथ न्यायपञ्चानन** (१८वीं शती) न्यायकारिकावली, जिसे भाषा-परिच्छेद भी कहा जाता है। इस पर लेखक की **न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली** नामक टीका है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकरण ग्रन्थ है। यह न्या०-वै० के पदार्थों का विशद विवेचन करता है। इसमें आत्मा के सन्दर्भ में बुद्धि के अन्तर्गत प्रमाणों का विवेचन किया गया है। यहाँ यथावसर अन्य मतों की समीक्षा भी की गई है। न्यायमुक्तावली पर अनेक टीकाएँ तथा उपटीकाएँ लिखी गई हैं। (vi) **जगदीश तर्कालङ्कार** (१७वीं शती) का 'तर्कामृत' तथा (vii) **लौगाक्षि-भास्कर** (१७वीं शती) की **तर्ककौमुदी**।

इन प्रकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकरण ग्रन्थ, न्याय वैशेषिक में, विद्यमान हैं जिनका अनुसन्धान न्या०-वै० साहित्य की अभिवृद्धि में सहायक हो सकता है।

४. केशवमिश्र की तर्कभाषा

(क) **केशवमिश्र का जीवन तथा समय**—केशवमिश्र ने अपने समय तथा स्थान आदि के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। अतः अन्य साधनों से ही इनके जीवन तथा समय आदि के विषय में कुछ ज्ञात हो सकता है। सुरेन्द्रलाल गोस्वामी ने अपने तर्कभाषा के संस्करण में एक परम्परा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार केशव मिश्र मिथिला के सरिसव (Sarisava) ग्राम के निवासी थे तथा अभिनव वाचस्पति के प्रपौत्र थे। उसके अनुसार केशव मिश्र ही 'द्वैतपरिशिष्ट' के लेखक हैं। इस ग्रन्थ में केशवमिश्र ने अपने परमगुरु के 'तत्त्वालोक' तथा 'कृत्यमहार्णव' में प्रकटित विचारों का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों के लेखक अभिनव वाचस्पति हैं। इस प्रकार अभिनव वाचस्पति केशवमिश्र के परमगुरु या पितामह ठहरते हैं।

विद्वानों ने इस परम्परा को प्रामाणिक नहीं माना, क्योंकि इसका कोई पुष्ट

आधार नहीं है; किञ्च अभिनव वाचस्पति का समय १५वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है (द्र०, भण्डारकर, इन्ट्रोडक्शन, पृ० २२)।

गोवर्धन के मङ्गल श्लोक द्वारा भी केशवमिश्र के समय का अनुमान करने का प्रयास किया गया है। गोवर्धन ने तर्कभाषा पर 'तर्कभाषाप्रकाश' नाम की टीका लिखी है। उसके मङ्गल का दूसरा श्लोक यह है—

> विजयश्रीतनूजन्मा गोवर्धन इति श्रुतः।
> तर्कानुभाषां तनुते विविच्य गुरुनिर्मितम् ॥

इस श्लोक में प्रयुक्त गुरुनिर्मितम्' शब्द से यह अनुमान लगाया जाता है कि केशवमिश्र गोवर्धन के गुरु थे। इस विषय में विद्वानों का कथन है कि गोवर्धन का समय १६वीं शती का उत्तरार्ध निश्चित होता है अतः केशवमिश्र उनके गुरु हैं, यह सम्भव ही नहीं है। इस श्लोक में विविच्य गुरुनिर्मितम्' का अर्थ है=अपने पिता (गुरु) की रचना का विवेचन करके। गोवर्धन के तृतीय मङ्गल श्लोक से पता चलता है कि गोवर्धन के पिता का नाम बलभद्र है तथा तर्कभाषा की टीकाओं की सूची से विदित होता है कि बलभद्र ने भी तर्कभाषा पर 'तर्कभाषाप्रकाशिका' नाम की टीका लिखी थी (द्र०, भण्डारकर, इन्ट्रोडक्शन, पृ० २०)।

गोवर्धन के तृतीय मङ्गल श्लोक के आधार पर आ० विश्वेश्वर ने यह लिखा है कि केशवमिश्र के पिता बलभद्र थे और भाई पद्मनाभ मिश्र। किन्तु उस श्लोक के अनुशीलन से तथा गोवर्धनकृत टीका की पुष्पिका से स्पष्ट है कि बलभद्र गोवर्धन के पिता थे और पद्मनाभ गोवर्धन के ही बड़े भाई। गोवर्धन के मङ्गल का तृतीय श्लोक इस प्रकार है—

> श्रीविश्वनाथानुजपद्मनाभानुजो गरीयान् बलभद्रजन्मा।
> तनोति तर्कानधिगम्य सर्वान् श्रीपद्मनाभाद्विदुषो विनोदम् ॥

पुष्पिका यह है—

> इति श्रीजगद्गुरुमिश्रबलभद्रात्मजविजयश्रीगर्भसंभव-
> विश्वनाथानुजपद्मनाभानुजमिश्रगोवर्धनविरचित-
> तर्कभाषाप्रकाशः समाप्तः।

इस प्रकार उपर्युक्त अटकलों को पुष्ट प्रमाणों के अभाव में स्वीकार करना असम्भव है और यही कहना पड़ता है कि केशवमिश्र के जीवन के विषय में कुछ भी विदित नहीं है। केशवमिश्र की तर्कभाषा तो प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त 'अलङ्कार-शेखर' आदि कतिपय ग्रन्थ भी केशवमिश्र के नाम से जाने जाते हैं। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि तर्कभाषा के कर्ता केशवमिश्र ही उन ग्रन्थों के भी प्रणेता हैं। यह भी सम्भव है कि केशवमिश्र नाम के कई व्यक्ति रहे हों।

जहाँ तक केशवमिश्र की तिथि का सम्बन्ध है इस विषय मे किसी सीमा तक अनुमान का आश्रय लिया जा सकता है। केशवमिश्र ने असिद्ध हेत्वाभास के सन्दर्भ में नामोल्लेख करते हुए उदयनाचार्य का मत उद्धृत किया है। (पृ० २७१)। इससे यह

निश्चित है कि केशवमिश्र के समय की पूर्व सीमा उदयनाचार्य का समय है। उदयनाचार्य का समय १० वीं शताब्दी माना जाता है। केशवमिश्र का समय इसके पश्चात् ही होगा। केशवमिश्र के समय की अपर सीमा तर्कभाषा के टीकाकारों के कालनिर्णय के आधार पर निर्धारित की जा सकती है। चिन्नंभट्ट को तुर्कभाषा के टीकाकारों में सबसे प्राचीन माना जाता है। चिन्नंभट्ट ने केशवमिश्र के विषय में तो कुछ नहीं लिखा है, किन्तु टीका की पुष्पिका में यह लिखा है कि हरिहर महाराज के आश्रित चिन्नंभट्ट ने तर्कभाषाप्रकाशिका लिखी है। इतिहास में हरिहर तथा बुक्काराय भाई-भाई हैं उनका समय १३५०-१४०० ई० तक माना जाता है। इससे यह निश्चित किया जा सकता है कि केशवमिश्र के समय की अपर सीमा १४०० ई० हो सकती है। इस प्रकार केशवमिश्र का समय १००० ई० से १४०० ई० के [मध्य निश्चित किया जा सकता है।

यदि प्रमाणों के आधार पर तर्कभाषा की कोई अन्य टीका चिन्नंभट्ट से प्राचीन सिद्ध होती है और उसके समय का निर्धारण किया जा सकता है तो केशवमिश्र की तिथि के विषय में अधिक निश्चय करना सम्भव है।

(ख) **तर्कभाषा की टीकाएँ**—तर्कभाषा पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। विद्वानों ने उनमें से २३ टीकाओं का उल्लेख किया है। (द्र०, (Aufrechts catalogus catalogorum)। उनके कालक्रम का निर्णय नहीं हो पाया है। यहाँ वर्णानुक्रम से कतिपय टीकाओं की सूची दी जाती है—

टीका-नाम	लेखक	विवरण
उज्ज्वला	गोपीनाथ	
तत्त्वप्रबोधिनी	गणेश दीक्षित	
तर्ककौमुदी	दिनकर भट्ट	
तर्कभाषाप्रकाश	गोवर्धन मिश्र, प्रकाशित १८९४, एस. एम. परांजपे	
तर्कभाषाप्रकाश	अखण्डानन्द सरस्वती	
तर्कभाषाप्रकाशिका	चिन्नंभट्ट (चि०), प्रकाशित १९३७, देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर	
तर्कभाषाप्रकाशिका	गौरीकान्त (गौ० का०) सार्वभौम	
तर्कभाषाप्रकाशिका	बलभद्र	
तर्कभाषाप्रकाशिका	कौण्डिन्य दीक्षित	
तर्कभाषाप्रकाशिका	वागीश भट्ट	
तर्कभाषासारमञ्जरी	माधवदेव	
न्यायप्रदीप,	विश्वकर्मा, प्रकाशित १९०१, सुरेन्द्रलाल गोस्वामी	
न्यायसंग्रह	रामलिङ्ग	
परिभाषादर्पण	भास्कर भट्ट	

उपरिनिर्दिष्ट प्रकाशित टीकाओं के अतिरिक्त अन्य भी कुछ टीकाएँ प्रकाशित

हुई हैं तथा विविध पुस्तक सूचियों में अन्य अनेक अप्रकाशित टीकाओं का उल्लेख भी मिलता है जिनमें कुछ के कर्ता भी अज्ञात हैं। यह भी विश्वास किया जाता है कि केशवमिश्र ने स्वयं ही 'तर्कदीपिका' टीका लिखी थी।

तर्कभाषा और उसका न्या० वै० सम्प्रदाय में महत्त्व

जैसा कि उपर दिखलाया जा चुका है तर्कभाषा सम्मिलित न्या०-वै० सम्प्रदाय का ऐसा प्रकरण (द्र०, प्रकरण का लक्षण) ग्रन्थ है जिसमें न्याय के पदार्थों की प्रधानता है (द्र०, न्यायप्रधान प्रकरण)। तर्कभाषा के आरम्भ में कहा गया है कि बालकों का न्याय के सिद्धान्तों में प्रवेश कराने के लिये तर्कभाषा की रचना की जा रही है। इससे स्पष्ट है कि लेखक का उद्देश्य प्रधान रूप से न्याय के मन्तव्यों का विवेचन करना है। लेखक ने न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र 'प्रमाण' इत्यादि का निर्देश करके न्यायसूत्र के क्रम से ही न्याय के पदार्थों का निरूपण किया है। यहाँ प्रथमतः प्रमाणों का विशद विवेचन है फिर आत्मा आदि प्रमेयों का यथोचित निरूपण किया गया है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में संशय से लेकर निग्रहस्थान पर्यन्त सभी पदार्थों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार तर्कभाषा में न्याय के सभी पदार्थों का संक्षिप्त किन्तु विशद वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि केशवमिश्र को इस प्रकार से न्याय के पदार्थ विवेचन की प्रेरणा जयन्त भट्ट से मिली होगी।

इस समस्त ग्रन्थ की रूपरेखा न्याय के आधार पर बनाई गई है तथा यहाँ न्याय के पदार्थों का ही प्रधान रूप से विवेचन किया गया है। किन्तु न्याय के प्रमेय पदार्थों के सन्दर्भ में वैशेषिक के द्रव्य आदि पदार्थों का भी वर्णन किया गया है। एतदर्थ केशवमिश्र ने नई व्याख्या का आश्रय लिया है। न्यायदर्शन के आत्मा आदि १२ प्रमेयों में जो 'अर्थ शब्द है उसकी व्याख्या यह की है—अर्थाःषट् पदार्थाः। इस प्रकार केशवमिश्र ने अर्थ' शब्द से वैशेषिक सम्प्रदाय के द्रव्य आदि ७ पदार्थों का ग्रहण किया है तथा उनका विस्तृत विवेचन कर दिया है। यद्यपि यह व्याख्या न्यायसूत्र वा भाष्य के अनुकूल नहीं है, वहाँ बतलाया गया है 'गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः' (न्या० स० १.१.१५) फिर भी न्याय के पदार्थों में वैशेषिक के पदार्थों का अन्तर्भाव करने के लिये केशवमिश्र को ऐसी व्याख्या आवश्यक प्रतीत हुई है। वस्तुतः उन्हें ऐसा प्रकरण ग्रन्थ लिखना था जिसमें न्याय को मुख्य आधार बनाकर सम्मिलित न्या०-वै० सम्प्रदाय के मन्तव्यों का निरूपण किया जा सकता था। फलतः उन्होंने मुख्य रूप से न्याय के १६ पदार्थों का वर्णन करते हुए भी वैशेषिक के द्रव्य आदि ७ पदार्थों, पृथ्वी आदि ९ द्रव्यों, रूप आदि २४ गुणों का विस्तार से विवेचन किया है। साथ ही वैशेषिक के जो विशिष्ट मन्तव्य समझे जाते है; जैसे द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया, पाकजोत्पत्ति, विभागज विभाग, इनका भी तर्कभाषा में उल्लेख कर दिया गया है—

> द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
> यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

यहाँ परमाणु की सिद्धि का प्रकार दिखलाकर परमाणु से द्वयणुक आदि की उत्पत्ति का क्रम दिखलाया गया है तथा सृष्टि की उत्पत्ति एवं संहार की प्रक्रिया भी प्रशस्तपादोक्त रीति से दिखलाई गई है। इस प्रकार यहाँ वैशेषिक के प्रतिपाद्य विषय का न्याय के पदार्थों के विवेचन के साथ सामञ्जस्य किया गया है। हाँ, इससे तर्कभाषा में आत्मा आदि के विवेचन की पुनरुक्ति अवश्य हो गई है। किन्तु अत्यधिक लाभ का जनक अल्पदोष दोषावह नहीं होता, इस भाव की अभिव्यक्त करते हुए ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में दोष-परिहार कर दिया है।

यह भी उल्लेखनीय है कि जिन विषयों में न्याय तथा वैशेषिक का मतभेद है यहाँ तर्कभाषाकार ने किसी एक मत को सिद्धान्तरूप में निरूपित कर दिया है। न्याय तथा वैशेषिक के पारस्परिक विवाद का उल्लेख नहीं किया। उदाहरणार्थ न्याय के अनुसार चार प्रमाणों का निरूपण करके उन्होंने वैशेषिक का मत नहीं दिखलाया है। इसी प्रकार अन्य कई सन्दर्भों में भी किया गया है। इस प्रकार तर्कभाषा में न्याय तथा वैशेषिक को अभिन्न सा मानकर, दोनों के मतभेदों की ओर ध्यान न देकर, सम्मिलित न्याय-वै० सम्प्रदाय के मन्तव्यों का वर्णन किया गया है।

किञ्च, यहाँ एक आदर्श प्रकरण ग्रन्थ के समान भारतीय दर्शन के तत्कालीन मुख्य मन्तव्यों की भी यथावसर समीक्षा की गई है। प्रसङ्गवश बौद्ध दर्शन, मीमांसा तथा वेदान्त आदि के मतों का निराकरण किया गया है। उदाहरणार्थ, मीमांसा के कारण-लक्षण तथा प्रमाण-लक्षण, ज्ञातता-सिद्धान्त, स्वतः प्रामाण्यवाद, अर्थापत्ति तथा अभाव की प्रमाणान्तरता आदि का स्पष्ट रूप से निराकरण किया गया है, बौद्ध के प्रत्यक्ष विषयक मत, अपोहवाद, क्षणिकत्व एवं परमाणुपुञ्जवाद आदि का परिहार किया गया है। साथ ही अवस्तुवादी (Idealist) जो विज्ञानवादी तथा वेदान्त हैं जो ज्ञान या ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्ता का निषेध करते हैं उनके मत का भी यहाँ खण्डन किया गया है। फलतः यह ग्रन्थ तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक भी है, इसे उच्चकोटि का शोधग्रन्थ कहा जा सकता है।

इस ग्रन्थ की भाषा शैली विषय के नितान्त अनुकूल है। यह सरल तथा सुबोध है, संक्षिप्त होते हुए भी स्पष्ट है। विस्तृत अर्थ को छोटे-छोटे वाक्यों में कह दिया गया है। यह ग्रन्थ जो बालकों का न्याय सिद्धान्त में प्रवेश कराने के लिये लिखा गया है वस्तुतः विद्वानों का भी मार्गदर्शक है। न्या०-वै० के जटिल विषय को बोधगम्य बनाने वाला यह लघु ग्रन्थ अपने आविर्भाव काल से ही विद्वज्जनों का आदरभाजन रहा है। इसलिये इस पर अनेक टीकाओं की परम्परा दृष्टिगोचर होती है (द्र० उपर)। कहना न होगा कि केशवमिश्र की तर्कभाषा न्या०-वै० सम्प्रदाय का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। यह न्याय-वैशेषिक का प्रवेश द्वार है, तथा भारतीय दर्शन का प्रदीप है।

श्रीकेशवमिश्रप्रणीता

तर्कभाषा

उपोद्घातः

बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशम्, अल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन ।
संक्षिप्तथुक्त्यन्वितर्कषाषा, प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा ।।

---

१. ग्रन्थ का प्रयोजन

प्रयोजन आदि विचार किये विना मानव की किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती, अतः ग्रन्थकार केशवमिश्र ग्रन्थ के आरम्भ में तर्कभाषा नामक ग्रन्थ का प्रयोजन आदि बतलाते हैं—'बालोऽपि' इत्यादि ।

[यः अलसः बालः अपि अल्पेन श्रुतेन न्यायनये प्रवेशं वाञ्छति तस्य कृते मया एषा संक्षिप्तयुक्त्यन्वितर्कभाषा प्रकाश्यते—यह अन्वय है,

जो आलसी [परिश्रम से बचने वाला] बालक [=प्रमाण आदि से अनभिज्ञ किन्तु उन्हें समझने में समर्थ] भी थोड़े से अध्ययन के द्वारा (=श्रुतेन) न्याय के सिद्धान्तों (नय) में प्रवेश करना चाहता है, उसके लिये संक्षिप्त युक्तियों से युक्त यह तर्कभाषा मेरे द्वारा प्रकाशित की जा रही है ।

'मया तर्कभाषा प्रकाश्यते' यह मूल वाक्य है । 'तर्कभाषा' इस ग्रन्थ का नाम है । इसमें तर्क (तर्कशास्त्र) का विवेचन किया है (तर्का भाष्यन्ते अनया)। विद्वानों ने 'तर्क' शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है । न्यायसूत्र के अनुसार 'तर्क' एक पारिभाषिक शब्द है—'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' (न्या० सू० १.१.४०) । यहाँ उस पारिभाषिक शब्द का ग्रहण नहीं किया गया । चिन्नंभट्ट के अनुसार यहाँ प्रमाण आदि पदार्थों का विवेचन करने वाला शास्त्र तर्कशास्त्र है । अथवा यहाँ 'तर्क' शब्द प्रमाण आदि का उपलक्षण है । किन्हीं व्याख्याकारों ने व्युत्पत्ति के द्वारा ही 'तर्क' शब्द का अर्थ 'पदार्थ किया है—तर्क्यन्ते तर्कसहकृतप्रमाणजन्यप्रमितिविषयीक्रियन्ते इति तर्काः पदार्थाः (गौरीकान्त—तर्कभाषाप्रकाशिका) अन्य टीकाकार गोवर्धनमिश्र के अनुसार भी यहाँ तर्क का अर्थ प्रमाण आदि षोडश पदार्थ ही है (तर्काः षोडश पदार्थाः, तर्कभाषाप्रकाशिका) । अन्नंभट्ट ने तर्कसंग्रहदीपिका में भी तर्क शब्द का यही अर्थ किया है । तथ्य यह प्रतीत होता है कि न्यायविद्या या न्यायशास्त्र का एक नाम 'तर्क' भी प्रचलित हो गया था (द्र० भूमिका), इसी आधार पर इस ग्रन्थ के नाम भी तर्कभाषा रक्खा गया । न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के कतिपय अन्य ग्रन्थों का नाम भी इसी प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं; जैसे तर्कसंग्रह (अन्नंभट्ट), तर्कामृत (जगदीशतर्कालङ्कार), तर्ककौमुदी (लौगाक्षिभास्कर) आदि ।

'संक्षिप्तयुक्त्यन्वित' (संक्षिप्त युक्तियों से अन्वित), यह तर्कभाषा का विशेषण है। 'युक्ति' का अर्थ है—साधक-बाधक प्रमाणों को प्रस्तुत करना (न्यायकोश), अथवा सद्-असद् का विवेचन युक्ति कहलाता है (सदसद्विवेचनं युक्तिः, गौ० का०)। प्रस्तुत ग्रन्थ में संक्षिप्त युक्तियों के द्वारा प्रमाण आदि पदार्थों का विवेचन किया गया है। इसका प्रयोजन है—आलसी बालकों का भी अल्प प्रयास से न्यायशास्त्र में प्रवेश कराना।

यहाँ आलसी (अलसः) का अर्थ है परिश्रम से बचने वाला। बालक (बालः) का अर्थ है—अज्ञ, प्रमाण आदि के ज्ञान से रहित व्यक्ति। जो व्याकरण आदि का आवश्यक ज्ञान रखता है, प्रमाण आदि के ज्ञान से शून्य है, किन्तु उन पदार्थों के ज्ञान का सामर्थ्य रखता है (ग्रहणधारणपटुः) उसे यहाँ बालक कहा गया है। 'श्रुत' का अर्थ है श्रवण अर्थात् गुरुमुख से शास्त्र को सुनना (=पढ़ना=अध्ययन)। न्याय शब्द का अर्थ है प्रमाणों द्वारा पदार्थों की परीक्षा (प्रमाणैरर्थपरीक्षणं) न्या० भा० (१. १. १) अथवा न्याय शब्द से प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय-निगमन इन पाँच अवयवों वाले अनुमान वाक्य को कहा जाता है। इन पाँच अवयवों में सभी प्रमाणों का समन्वय हो जाता है (न्या० भा० १. १. १)। प्रधान रूप से न्याय का प्रतिपादन करने के कारण शास्त्र भी न्यायशास्त्र कहलाता है। परम्परा के अनुसार गौतम के दार्शनिक सम्प्रदाय के लिये 'न्याय' शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। 'न्यायनय' शब्द में 'न्याय' का यही अर्थ लेना उचित है। चिन्नं भट्ट के अनुसार 'नय' शब्द का अर्थ है—शास्त्र (नयशब्दः शास्त्रवचनः) अथवा 'नय' का अर्थ मत या सिद्धान्त होता है 'प्रवेश' का सामान्य अर्थ है—भीतर जाना। अधिकारी के भेद से इनके दो अर्थ हो जाते हैं (१) जो प्रमाण आदि से नितान्त अनभिज्ञ हैं उनके सन्दर्भ में 'प्रवेश' का अर्थ है—सामान्य परिचय (२) जो न्यायशास्त्र का अध्ययन करके भी उसके सिद्धान्तों की गहराई में नहीं प्रविष्ट हो सके, उनके सन्दर्भ में प्रवेश का अर्थ होगा—गहराई में उतरना=विवेकपूर्वक न्याय के सिद्धान्तों को समझना। बालोऽपि में अपि (भी) शब्द के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने दो प्रकार के अधिकारियों को लक्ष्य करके यह ग्रन्थ लिखा है—(i) न्यायशास्त्र में प्रवेश करने का इच्छुक किन्तु परिश्रम से बचने वाला (अलसः) बालक तथा (ii) न्यायशास्त्र में प्रवेश (गहन पाण्डित्य) करने का इच्छुक अन्य व्यक्ति, जो न्यायशास्त्र का अध्ययन करके भी उसके सिद्धान्तों की गहराई में नहीं जा सका (अलसः=मन्द)। अपि शब्द से इसकी प्रतीति होती है। ये दोनों प्रकार के व्यक्ति अल्प अध्ययन से ही इस ग्रन्थ द्वारा न्याय के सिद्धान्तों में प्रवेश कर सकते हैं, यह भाव है।

इस प्रकार तर्कभाषा नामक ग्रन्थ का विषय है प्रमाण आदि षोडश पदार्थ, इसका प्रयोजन है, अल्प अध्ययन से ही न्याय के सिद्धान्तों का (१) परिचय कराना तथा (२) विवेकपूर्वक बोध कराना। इसके अधिकारी हैं—

'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-

(१) न्याय के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ किन्तु उनका परिचय करने के इच्छुक आलसी जन तथा (२) न्यायशास्त्र का अध्ययन करके भी उसके सिद्धान्तों की गहराई में न जा सकने वाले व्यक्ति। विषय तथा ग्रन्थ का प्रतिपाद्य प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध है ; अर्थात् यह ग्रन्थ प्रमाण आदि का प्रतिपादक है। अधिकारी तथा ग्रन्थ का बोध्य बोधक-भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार इस कारिका में 'अनुबन्धचतुष्टय' को सूचित किया गया है।

जिनका ज्ञान होने से किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है वे अनुबन्ध कहलाते है—'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्'। वे अनुबन्ध चार हैं—विषय, प्रयोजन, अधिकारी तथा सम्बन्ध। संस्कृत वाङ्मय में ग्रन्थारम्भ में अनुबन्धचतुष्टय के निरूपण की परम्परा प्रचलित है।

यदि न्याय के सिद्धान्तों में प्रवेश कराना इस ग्रन्थ का प्रयोजन मान भी लिया जाये तो मानव की इसके अध्ययन में प्रवृत्ति क्यों होगी ? मानव की प्रवृत्ति तो उस कार्य में होती है जिसे वह अपने इष्ट का साधन समझता है—जो पुरुषार्थ-सिद्धि का निमित्त होता है। इसलिये उपर्युक्त प्रयोजन को इस ग्रन्थ का अवान्तर प्रयोजन समझना चाहिये। वस्तुतः तर्कभाषा एक प्रकरण ग्रन्थ है, (द्र० टिप्पणी तथा भूमिका) अतः पुरुषार्थ की दृष्टि से इसका भी प्रयोजन आदि वही है, जो न्यायशास्त्र का है न्यायशास्त्र के प्रयोजन आदि का आगे निरूपण किया जा रहा है।

टिप्पणी—(i) शिष्टाचार से विदित होता है कि ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये ग्रन्थ के आरम्भ में 'इष्टदेवता को प्रणाम' आदि के रूप में मङ्गल करना चाहिये ; किन्तु तर्कभाषाकार ने ऐसा नहीं किया। इसके कई कारण हो सकते हैं; जैसे (क) विघ्नों के अभाव का निश्चय होने से यहाँ मङ्गल नहीं किया गया, अथवा (ख) मन ही मन इष्टदेवता को नमस्कार कर लिया गया; किन्तु मङ्गल श्लोक की रचना नहीं की गई (चि०) (ii) **प्रकरण**—एक विशेष प्रकार के ग्रन्थ होते हैं, जिनमें शास्त्र के समस्त प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन नहीं किया जाता केवल कतिपय विषयों (एकदश) का प्रतिपादन किया जाता है; जिनका विवेचन शास्त्र से भिन्न प्रकार का होता है वह सुगठित, सरल, संक्षिप्त किन्तु विशद होता है तथा विषय के नवीनतम मन्तव्यों से युक्त भी। तर्कभाषा में न्यायशास्त्र के मुख्य-मुख्य विषयों का विशद विवेचन है अतः यह एक प्रकरण ग्रन्थ है (द्र० भूमिका)।

२. न्यायशास्त्र का प्रयोजन

न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों में प्रवेश कराना इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। अतः न्यायशास्त्र के वचन द्वारा ही न्याय के प्रतिपाद्य विषय तथा प्रयोजन आदि का निरूपण करते हैं:—

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव तर्क निर्णय, वाद,

जल्प—वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः' (न्या०सू०.१.१.१.)

इति न्यायस्यादिमं सूत्रम् ।

अस्यार्थः, प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति ।

जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान के तत्त्वज्ञान से मोक्ष (निःश्रेयस की प्राप्ति होती है । (न्यायसूत्र १.१.१.)

यह न्याय का प्रथम (आदिम) सूत्र है । इसका अर्थ है—प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

प्रमाण० इत्यादि गौतम के न्यायसूत्र का प्रथम सूत्र है । यहाँ प्रमाण से लेकर निग्रहस्थान तक १६ शब्दों का द्वन्द्व समास है । इनके तत्त्व अर्थात् स्वरूप का ज्ञान तत्त्वज्ञान कहलाता है, तत्त्वज्ञान शब्द का अर्थ है—सम्यग्ज्ञान; जैसा कि तर्कभाषाकार ने आगे कहा है—'तत्त्वज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्' । श्रवण, मनन, निदिध्यासन (सततध्यान) आदि तत्त्वज्ञान के साधन हैं । फलतः शास्त्र या गुरु से तत्त्व का श्रवण करके, मनन करके निदिध्यासन द्वारा जो साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है, वह सब तत्त्वज्ञान शब्द से गृहीत होता है । उसे ही निःश्रेयस का साधन कहा गया है । निश्रेयस = मोक्ष; यद्यपि संसार में अनेक प्रकार के श्रेयस् हैं तथापि 'निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर निश्रेयस शब्द से 'मोक्ष' अर्थ लिया जाता है । अधिगम शब्द का अर्थ है प्राप्ति । इस प्रकार प्रमाण आदि के सम्यक् ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह भाव निकलता है । वस्तुतः प्रमाण आदि पदार्थों का ज्ञान प्रमेय के तत्त्वज्ञान का साधन है । जैसा कि न्यायभाष्य आदि के अनुशीलन से विदित होता है, आत्मा आदि प्रमेयों का तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन है । यह तत्त्वज्ञान न्यायशास्त्र से प्राप्त होता है अतः शास्त्र को मोक्ष का परम्परया प्रयोजक माना जाता है। कुछ व्याख्याकारों के अनुसार तत्त्वज्ञान शब्द का अर्थ शास्त्र भी होता है । (तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या तत्त्वज्ञानं शास्त्रम्, न्या० वृ० १.१.१.) । इस दृष्टि से शास्त्र को साक्षात् रूप से मोक्ष में प्रयोजक माना जा सकता है । तत्त्वज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति होती है, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि तत्त्वज्ञान होते ही मोक्ष हो जाता है अपि तु तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति (नाश) होती है, मिथ्याज्ञान के नाश से दुःख आदि का नाश होने पर क्रमशः मोक्ष की प्राप्ति होती है, जैसा कि न्यायसूत्र है—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्गः (न्या० सू० १.१. २) ।

टिप्पणी—(i) इस सूत्र से ज्ञात होता है कि न्यायशास्त्र का विषय है–प्रमाण आदि षोडश पदार्थ । प्रमाण आदि के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति कराना प्रयोजन है । यहाँ विषय तथा प्रयोजन का साक्षात् निर्देश करके अधिकारी एवं

न च प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तावद्भवति यावदेषामुद्देशलक्षण-परीक्षा न क्रियन्ते । यदाह भाष्यकारः—

'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति' ।

(न्या० भा० १.१.२)

सम्बन्ध की सूचना दी गई है । मोक्ष के साधनभूत तत्त्वज्ञान का इच्छुक व्यक्ति इस शास्त्र का अधिकारी है प्रमाण आदि तथा शास्त्र का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है । प्रमाण आदि तत्त्वज्ञान के विषय हैं, अतः प्रमाण आदि तथा तत्त्वज्ञान का विषय-विषयि-भाव सम्बन्ध है । तत्त्वज्ञान का हेतु शास्त्र है अतः शास्त्र एवं तत्त्वज्ञान का हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध है । इस प्रकार न्यायशास्त्र का अनुबन्धचतुष्टय स्पष्ट है ।

(ii) सूत्र—वह संक्षिप्त वाक्य होता है जो बहुत से अर्थ को सूचित करता है। सूत्र का लक्षण है:—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

३. त्रिविधा शास्त्र-प्रवृत्ति (Procedure of exposition of sastra)

तत्त्वज्ञान=(सम्यक् ज्ञान) से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है । इस तत्त्वज्ञान का साधन न्यायशास्त्र है । किन्तु केवल प्रमाण आदि पदार्थों के कथनमात्र से ही तो तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता अपि तु शास्त्र में उन पदार्थों का युक्ति-युक्त विवेचन किया जाता है, तभी शास्त्र तत्त्वज्ञान का साधन होता है । शास्त्र में पदार्थों के विवेचन की प्रक्रिया को ही शास्त्र-प्रवृत्ति कहा गया है । न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की मानी गई है—

प्रमाण आदि का तत्वज्ञान अर्थात् सम्यक् ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जबतक इनके उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा नहीं किये जाते । जैसा कि भाष्यकार (न्याय-भाष्य के कर्त्ता वात्स्यायन) ने कहा है—इस (न्याय) शास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है १. उद्देश २. लक्षण तथा ३. परीक्षा ।

शास्त्रों में पदार्थों का सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादन करना होता है। इसलिए प्रतिपादन की वैज्ञानिक प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है । इस प्रक्रिया के तीन अङ्ग हैं—उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा । इन तीनों की ही उपयोगिता है । आगे इन तीनों के स्वरूप पर विचार किया जायेगा । तदनुसार नाममात्र से पदार्थ-कथन ही उद्देश है । यदि पदार्थों का उद्देश ही न किया जाये तो लक्षण किसका किया जायेगा । अतः पदार्थों के सुचारु विवेचन के लिये उनका नाम लेकर बतलाना (=उद्देश) परम आवश्यक है । किन्तु नाममात्र से पदार्थ का कथन करने के पश्चात् यदि उसका लक्षण न किया जाये—स्वरूप न बतलाया जाये—तो उस पदार्थ का ज्ञान न हो सकेगा । इसलिये लक्षण भी अनिवार्य ही है । फिर भी यदि किये गये लक्षण की परीक्षा न की जाये—उसके तथ्यातथ्य का निर्णय न किया जाये तो पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के विषय

में सन्देह हो सकता है तब पदार्थ का तत्त्वज्ञान=सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। अतः लक्षण की परीक्षा करनी होती है। इसलिये पदार्थों के परिगणन (उद्देश) के पश्चात् जब तक लक्षण एवं परीक्षा न की जायेगी पदार्थों का तत्त्वज्ञान न होगा। फलतः न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति (=विवेचन की प्रक्रिया) के तीन अङ्ग माने गये हैं। यहाँ 'त्रिविधा' का अर्थ है तीन अङ्गों वाली। इन तीनों अङ्गों में उद्देश को प्रथम स्थान पर रक्खा गया है; क्योंकि धर्मी का नाममात्र से कथन ही उद्देश है और धर्मी तथा धर्म में धर्मी ही प्रधान होता है। परीक्षा के पहले लक्षण को इसलिये रक्खा गया है क्योंकि लक्षण के विषय में विचार करना है।

टिप्पणी—वात्स्यायन ने 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः' ऐसा कहा है। यहाँ 'अस्य' [=इस (शास्त्र) की] शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि न्यायशास्त्र में तीन प्रकार की प्रवृत्ति स्वीकार की गई है, सभी शास्त्रों में ऐसा नहीं है। जिन शास्त्रों में श्रद्धा को ही प्रधानता दी जाती है वहाँ केवल पदार्थों के कथनमात्र को ही तत्त्वज्ञान का साधन मान लिया जाता है। अतः वहाँ शास्त्र की प्रवृत्ति एक प्रकार की होगी। किञ्च, श्रीधर ने प्रशस्तपाद भाष्य की 'न्यायकन्दली' नामक टीका में दो प्रकार की ही शास्त्र प्रवृत्ति स्वीकार की है—**पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं च, परीक्षायास्त्वनियमः**' अर्थात् पदार्थों का प्रतिपादन करने के लिये जो शास्त्र प्रवृत्त हुआ है उसकी दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है उद्देश तथा लक्षण, परीक्षा का तो कोई नियम नहीं है। श्रीधर ने यह स्पष्ट किया है कि जहाँ अभिहित लक्षण में मतान्तर का निराकरण कर के तत्त्वनिर्णय करना होता है वहीं परीक्षा की आवश्यकता होती है, सर्वत्र नहीं। इसी हेतु न्यायशास्त्र म भी प्रयोजन आदि का लक्षण करके सन्तोष कर लिया गया है; उनके लक्षण की परीक्षा नहीं की गई (मि०, न्यायकन्दली पृ० ६८–६९)। इस प्रकार न्यायभाष्य के कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि न्यायशास्त्र के अधिकांश स्थलों पर उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा इन तीन अङ्गों वाली प्रवृत्ति का आश्रय लिया गया है, कहीं यह प्रवृत्ति नहीं भी दृष्टिगोचर होती है। फिर भी यहाँ बाहुल्येन त्रिविध प्रवृत्ति अपनाई गई है अतः "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः' यह कथन संगत होता है।

इस पर शङ्का यह होती है कि न्यायशास्त्र में कहीं तो पदार्थ का लक्षण करके विभाग कर दिया गया है फिर परीक्षा की गई है; जैसे छल आदि के सन्दर्भ में। दूसरी ओर कहीं पदार्थ का प्रकार (विभाग) बतलाकर फिर लक्षण तथा परीक्षा की गई है; जैसे प्रमाणों का विभाग करके तब 'प्रत्यक्ष' आदि के लक्षण किये गये हैं। इस प्रकार न्यायशास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति ही कैसे मानी जा सकती है? विभाग नामक चतुर्थ प्रवृत्ति भी माननी चाहिये।

उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम् । तच्चास्मिन्नेव सूत्रे कृतम् । लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम् । यथा गोः सास्नादिमत्त्वम् । लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा । तेनैते लक्षणपरीक्षे प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानार्थं कर्त्तव्ये ।

न्यायवार्त्तिक (१.१.३) तथा न्यायमञ्जरी में इस शङ्का का समाधान करते हुए बतलाया गया है कि विभाग (वर्गीकरण) का अन्तर्भाव उद्देश में ही हो जाता है— **उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात्** (न्या० वा० १.१.३); क्योंकि दोनों के लक्षण समान हैं । नाममात्र से पदार्थ का कथन ही उद्देश कहलाता है । विभाग में भी पदार्थ के प्रकारों का नाममात्र से कथन किया जाता है । इस प्रकार न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है, यह कथन उचित ही है ।

उद्देश लक्षण तथा परीक्षा के रूप में जो न्यायशास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति बतलाई गई है, उसमें प्रत्येक उद्देश आदि के स्वरूप (लक्षण) को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

१. नाममात्र से पदार्थ का कथन उद्देश है वह (नाममात्र से वस्तुसंकीर्तन) (न्यायदर्शन के) इसी (प्रमाण० इत्यादि) सूत्र में किया गया है । २. असाधारण धर्म का कथन लक्षण (कहा जाता) है; जैसे सास्ना (गलकम्बल) आदि वाली होना गौ का लक्षण है । ३. जिसका लक्षण किया गया है (लक्षित) उसका यह लक्षण ठीक है या नहीं, इस प्रकार विचार करना परीक्षा है । इसलिये (=तेन टि०) प्रमाण आदि के तत्त्वज्ञान के लिये लक्षण एवं परीक्षा करनी चाहिये ।

(i) उद्देश का लक्षण तथा उदाहरण

'नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनम्, यह उद्देश का लक्षण किया गया है । इस लक्षण में स्थित पदों का विशिष्ट प्रयोजन है । यदि यहाँ 'मात्र' शब्द न रक्खा जाये और नाम्ना वस्तुसंकीर्तनम्' यही उद्देश का लक्षण किया जाये तो 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इत्यादि लक्षण-वाक्यों में भी उद्देश का यह लक्षण चला जायेगा, क्योंकि वहाँ भी नाम लेकर 'प्रमाण' (वस्तु=पदार्थ) का कथन किया गया है 'मात्र' शब्द रखने पर तो वहाँ उद्देश का लक्षण नहीं जाता, क्योंकि वहाँ केवल नाममात्र से प्रमाण का कथन नहीं है अपि तु प्रमाण के स्वरूप का कथन भी है । यदि इस लक्षण में 'नाममात्रेण' यह पूरा पद ही न रक्खा जाये 'वस्तुसंकीर्तनम्' इतना ही लक्षण वाक्य रहे तो उद्देश के उस लक्षण की लक्षण तथा परीक्षा सभी में अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि वस्तु का निरूपण (=प्रतिपादन) तो वहाँ भी होता ही है । 'नाममात्रेण' पद रखने पर तो अतिव्याप्ति नहीं होती; क्योंकि वहाँ केवल नाममात्र से वस्तु का कथन नहीं होता अपितु उसका लक्षण-कथन आदि भी होता है । इसी प्रकार यदि इस लक्षण में 'वस्तु' शब्द न रक्खा जाये, 'नाममात्रेण संकीर्तनम्' इतना ही लक्षण किया जाये तो जहाँ कहीं भी प्रमाण आदि के नाम का कथन होगा वहीं वह उद्देश कहलाने लगेगा । किन्तु शास्त्र

के उस अंश को ही उद्देश कहना अभीष्ट है, जहाँ प्रथमतः किसी पदार्थ का नाम लेकर निर्देश किया जाता है । इसलिये 'उद्देश' का अर्थ किया जाता है उपदेशदेश । इस प्रकार न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में जो प्रमाण-प्रमेय आदि पदार्थों का नाममात्र कथन करके उपदेश किया गया है वह न्यायशास्त्र की उद्देशात्मक प्रवृत्ति का उदाहरण है।

टिप्पणी—(i) तर्कभाषा का उद्देश-लक्षण वात्स्यायन के उद्देश-लक्षण पर आधारित है । वात्स्यायन ने यह लक्षण किया है—तत्र **नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः** (न्या० भा० १.१.२) । (ii) **पदकृत्य**—यहाँ उद्देश के लक्षण का पदकृत्य दिखलाया गया है । किसी लक्षण में किस पद के रखने की क्या उपयोगिता है ? इस विचार को पदकृत्य (=पद का प्रयोजन) करते हैं। पद की उपयोगिता को जानने की सुगम रीति यह है कि लक्षण में से उस पद को हटाकर देखा जाये कि क्या दोष होता है ? तथा उस पद को रखने से दोष का निराकरण कैसे हो जाता है ।

(i) **लक्षण का लक्षण तथा उदाहरण**

उद्दिष्ट पदार्थ का लक्षण किया जाता है । लक्षण के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि लक्षण का क्या प्रयोजन है । लक्षण के दो प्रयोजन माने गये हैं । व्यावृत्ति तथा व्यवहार (व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्) । व्यावृत्ति का अर्थ है—भेद, भिन्नता । जिस वस्तु का लक्षण किया जाता है उसके कुछ समान जाति के (सजातीय) पदार्थ होते हैं कुछ भिन्न जाति के (विजातीय) । लक्षण के द्वारा लक्षित वस्तु का सजातीय तथा विजातीय दोनों प्रकार के पदार्थों से भेद दिखला दिया जाता है, जैसे "सास्नादिमान् प्राणी गौ है" यह कहने से गाय के सजातीय जो भैंस आदि (चतुष्पद) हैं उनकी व्यावृत्ति (व्यवच्छेद, भेद) हो जाती है; क्योंकि उनके सास्ना (गलकम्बल) आदि नहीं होती । इस लक्षण द्वारा गाय के विजातीय जो मनुष्य या मयूर आदि (द्विपद) हैं अथवा जो वृक्ष आदि जड़ पदार्थ हैं उनकी भी व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि उनके भी सास्ना (गलकम्बल) आदि नहीं होती । लक्षण का दूसरा प्रयोजन है व्यवहार, अर्थात् जिस वस्तु का लक्षण किया जा रहा है (लक्ष्य) उसके लिये लक्ष्यबोधक पद का प्रयोग । उदाहरणार्थ 'गोत्ववान् गौः' (गोत्व जाति वाली गाय है), यह गोपदार्थ का लक्षण है । यहाँ गोपदार्थ (गोपिण्ड) लक्ष्य है, उसका बोधक गोपद है । इस लक्षण के द्वारा गोपदार्थ में गौ शब्द का प्रयोग सिद्ध होता है । यह भी ध्यान रखने योग्य है कि इनमें से पहिला लक्षण (सास्नादिमत्त्वं गोर्लक्षणम्) केवल व्यावर्तक है, व्यावृत्ति प्रयोजन को सिद्ध करता है। दूसरा लक्षण (गोत्ववान् गौः) व्यावर्तक भी है तथा व्यवहार का साधन भी । कुछ लक्षण ऐसे भी होते हैं जो केवल व्यवहार के ही साधक होते हैं, जैसे 'ज्ञेयत्वं ज्ञेयलक्षणम्' यहाँ ज्ञेयत्वम् "ये ज्ञेय हैं" (=ज्ञान के विषय हैं) इस व्यवहार का साधक है । इससे किसी पदार्थ की व्यावृत्ति नही होती क्योंकि समस्त पदार्थ ही ज्ञेय

हैं अर्थात् ज्ञान के विषय हैं। इसी प्रकार अभिधेयत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि केवलान्वयी धर्म केवल व्यवहार के निमित्त हुआ करते हैं, व्यावृत्ति के निमित्त नहीं होते।

तर्कभाषाकार के अनुसार लक्षण का लक्षण है—"असाधारणधर्मवचनम्" यदि यहां केवल 'धर्मवचनं लक्षणम्' इतना ही कहा जाता, 'असाधारण' विशेषण का ग्रहण न किया जाता तो यह लक्षण सजातीय तथा विजातीय पदार्थों की व्यावृत्ति न कर सकता और न ही व्यवहार का निमित्त होता। क्योंकि साधारण धर्म तो अन्य पदार्थों की व्यावृत्ति करने में समर्थ नहीं होता; जैसे—प्राणी होना (प्राणधारित्व) भी गौ का एक धर्म है यह उसका साधारण धर्म है, असाधारण नहीं। वह जिस प्रकार गौ में रहता है, उसी प्रकार भैंस आदि में भी। इसलिये असाधारण-धर्म-कथन-को ही लक्षण माना गया है। असाधारण धर्म का अभिप्राय है—विशेष धर्म, जो केवल लक्ष्य में ही रहता है, लक्ष्यभिन्न में नहीं। इस असाधारण धर्म की तीन विशेषताएँ होती हैं—(क) यह लक्ष्य में अवश्य रहता है। (ख) सभी लक्ष्यों में रहता है, (ग) लक्ष्य से बाहर नहीं रहता। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि असम्भव, अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति इन तीनों दोषों से रहित धर्म लक्षण कहलाता है—**असंभवाव्याप्त्यतिव्याप्तिरूपदोषत्रयराहितो धर्मो लक्षणम्**; जैसे 'सास्नादिमत्त्व' गो का लक्षण है। यहाँ सभी गौ लक्ष्य है, क्योंकि उनका लक्षण किया जा रहा है।

'सास्नादिमान् होना' गौ का असाधारण धर्म है, यह उपर्युक्त तीनों दोषों से रहित है। पहिला दोष असंभव नाम का है। असंभव दोष वहाँ होता है जहाँ लक्षण रूप में कहा गया धर्म लक्ष्य में कहीं भी न रहता हो (लक्ष्यमात्रावृत्तित्वम् असंभवः); कोई कहे 'एकशफत्वं गोर्लक्षणम्' जो एक शफ वाली (एक खुर वाली, बिना चिरे खुर वाली) होती है वह गाय है। यह कथन असंभव दोष से ग्रस्त होगा। कारण, गौ तो द्विशफ प्राणी है, उसके खुर बीच से चिरे होते हैं। कोई भी गौ एक शफ वाली नहीं होती। घोड़ा आदि ही एक शफ वाले होते हैं। इस प्रकार यहाँ लक्षण रूप में कहा गया 'एकशफत्व' धर्म किसी भी गाय में नहीं रहता (लक्ष्यमात्र + अवृत्ति) है। अतः यहाँ असंभव दोष है और यह वचन गौ का लक्षण नहीं हो सकता।

दूसरा दोष अव्याप्ति है। जहाँ लक्षण के रूप में कहा गया धर्म लक्ष्य के एक भाग में रहता है, अन्य भागों मे नहीं; वहाँ अव्याप्ति दोष कहलाता है (लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम् अव्याप्तिः)। कोई कहे 'कृष्णत्वं गोर्लक्षणम्' काला होना गाय का लक्षण है (अथवा गाय काली होती है)। यह कथन अव्याप्ति दोष के कारण गौ का लक्षण न होगा। ठीक है कुछ गाय काली (कृष्णा) भी होती हैं किन्तु सभी गायों में तो कालापन (कृष्णत्व) नहीं होता। अतः यहाँ अव्याप्ति नामक लक्षण-दोष है।

तीसरा दोष अतिव्याप्ति है। जहाँ लक्षण के रूप में कहा गया धर्म लक्ष्य से भिन्न वस्तुओं में भी होता है, वहाँ अतिव्याप्ति दोष कहलाता है (अलक्ष्यवृत्तित्वम्-अतिव्याप्तिः)। यदि कोई कहे 'शृङ्गित्वं गोर्लक्षणम्' सींग वाली होना गाय का

लक्षण है। यह कथन अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण लक्षण न होगा। यद्यपि गाय के सींग होते हैं (अतः यहाँ असंभव दोष नहीं है), सभी गायों के सींग होते हैं (अतः यहाँ अव्याप्ति दोष नहीं है), तथापि गाय से भिन्न जो भैंस आदि हैं उनके भी तो सींग होते हैं। यहाँ केवल गौ ही लक्ष्य हैं,भैंस आदि तो लक्ष्य नहीं; वे लक्ष्य से भिन्न (=अलक्ष्य) हैं। उनमें भी 'शृङ्गित्व' धर्म विद्यमान है। अतः यहाँ अतिव्याप्ति नामक लक्षण दोष है।

गौ का सास्नादिमत्त्व धर्म तीनों दोषों से रहित है, यहाँ गौ लक्ष्य है, उसमें सास्ना (=गलकम्बल) होती ही है। अतः यहाँ असंभव दोष नहीं है। गलकम्बल सभी गायों में होता है ऐसा नहीं कि किसी गाय में होता हो, किसी में नहीं भी। अतः यहाँ अव्याप्ति दोष भी नहीं है। किञ्च, गाय से भिन्न जो भैंस आदि प्राणी (अलक्ष्य) हैं, उनमें गलकम्बल नहीं होता। अतः यह धर्म अलक्ष्य में नहीं रहता और यहाँ अतिव्याप्ति दोष नहीं हो सकता। इस प्रकार सास्नादिमत्त्व धर्म असंभव आदि तीनों दोषों से रहित है, यह गौ का असाधारण धर्म है तथा गौ का लक्षण है।

टिप्पणी—(i) उपर्युक्त तीन दोषों के अतिरिक्त लक्षण के कुछ अन्य भी दोष होते हैं जैसे आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक तथा अप्रसिद्धि आदि। उनके होने पर लक्षण का युक्तियुक्त रूप प्रस्तुत ही नहीं हो पाता। (ii) यहाँ गौ लक्ष्य है, गौ में रहने वाली सामान्य जो गोत्व है वह लक्ष्यतावच्छेदक है। सास्नादिमत्त्व धर्म गोत्वा के साथ नियत रूप से रहता है। यह कहा जा सकता है कि "जहाँ-जहाँ सास्नादिमत्त्व होता है वहाँ वहाँ गोत्व होता है" अथवा 'जहाँ जहाँ गोत्व होता है वहाँ वहाँ सास्नादिमत्त्व होता है"। इसलिए यह भी कहा जाता है—**लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतो धर्मो लक्षणम्।**

(iii) परीक्षा का लक्षण तथा उदाहरण

जिनका लक्षण किया गया है वह लक्षित कहलाता है। परीक्षा में यह विचार करना होता है:—(१) अपना किया हुआ लक्षण लक्षित वस्तु में भली भाँति घटित होता है या नहीं, (२) अन्य आचार्यों या सम्प्रदायवेत्ताओं अथवा व्याख्याकारों ने जो उस पदार्थ के लक्षण किये हैं वे कहाँ तक युक्ति-युक्त हैं। उदाहरणार्थ आगे 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह प्रमाण का लक्षण किया गया है। वहाँ विस्तारपूर्वक परीक्षा की गई है कि प्रमाण का यह लक्षण किस प्रकार लक्षित पदर्थों में घटित होता है। किञ्च, यह भी दिखलाया गया है कि 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' आदि जो मीमांसक का लक्षण है वह युक्तियुक्त नहीं है।

इस प्रकार उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा त्रिविधा शास्त्र-प्रवृत्ति है। इसके द्वारा ही किसी पदार्थ का विशद विवेचन किया जा सकता है। प्रमाण० इत्यादि सूत्र में पदार्थों का उद्देश किया जा चुका है अतः आगे उन पदार्थों के लक्षण बतलाने हैं तथा उन लक्षणों की परीक्षा करनी है। इसीलिये कहा गया है—तेनैते इत्यादि। यहाँ 'तेन' (—इसलिये) शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की गई है—(१) प्रमाण० इत्यादि

[प्रमाणम्]

तत्रापि प्रथममुद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमुच्यते । प्रमाकरणं

सूत्र में उद्देश मात्र किया गया है लक्षण तथा परीक्षा शेष हैं अतः (=तेन) लक्षण तथा परीक्षा करनी चाहिये (चि०, पृ० १०२), (२) प्रमाण० इत्यादि सूत्र में प्रमाण आदि पदार्थों का नाम निर्देश (उद्देश) कर देने पर भी लक्षण एवं परीक्षा किये बिना उनका सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये (=तेन) लक्षण एवं परीक्षा करनी चाहिये ।

४. प्रमाण-लक्षण

न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में जिन १६ पदार्थों का नाम-निर्देश (उद्देश) किया गया है, उनमें प्रथम है--प्रमाण । शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति के अनुसार उद्देश के पश्चात् उसका लक्षण करना चाहिये । किन्तु न्यायसूत्रकार ने प्रमाण-सामान्य का लक्षण नहीं किया । उन्होंने प्रमाण के प्रत्यक्ष आदि चार विभाग करके प्रत्यक्ष आदि के ही पृथक्-पृथक् लक्षण किये हैं प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सूत्रकार ने प्रमाण-सामान्य का लक्षण क्यों नहीं किया । इसका उत्तर वात्स्यायन-भाष्य में उपलब्ध होता है । वात्स्यायन बतलाते हैं--

उपलब्धिसाधनानि प्रमाणनीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्यम् । प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः (न्या० भा० १·१·३) ।

अर्थात् उपलब्धि (=प्रमा) के साधन को प्रमाण कहते हैं यह बात प्रमाण-संज्ञा के निर्वचन (व्युत्पति) के आधार पर जान लेनी चाहिये । जिसके द्वारा प्रमा की जाती है, इस व्युत्पत्ति से प्रमाण शब्द करण अर्थ को कहता है । भाव यह है कि 'प्र' उपसर्गपूर्वक √मा धातु से करण अर्थ में ल्युट् (अन) प्रत्यय होकर प्रमाण शब्द निष्पन्न होता है । इस व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं ।

टि०—यद्यपि न्यायसूत्र (१·१·१५) में उपलब्धि को ज्ञान का समानार्थक बतलाया गया है तथापि 'उपलब्धिसाधनानि' इस न्यायभाष्य में 'उपलब्धि शब्द का अर्थ सम्यक् उपलब्धि=यथार्थानुभव=प्रमा ही करना उचित है । तभी प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं, यह अर्थ प्रकट हो सकता है ।

इस प्रकार न्यायसूत्र में 'प्रमाण' को अन्वर्थ संज्ञा मानकर उसके आधार पर ही प्रमाण-सामान्य का लक्षण समझ लिया जाता है । किन्तु तर्कभाषा नामक ग्रन्थ तो अल्प प्रयास से स्पष्ट बोध कराने के लिये लिखा गया है, अतः यहाँ प्रमाण-सामान्य का लक्षण दिया जाता है :—

उन (प्रमाण आदि पदार्थों) में प्रथम कहे गये (उद्दिष्ट) प्रमाण का लक्षण

प्रमाणम् । अत्र च प्रमाणं लक्ष्यं प्रमाकरणं लक्षणम् ।

ननु प्रमायाः करणं चेत् प्रमाणं तर्हि तस्य फलं वक्तव्यम्, करणस्य फलवत्त्वनियमात् । सत्यम् । प्रमैव फलं साध्यमित्यर्थः । यथा छिदाकरणस्य परशोश्छिदैव फलम् ।

पहिले कहा जाता है : प्रमा का करण प्रमाण है, इसमें प्रमाण (पद) लक्ष्य है, 'प्रमा का करण' यह लक्षण है ।

(शङ्का) आदि प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है तो उस (करण) का फल बतलाना होगा; क्योंकि करण फलवान् होता है, यह नियम है ।

(समाधान) ठीक है (कि साधन या कारण का कोई फल अवश्य होता है); यहाँ प्रमा ही फल है । अभिप्राय यह है कि (प्रमाण रूप साधन के द्वारा) प्रमा ही साध्य है । जिस प्रकार छेदन (काटने) के साधनभूत फरसे (परशु) का फल छेदन होता है (उसी प्रकार यहाँ प्रमा के करण प्रमाण का फल प्रमा ही है ।

न्यायसूत्रकार ने प्रमाण० इत्यदि उद्देशसूत्र में प्रमाण को प्रथम स्थान पर रक्खा है । उनका आशय यह प्रतीत होता है :—तत्त्वज्ञान के लिये शास्त्र में पदार्थों का प्रतिपादन करना है । इनमें मुख्य रूप से आत्मा आदि (प्रमेय) का तत्त्वज्ञान ही निःश्रेयस का साधन है । किन्तु प्रमेय का ज्ञान तो प्रमाण के द्वारा ही हुआ करता है । 'मानाधीना मेयसिद्धिः' इस न्याय के अनुसार प्रमाण ही समस्त पदार्थों का व्यवस्थापक है । अतः प्रथमतः प्रमाण का निर्देश करना ही उचित है । शास्त्र में प्रथमतः प्रमाण का निर्देश किया गया है, इसलिये यहाँ भी पहिले प्रमाण का लक्षण किया जा रहा है ।

प्रमाण का अक्षण—प्रमाकरणं प्रमाणम् । यहाँ प्रमाण का लक्षण करना है अतः 'प्रमाणम्' यह पद लक्ष्य है । 'प्रमाकरण' (=प्रमा का करण), यह पद लक्षण है । इस प्रकार प्रमा का करण 'प्रमाण' कहलाता है, यह लक्षण या परिभाषा है । इस पर 'ननु······नियमात्' इस पंक्ति में शङ्का की गई है । शङ्का का आशय यह है:— लोक में देखा जाता है कि करण या साधन वह कहलाता है, जिसका प्रयोग करने के अनन्तर उस कार्य (फल, साध्य) की सिद्धि हो जाती है जिसकी सिद्धि के लिये साधन का प्रयोग किया जाता है । उदाहरणार्थ कोई फरसे से लकड़ी काटता है (परशुना काष्ठं छिनत्ति) । यहाँ फरसा करण कहलाता है । उसके प्रयोग के अनन्तर कटना (छिदा) रूप फल हुआ करता है । इस प्रकार सर्वत्र नियम यह है कि करण अवश्य ही फलवान् — फल से युक्त होता है । नैयायिकों के अनुसार करण की एक परिभाषा यह भी है—'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्' अर्थात् उस कारण को करण कहते हैं जिसका प्रयोग होने पर फल का अभाव नहीं रहता, फल अवश्य ही हो जाया करता है । इस नियम के अनुसार प्रमाण (=प्रमा के करण) का भी कोई फल अवश्य मानना चाहिये ।

[प्रमा]

का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम् ।

उच्यते । यथार्थानुभवः प्रमा । यथार्थ, इत्ययथार्थानां संशयविपर्यय-तर्कज्ञानानां निरासः । अनुभव इति स्मृतेर्निरासः ।

ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः । अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम् ।

'सत्यम्······फलम्' इत्यादि ग्रन्थ में उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है कि हम भी मानते हैं, कारण का कोई फल अवश्य होता है । प्रमा का करण या साधन जो प्रमाण है उसका फल प्रमा ही है । भाव यह है कि प्रमाण के द्वारा प्रमा रूप कार्य किया जाता है, प्रमाण है साधन और प्रमा है—साध्य ।

५. प्रमा का लक्षण—

प्रमाण के लक्षण में दो पद हैं प्रमा तथा करण । इन दोनों के स्वरूप का भली-भांति ज्ञान होने पर ही प्रमाण का लक्षण ठीक प्रकार से जाना जा सकता है। अतः प्रमा का स्वरूप बतलाते हैं—

फिर (वह) प्रमा क्या है किसका कारण प्रमाण कहलाता है ? बतलाते हैं ; यथार्थ अनुभव प्रमा है यहाँ यथार्थ इस (पद) से संशय, भ्रान्ति (=विपर्यय) तथा तर्क इन अयथार्थ अनुभवों का निराकरण किया गया है । 'अनुभव' इस 'पद' के द्वारा स्मृति का निराकरण किया गया है । स्मृति वह ज्ञान है जिसका विषय (पहिले ही) ज्ञात होता है । स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव है ।

प्रमा का लक्षण है 'यथार्थानुभवः प्रमा' । यहाँ 'प्रमा' यह पद लक्ष्य है । 'यथार्थानुभवः' यह पद लक्षण है । इसमें दो शब्द हैं यथार्थ तथा अनुभव । प्रत्येक शब्द का विशिष्ट प्रयोजन (पदकृत्य) है जिसे समझने के लिये न्याय-वैशेषिक के ज्ञान-सिद्धान्त पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है ।

ज्ञान दो प्रकार का होता है अनुभव तथा स्मृति । जिस ज्ञान का विषय पहिले ही ज्ञात रहता है उसे स्मृति कहते हैं । इसका आधार पूर्व अनुभव हुआ करता है । हम किसी वस्तु को देखते या छूते हैं, यह उसका अनुभव कहलाता है । इस अनुभव का संस्कार हमारी आत्मा में रहता है और फिर संस्कार के उद्बुद्ध हो जाने से उस वस्तु की स्मृति हो जाया करती है (द्र०, टि०) । इसलिये स्मृति का लक्षण किया गया है—ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः । ज्ञातः विषयः यस्य=पहिले जाना गया पदार्थ ही जिस ज्ञान का विषय होता है, वह स्मृति नामक ज्ञान है । स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं ।

अनुभव भी दो प्रकार का होता है—यथार्थ और अयथार्थ । जो अर्थ (वस्तु, पदार्थ) जैसा होता है यदि उसका अनुभव भी उसी रूप में होता है तो वह अनुभव यथार्थ कहलाता है । फलतः तर्कभाषाकार ने यथार्थाऽनुभव का लक्षण किया है—

यथार्थोऽर्थाविसंवादी = अर्थ के अनुरूप ज्ञान यथार्थ है। (द्र०, बुद्धिप्रकरण)। यथार्थ से विपरीत अनुभव को अयथार्थ कहते हैं। जो अर्थ जैसा होता है, उसका अनुभव उसी रूप में नहीं होता तो अनुभव अयथार्थ कहलाता है। वहाँ पदार्थ के स्वरूप की अपेक्षा भिन्न प्रकार से उसका अनुभव होता है। अनुभव पदार्थ स्वरूप से मेल नहीं खाता। इसी को प्रकट करने के लिये तर्कभाषाकार ने आगे कहा है—**अयथार्थः तु अर्थव्यभिचारी**—अर्थात् अयथार्थ अनुभव तो अर्थ के अनुरूप नहीं हुआ करता है।

अयथार्थ अनुभव भी तीन प्रकार का माना गया है—संशय, तर्क तथा विपर्यय। इनके लक्षण न्यायसम्प्रदाय के आचार्यों ने भी भिन्न-भिन्न शब्दों में किये हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार इन्हें संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है।

पहिला अयथार्थ अनुभव संशय है। किसी एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का ज्ञान संशय कहलाता है—**एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः** (तर्कभाषा)। उदाहरणार्थ धुंधले से प्रकाश में कोई दूर से एक ढूंठ (स्थाणु) को देखता है तो उसे यह संशयात्मक ज्ञान होता है कि यह स्थाणु है या पुरुष (किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा)। इस प्रकार का संशय ज्ञान अयथार्थ अनुभव है। क्यों ? यथार्थ अनुभव तो वस्तु के अनुरूप होता है, वह निश्चयात्मक हुआ करता है, किन्तु संशय तो वस्तु के अनुरूप ज्ञान नहीं है, यह अनिश्चयात्मक है, वस्तु का स्वरूप निश्चित है।

दूसरा अयथार्थ अनुभव विपर्यय है। जो वस्तु जैसी न हो उसे उस रूप में जान लेना विपर्यय कहलाता है—**विपर्ययस्तु अतस्मिन् तद्ग्रहः** (तर्कभाषा)। इसे भ्रम या भ्रान्ति भी कहते हैं। उदाहरणार्थ कोई दूर से चमकती हुई सीपी (शुक्तिका) को देखता है, उसे चाँदी (रजत) समझ लेता है। वहाँ जो चाँदी नहीं है उसमें 'यह चाँदी है' इस प्रकार का अनुभव हो रहा है। अतः वह विपर्यय या भ्रान्ति ज्ञान है। इसी प्रकार रज्जु में सर्प का ज्ञान इत्यादि भ्रान्ति के उदाहरण हैं। यद्यपि विपय ज्ञानर्य निश्चयात्मक होता है तथापि जो वस्तु जैसी है उसका ज्ञान उसी रूप में तो नहीं होता, अतः यह अयथार्थ ज्ञान है।

तीसरा अयथार्थ अनुभय तर्क है। जब दो पदार्थों में एक के रहने पर दूसरे का होना निश्चित होता है तो एक के न होने की कल्पना (ऊहा) करते ही दूसरे का अभाव न चाहते हुए भी मानना पड़ता है। यही अनिष्ट की प्राप्ति तर्क कहलाती है (तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः, तर्कभाषा)। उदाहरणार्थ हम जानते हैं कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि भी होती है। किसी पर्वत आदि में धूम को दिखलाकर हमने किसी से कहा कि पर्वत में अग्नि है। उसने इसे नहीं माना—अग्नि के अभाव (न होने) की कल्पना की। हमने तर्क दिया 'यदि यहाँ अग्नि न होती तो धूम भी न होता'। यह तर्क यथार्थ अनुभव (=प्रमाण) नहीं माना जाता, क्योंकि यह पदार्थ-स्वरूप के अनुरूप निश्चयात्मक अनुभव नहीं है। इसमें "पर्वत में अग्नि है", इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता (न निश्चनोति एवमेवेदमिति, न्या०-भा० १.१.३०)। हाँ, तर्क को प्रमाणों का सहायक माना ही जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि प्रमा के लक्षण में 'यथार्थ' पद न रक्खा जाये 'अनुभवः प्रमा' इतना ही लक्षण किया जाये तो इस लक्षण की संशय, विपर्यय तथा तर्क (जो अयथार्थ हैं) में अतिव्याप्ति हो जाये। यथार्थ पद रखने से उन अयथार्थ अनुभवों में प्रमा का लक्षण नहीं जाता। इसी प्रकार यदि प्रमा के लक्षण में 'अनुभव' पद न रक्खा जाये, केवल इतना ही लक्षण किया जाये—यथार्थज्ञानं प्रमा। तब यथार्थ स्मृति में भी प्रमा का लक्षण चला जायेगा। जैसा कि आगे बतलाया जायेगा, स्मृति भी दो प्रकार की होती है यथार्थ तथा अयथार्थ। यहाँ यथार्थ स्मृति को भी प्रमा मानना अभीष्ट नहीं है। उसके निवारण के लिये प्रमा के लक्षण में 'अनुभव' पद को रखना आवश्यक है। इस प्रकार 'यथार्थानुभवः प्रमा यह लक्षण युक्तियुक्त है।

टिप्पणी—(i) **यथार्थ तथा अयथार्थ**—ऊपर तर्कभाषाकार के अनुसार यथार्थ तथा अयथार्थ की परिभाषा की गई है। न्याय की परिष्कृत पदावली में इनके लक्षण इस प्रकार किये जाते हैं—**तद्वति तत्प्रकारकः अनुभवः यथार्थः** (तर्कसंग्रहः)। उदाहरणार्थ जब घट में 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान होता है तो इस ज्ञान में 'घटत्व' प्रकार अर्थात् विशेषण है अतः यह ज्ञान 'घटत्व-प्रकारक' कहलाता है। इस ज्ञान का विषय घट है अर्थात् यह ज्ञान घट में (घट के विषय में) हो रहा है। उस घट में भी घटत्व (घत्व जात या घटपन) विद्यमान है। इस प्रकार यहाँ तद्वति=घटत्ववति =घटत्व से युक्त में तत्प्रकारक=घटत्वप्रकारक=घटत्व है प्रकार अर्थात् विशेषण जिसमें ऐसा ज्ञान हो रहा है। इसलिये यह यथार्थ है।

अयथार्थ अनुभव इसके विपरीत है। '**तदभाववति तत्प्रकारकः अनुभवः अयथार्थः**'। उदाहरणार्थ जब शुक्ति में 'यह रजत है' इस प्रकार का अनुभव होता है, तो वहाँ जिस शुक्ति में यह अनुभव हुआ है उसमें रजतत्व नहीं है किन्तु अनुभव (ज्ञान) में 'रजतत्व' प्रकार या विशेषण है। इस प्रकार वहाँ तदभाववति=रजतत्वाभाववति= रजतत्व के अभाव वाली शुक्ति आदि में तत्प्रकारकः=रजतत्वप्रकारकः=रजतत्व है प्रकार जिससे ऐसा अनुभव हो रहा है। अतः यह अनुभव अयथार्थ है।

(ii) संशय, विपर्यय तथा तर्क के विषय में आगे भी द्रष्टव्य है।

(iii) संक्षेप में **स्मृति का स्वरूप** इस प्रकार है:—हम नेत्र आदि से किसी घट आदि का प्रत्यक्षतः अनुभव करते हैं। इस अनुभव के पश्चात् हमारे आत्मा में एक सूक्ष्म सा भाव उस वस्तु के विषय में रह जाता है जिसे भावना नामक संस्कार या केवल संस्कार कहते हैं। यही स्मृति का बीज है यह संस्कार जब सादृश्य, चिन्ता या अदृष्ट आदि के कारण उद्बुद्ध हो जाता है तो स्मृति हो जाया करती है। जैसे जब हम पूर्व दृष्ट वस्तु के सदृश किसी वस्तु को देखते हैं तो हमें पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण हो आता है। कभी-कभी हम कुछ सोचते हैं (चिन्ता या चिन्तन) तो भी हमें पूर्वज्ञात वस्तु की स्मृति हो जाती है। इसी प्रकार अदृष्ट (धर्म-अधर्म) वशात् भी किसी पूर्वज्ञात वस्तु की स्मृति हो जाया करती है।

(iv) **स्मृति का लक्षण और प्रत्यभिज्ञा—यहाँ 'ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः'** यह स्मृति का लक्षण किया गया है। ज्ञातविषयक ज्ञान दो प्रकार का है:—(क) हमने पहिले कोई वस्तु देखी अब वह हमारे सामने उपस्थित नहीं है। हम सादृश्य आदि उद्बोधक कारणों के होने से उसकी स्मृति कर लेते हैं। (ख) हमने कल देवदत्त को इन्द्रप्रस्थ में देखा था आज उसे हम कुरुक्षेत्र में देख रहे हैं और हमें ज्ञात होता है 'यह वही देवदत्त है (सोऽयं देवदत्तः)'। यह दूसरे प्रकार का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है, प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है—प्रत्यक्षपूर्विका स्मृति या स्मृतिपूर्वक प्रत्यक्ष। न्यायकोश के अनुसार "अतीतावस्थावच्छिन्नवस्तुग्रहणम्" अर्थात् पूर्वज्ञात अवस्था से विशिष्ट वस्तु का अनुभव ही प्रत्यभिज्ञा है। परिष्कृत पदावली में "तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा" ऐसा कहा जाता है। यहाँ तत्ता=तत्+ता=तद् का भाव=तद्रूप=उसका रूप=पूर्वज्ञात अर्थात् पूर्व देश काल से सम्बद्ध वस्तुरूप; इदन्ता=इदम्+ता=इदं का भाव=समक्ष स्थित वस्तुरूप=वर्तमान देश-काल से सम्बद्ध वस्तुरूप। इस प्रकार पूर्व देश-काल तथा वर्तमान देश-काल से सम्बद्ध वस्तु के रूप की प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि तर्कभाषा का जो स्मृति का लक्षण है उसकी उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा में भी अतिव्याप्ति होती है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा भी ज्ञातविषयक ज्ञान है; किन्तु न्याय-वैशेषिक प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते है, अतः उसमें स्मृति का लक्षण जाना अभीष्ट नहीं है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि सम्भवतः तर्कभाषाकार के अनुसार स्मृति और अनुभव उभयात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा के स्मृति अंश में स्मृति का लक्षण जाना अभीष्ट ही है तथा अनुभव अंश में वह जाता ही नहीं। इसलिये अतिव्याप्ति दोष न होगा। किन्तु यह उत्तर युक्तिसंगत नहीं। कारण, एक तो यदि ऐसा होता तो तर्कभाषाकार ज्ञान के दो भेद न दिखलाकर तीन भेद दिखलाते। दूसरे ऐसा मानने से न्याय-सिद्धान्त का विरोध होगा।

अन्य व्याख्याकारो के अनुसार—'लोकानुभव के आधार पर प्रत्यभिज्ञा को अनुभव की श्रेणी में रख प्रत्यक्ष में उसका अन्तर्भाव मानना—यही बात तर्कभाषाकार को अभिमत जान पड़ती है। इस स्थिति में उसमें अतिव्याति के परिहारार्थ तर्कभाषा-कारीय स्मृतिलक्षण में मात्रपद का सन्निवेश कर 'ज्ञातमात्रविषयकज्ञानं' स्मृति का यही लक्षण मानना उचित है।" (बदरीनाथ शुक्ल तर्कभाषा व्याख्या पृष्ठ २६)।

वस्तुतः तर्कभाषाकार न्यायसम्प्रदायविद् थे वे प्रत्यभिज्ञा को सविकल्पक प्रत्यक्ष का ही एक रूप मानते होंगे। उनके स्मृति-लक्षण की प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति तो इसलिये न होगी कि 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इस न्याय के अनुसार ज्ञातविषयं ज्ञानं का अर्थ 'ज्ञातमात्रविषयकं ज्ञानं' किया जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा का विषय तो ज्ञात एवं अज्ञात उभयात्मक होता है अतः उसमें यह लक्षण नहीं जायेगा।

[करणम्]

किं पुनः करणम् ? साधकतमं करणम् । अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः ।

प्रत्यभिज्ञा में स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाये इसलिये तर्कसंग्रह आदि में स्मृति का लक्षण किया गया है—'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' । यहाँ 'मात्र' शब्द के रखने से इस लक्षण की प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा तो संस्कार तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष दोनों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है ।

फिर भी तर्कभाषा का यह लक्षण स्पष्ट नहीं, सन्देहजनक है । एक तो प्रत्यभिज्ञा में इसकी अतिव्याप्ति का निराकरण क्लिष्ट कल्पना से ही होता है, दूसरा इस लक्षण की धारावाहिक प्रत्यक्ष ज्ञान में भी अतिव्याप्ति होगी (द्र०, प्रत्यक्ष-लक्षण) ।

६. करण का लक्षण

इस प्रकार प्रमाण के लक्षण में स्थित 'प्रमा' पद का विवेचन करके ग्रन्थकार 'करण' पद की व्याख्या करते हैं:—

(प्रश्न) फिर (प्रमाण के लक्षण में) करण का क्या अर्थ है ?

(उत्तर) साधकतम को करण कहा जाता है । अतिशयित साधक ही साधकतम (साधक + तमप्) है । (किसी कार्य का) प्रकृष्ट कारण (करण है), यह अर्थ है ।

यहाँ पाणिनि व्याकरण के सामान ही करण का लक्षण किया गया है 'साधकतमं करणम्' (पा० १/४/४२) । इसमें 'साधकतमम्', यह लक्षण अंश है तथा 'करणम्' यह लक्ष्य अंश है । यहाँ साधक का अर्थ है कारण । तमप् प्रत्यय अतिशय अर्थ में होता है (पा० ५/३/५५) । इसलिये 'अतिशयितं साधकतमम्' यह 'साधकतम' शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है । 'प्रकृष्टं कारणम्' यह 'साधकतम' शब्द का अर्थ है । इस प्रकार किसी कार्य के प्रकृष्ट कारण को करण कहते हैं, यह अभिप्राय है । इस लक्षण में 'प्रकृष्ट' शब्द का अर्थ भी स्पष्ट नहीं है । इसीलिये व्याख्याकारों ने 'करण' के स्वरूप को अन्य प्रकार से स्पष्ट करने की चेष्टा की है ।

करण शब्द की एक प्रसिद्ध परिभाषा है 'व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्' अर्थात् व्यापार से युक्त असाधारण कारण को करण कहते हैं । यह कहा जा सकता है कि किसी कार्य के अनेक कारण होते हैं । उनमें से कुछ कारण ऐसे होते हैं जो प्रत्येक कार्य के प्रति कारण हुआ करते हैं; जैसे न्याय-वैशेषिक के अनुसार ईश्वर, ईश्वर का ज्ञान-इच्छा तथा प्रयत्न, देश काल आदि सभी कार्यों के कारण हैं । वे साधारण कारण कहलाते हैं । किन्तु अन्य कारण ऐसे हैं जो किसी कार्यविशेष के ही निमित्त हुआ करते हैं, जैसे पट के निर्माण में तन्तुवाय, तन्तु, तुरी-वेम आदि बुनने के उपकरण इत्यादि हैं । ये सब पट के असाधारण कारण कहलाते हैं, क्योंकि ये घट आदि के कारण नहीं हुआ करते । इसी प्रकार घट आदि के भी अपने असाधारण

[कारणम्]

ननु साधकं कारणमिति पर्यायस्तदेव न ज्ञायते किन्तत्कारणमिति। उच्यते। यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्। यथा तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम्।

कारण होते हैं। इन असाधारण कारणों में जो व्यापार वाला कारण होता है वही करण कहलाता है।

तर्कभाषाकार के अनुसार व्यापार का लक्षण है—'तज्जन्यः तज्जन्यजनकः व्यापारः' (द्र० आगे) यहाँ 'तत्' (वह) शब्द से करण लिया जाता है। फलतः जो करण से उत्पन्न होता है तथा करण से उत्पन्न होने वाले (कार्य या फल) का जनक होता है, वह व्यापार कहलाता है। जैसे जब कोई फरसे से लकड़ी काटता है तो वहाँ फरसा करण है, छिदा (कटना) फल है। वहाँ फरसे और तरु का संयोग व्यापार है। वह संयोग स्वयं फरसे (करण) से उत्पन्न होता है (परशुजन्य है) और उस कटने (छिदा) के कार्य का जनक है, जो कि फरसे द्वारा किया जा रहा है (तज्जन्यजनकः परशुजन्यस्य छिदाकार्यस्य जनकः)।

यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि करण के होने पर कार्य की उत्पत्ति हो ही जाया करती है। इसीलिये करण का स्वरूप बतलाते हुए यह भी कहा गया है—करण वह कारण है जिसके होने पर फल की अप्राप्ति नहीं रहती (फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्) इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि जिसके होने पर द्वितीय या तृतीय क्षण में फल का अभाव नहीं रहता वह करण है (यत्सत्त्वे द्वितीयतृतीयक्षणे फलाभावो नास्ति तत्) यही इस करण का प्रकर्ष है। अतः प्रकृष्ट कारण ही करण है।

टिप्पणी—यहाँ तर्कभाषा के टीकाकार गौरीकान्त ने प्रकृष्ट की व्याख्या करते हुए लिखा है—व्यापारवत्त्वं च प्रकर्ष इति प्राचीनाः। स्वानन्तरोत्पत्तिकसहकार्यन्तरानपेक्षत्वमिति नवीनाः।

७. कारण का लक्षण

'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस प्रमाण के लक्षण के प्रसङ्ग में करण का लक्षण किया गया है—साधकतमं करणम्। यहाँ 'साधक' का अर्थ 'कारण' किया गया है तथा प्रकृष्ट कारण को करण कहा गया है। किन्तु जब तक यह ज्ञान न हो कि कारण किसे कहते हैं तब तक प्रकृष्ट कारण अर्थात् करण का ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिये यहाँ कारण का स्वरूप बतलाते हैं—

(शङ्का) साधक और कारण तो समानार्थक हैं; किन्तु यही ज्ञात नहीं है कि यह कारण क्या है।

(समाधान) बतलाते है। जिसका कार्य से पहले होना (भावः=सत्ता) नियत है और जो अन्यथासिद्ध नहीं होता वह कारण कहलाता है; जैसे तन्तु तथा वेमा (वस्त्र बुनने का उपकरण दण्डविशेष) इत्यादि पट के कारण होते हैं।

यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते, तथापि नासौ नियतः ।

तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननो-

---

कारण का लक्षण है—**यस्य कार्यात् पूर्वभावः नियतः अनन्यथासिद्धः च** । इस लक्षण में **यस्य कार्यात् पूर्वभावः**=जिसकी कार्य से पूर्व सत्ता होती है, यह कहकर कारण का कार्य से भेद दिखलाया गया है। यह सर्वसम्मत है कि कारणों के होने पर ही कोई कार्य होता है, अतः कारण को कार्य से पूर्वभावी कहा गया है । उदाहरणार्थ पट एक कार्य है, उसके कारण हैं तन्तुवाय, तन्तु, तुरी-वेम-आदि । वे पट से पूर्व ही विद्यमान रहा करते हैं । इस प्रकार कारण पूर्वभावी होता है तथा कार्य पश्चाद्भावी; यह कारण तथा कार्य का भेद स्पष्ट ही है । किन्तु यदि 'यस्य कार्यात् पूर्वभावः' इतना ही लक्षण किया जाये तो उस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष हो जायेगा । उस अतिव्याप्ति दोष का निराकरण करने के लिये कारण के लक्षण में दो विशेषण नियत तथा अनन्यथासिद्ध दिये गये हैं ।

कारण के लक्षण में 'नियत' पद को रखने का प्रयोजन बतलाते हैं—

यद्यपि पट की उत्पत्ति में संयोगवश आये हुए गर्दभ (रासभ) आदि का भी पूर्वभाव (पहले रहना) संभव है तथापि वह नियत नहीं । (जहाँ-जहाँ वस्त्र बने वहाँ-वहाँ गर्दभ का पहले रहना अनिवार्य नहीं है ।)

नियत का अर्थ है--अवश्यम्भावी—नियमपूर्वक होने वाला । यदि यह पद कारण के लक्षण में न रक्खा जाये और केवल **'यस्य कार्यात् पूर्वभावः'** इतना ही लक्षण रक्खा जाये तो कार्य की उत्पत्ति से पहले आकस्मिक रूप से आ जाने वाली सभी वस्तुएँ उस कार्य का कारण कहलाने लगेगीं । उदाहरणार्थ यदि पट की उत्पत्ति से पूर्व संयोगवश गर्दभ (रासभ) आ जाये तो वह गर्दभ पट की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान है—कार्यात् पूर्वभावी है अतः गर्दभ को पट का कारण मानना पड़ेगा । किन्तु उसे पट का कारण माना नहीं जाता है । अतः कारण के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष हो जायेगा । इस अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये लक्षण में 'नियत' पद रक्खा गया है । लक्षण में नियत पद रखने पर जो वस्तु कार्य की उत्पत्ति से पूर्व नियमपूर्वक रहती है--अवश्य रहती है—अनिवार्य है, वह कारण कहलाती है अथवा कहिये जिसके पूर्वभाव के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, वह कारण कहलाता है । गर्दभ तो सभी पटों की उत्पत्ति से पूर्व नियमपूर्वक नहीं रहता । अतः केवल संयोगवश कार्य से पूर्वभावी वस्तुओं को उस कार्य का कारण नहीं माना जाता । नियतपूर्वभावी वस्तु को ही कारण कहा जाता है । इसलिये कारण के लक्षण में 'नियत पद' रक्खा गया है ।

(पट की उत्पत्ति में) तन्तु के रूप का नियत पूर्वभाव (नियमपूर्वक) पहले

पक्षीणत्वात्, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गात् ।

तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्, अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम् ।

रहना) तो है ही; किन्तु वह (तन्तु रूप) अन्यथासिद्ध है; क्योंकि पट के रूप के उत्पादन में ही वह चरितार्थ हो चुका है (उपक्षीणत्वात्=कारणताशक्तेः उपयुक्तत्वात्)। अतः यदि उसे पट के प्रति भी कारण माना जाये तो कल्पना-गौरव होने लगेगा।

इस प्रकार (=तेन=क्योंकि कारण के लक्षण में 'नियत' तथा 'अनन्यथासिद्ध पद आवश्यक हैं) अन्यथासिद्ध न होना तथा नियत रूप से (कार्य के) पहले रहना ही कारण का स्वरूप (—कारणत्व) है। और, अनन्यथासिद्ध न होकर नियतरूप से (कारण के) पश्चात् होना ही कार्य का स्वरूप (=कार्यत्व) है।

'अनन्यथासिद्ध अर्थात् जो अन्यथासिद्ध न हो। 'अन्यथासिद्ध' का अर्थ है—अन्य प्रकार से उपयुक्त या चरितार्थ। जो नियतपूर्ववर्ती तो हो किन्तु उसकी पूर्ववर्तिता दूसरे पदार्थ की कारणता अन्य कार्य के जनक के रूप में उपयुक्त=चरितार्थ=परिसमाप्त न हुई हो वह अनन्यथासिद्ध कहलायेगा। भाव यह है कि किसी कारण में कार्य के उत्पादन की कोई शक्ति होती है वह शक्ति जब किसी एक कार्य के प्रति उपयुक्त हो चुकती है तो वह कारण अन्य कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध कहलाता है। अतः जो अन्यथासिद्ध नहीं होता (=अनन्यथासिद्ध) वही कारण कहलाता है। यदि इस पद को कारण के लक्षण में न रक्खा जाये तो कारण का लक्षण होगा—'यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतः।' तब इस लक्षण की 'तन्तुरूप' आदि में अतिव्याप्ति होने लगेगी। यह सर्वसम्मत है कि तन्तु पट का कारण है। वह पट का नियतपूर्वभावी है। तन्तु में तन्तु-रूप भी रहता है। वह भी नियतरूप से पट की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहता है—पट से नियत-पूर्व-भावी है। अतः उक्त लक्षण के अनुसार तन्तुरूप को भी पट का कारण मानना पड़ेगा। किन्तु सिद्धान्त में तन्तुरूप को पट रूप का कारण माना जाता है, उसे पट का कारण नहीं माना जाता। इस प्रकार लक्षण में अतिव्याप्ति दोष होने लगेगा। उसके निराकरण के लिये कारण के लक्षण में 'अनन्यथासिद्ध' यह पद रक्खा गया है। अब यह कहा जा सकता है कि तन्तुरूप पट के रूप का कारण है अतः तन्तुरूप की कारणता पट-रूप के प्रति ही चरितार्थ=परिसमाप्त हो चुकी है। इसलिये वह (तन्तुरूप) पट के प्रति अन्यथासिद्ध है तथा उसे पट का कारण नहीं माना जाता।

प्रश्न यह हो सकता है कि तन्तु-रूप को पट तथा पट-रूप दोनों का कारण क्यों न मान लिया जाये। इसके उत्तर में कहा गया है—**पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गात्**। भाव यह है कि तन्तु आदि को पट का कारण मान लेने

पर ही पट कार्य की उत्पत्ति बन जाती है। फिर तन्तु-रूप को भी पट का कारण मानना कल्पना-गौरव ही है अर्थात् ऐसा मानने का कोई उपयोग नहीं है। कल्पना-गौरव को दोष माना गया है।

इस प्रकार कारण के लक्षण में 'नियत' तथा 'अनन्यथासिद्ध' दोनों पद आवश्यक हैं। अतः कारण का यथोक्त लक्षण युक्तियुक्त है और इसी के अनुसार तर्कभाषा में 'तेन···कार्यत्वम्' इत्यादि पङ्क्ति में कारण तथा कार्य के परिष्कृत लक्षण दिखलाये गये हैं।

टिप्पणी—(i) **अन्यथासिद्ध**—कारण के लक्षण में स्थित अनन्यथासिद्ध को समझने के लिये अन्यथासिद्ध शब्द का अर्थ भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है। विश्वनाथ ने न्यायमुक्तावली में ५ प्रकार का अन्यथासिद्ध बतलाया है—(१) जिस धर्म के साथ कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव होता है वह धर्म उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध माना जाता है (येन सह पूर्वभावः) उदाहरणार्थ घट के प्रति दण्ड का पूर्वभाव दण्डत्व धर्म के साथ ही होता है। यहां दण्डत्व धर्म घट के प्रति अन्यथासिद्ध है—

दण्डत्वादिकम् आदिमम् ।

(२) जिस पदार्थ में किसी कार्य के प्रति नियतपूर्वभावित्व का ज्ञान उसके कारण के द्वारा होता है वह पदार्थ उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है [**कारणमादाय वा यस्य (पूर्वभावः)**]। जैसे दण्ड-रूप में घट का नियतपूर्वभावित्व दण्ड (दण्डरूप का कारण) के द्वारा ही निश्चित होता है। दण्ड घट का पूर्वभावी है इससे हम समझते हैं कि दण्ड-रूप भी घट का पूर्वभावी है। यहां दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध है—

घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ।

(३) किसी अन्य कार्य के प्रति पूर्वभाव जानने पर जिस पदार्थ का प्रस्तुत कार्य के प्रति पूर्वभाव जाना जाता है, वह पदार्थ प्रस्तुत कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है। (**अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्**)। जैसे शब्द के प्रति नियतपूर्वभावित्व का ज्ञान हो जाने पर ही आकाश का घट के प्रति पूर्वभाव जाना जा सकता है। अतः घट के प्रति आकाश अन्यथासिद्ध है—**तृतीयं तु भवेद् व्योम** ।

(४) कारण (=जनक) के प्रति पूर्वभाव जाने विना जिस पदार्थ का प्रस्तुत कार्य के प्रति पूर्वभाव नहीं जाना जाता (अर्थात् कारण का भी कारण) वह अन्यथासिद्ध है [**जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते (पूर्वभावः)**]। जैसे कुम्भकार के प्रति पूर्वभाव जाने विना कुम्भकार के पिता का घट के प्रति पूर्वभाव नहीं जाना जाता अतः कुम्भकार का पिता घट के प्रति अन्यथासिद्ध है—**कुलालजनकोऽपरः** ।

(५) वस्तुतः आवश्यक नियत पूर्वभावी के अतिरिक्त जो भी पदार्थ होते हैं वे

सभी अन्यथासिद्ध होते हैं (अतिरिक्तमथापि यद् भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः)। उदाहरणार्थ घट के प्रति रासभ आदि अन्यथासिद्ध होते हैं—**पञ्चमो रासभादिः।**

विश्वनाथ का कथन है कि इन पाँचों अन्यथासिद्धों में यह पञ्चम आवश्यक है। वस्तुतः इसी अन्यथासिद्ध में अन्य चारों अन्यथासिद्धों का समावेश हो जाता है इस पञ्चम अन्यथासिद्ध को इस प्रकार भी कहा गया है—**अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसंभवे तत्सहभूतत्वम् अन्यथासिद्धत्वम्** (गोवर्धन)।

यहां शङ्का हो सकती है कि यदि मुक्तावली द्वारा प्रदर्शित रीति से घट के प्रति रासभ की कारणता का निराकरण अन्यथासिद्ध पद के द्वारा ही हो सकता है तो यहाँ कारण के लक्षण में 'नियत' पंद का क्या प्रयोजन है।

इसके समाधान के लिये यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि रासभ की घट के प्रति कारणता की शङ्का दो प्रकार से हो सकती है। कहीं हमने देखा कि घट की उत्पत्ति से पूर्व सदा ही रासभ द्वारा मिट्टी लाई जाती है। वहाँ घट की उत्पत्ति से पूर्व अनिवार्य रूप से रासभ रहता है, नियतपूर्वभावी है। अतः शङ्का होती है (क) क्या इन घटविशेषों के प्रति रासभ को भी कारण मानना चाहिये ? अथवा (ख) क्या घटमात्र के प्रति रासभ को कारण मानना चाहिये ? यहाँ प्रथम शङ्का का निराकरण पञ्चम अन्यथासिद्ध के द्वारा होता है। क्योंकि अन्यत्र अर्थात् उन घटों में जहाँ रासभ के द्वारा मिट्टी नहीं लाई जाती, दण्ड-चक्र आदि को ही घट का नियत पूर्ववर्ती निश्चित किया जा चुका है; उन कारणों से ही इन घटविशेषों की उत्पत्ति भी सम्भव है अतः यहाँ रासभ को कारण नहीं मानना चाहिये। द्वितीय शङ्का का निराकरण तो, ऊपर कही गई रीति से, कारण के लक्षण में 'नियत' पद रखने से ही हो सकता है क्योंकि घटमात्र के प्रति रासभ अन्यथासिद्ध नहीं हैं। वहाँ पञ्चम अन्यथासिद्धि ही कही जा सकती है किन्तु वह हो नहीं सकती। क्यों ? घटमात्र से अन्य जो पट आदि हैं, उनमें निश्चित की गई कारणता से घटमात्र में काम नहीं चल सकता। [द्र०, गोवर्धन, तर्कभाषा-टीका]

(ii) **कल्पना-गौरव**—जहाँ अल्प कल्पना ही किसी तथ्य की व्याख्या करने में समर्थ है वहाँ उससे अधिक कल्पना करना कल्पना-गौरव कहलाता है समर्थाल्पकल्पना कल्पनालाघवम्, समर्थानल्पकल्पना कल्पनागौरवम् (चिन्नंभट्ट)।

(iii) **तेन**=क्योंकि रासभ आदि की व्यावृत्ति के लिये कारण के लक्षण में नियत पद रखना होगा तथा तन्तुरूप आदि की व्यावृत्ति के लिये अन्यथासिद्ध पद रखना होगा इसलिये।

अन्यों के कारण-लक्षण का खण्डन

अपने मत के अनुसार कारण का लक्षण बतलाकर तथा उसकी युक्तियुक्त व्याख्या दिखलाकर ग्रन्थकार दूसरों द्वारा प्रस्तुत किये गये लक्षण की अयुक्तता प्रदर्शित करते है—

यत्तु कश्चिदाह कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणमिति, तदयुक्तम् । नित्यविभूनां व्योमादीनां कालतो देशतश्च व्यतिरेकासम्भवेनाकारणत्वप्रसङ्गात् ।

मीमांसा के कारण-लक्षण का खण्डन

जो किसी ने कहा है कि कार्य के द्वारा जिसके अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण किया जाता है, वह कारण है, वह (कथन) अयुक्त है ; क्योंकि तब तो नित्य तथा व्यापक जो आकाश आदि हैं उनका काल या देश में व्यतिरेक (अभाव) न होने से उनमें कारणत्व का अभाव होने लगेगा अर्थात् वे कारण न कहलायेंगे ।

यह कारण-लक्षण मीमांसक (?) का माना जाता है। यहाँ लक्षण पद का विग्रह इस प्रकार है—**कार्येण अनुकृतौ अन्वयव्यतिरेकौ यस्य**, अर्थात् जिसके अन्वय तथा व्यतिरेक का कार्य के द्वारा अनुसरण किया जाता है । किसी के होने पर ही दूसरे का होना अन्वय कहलाता है (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः); किसी एक के न होने पर दूसरे का न होना व्यतिरेक है (तदभावे तदभावो व्यतिरेकः) । यहाँ अन्वय तथा व्यतिरेक से ही कार्यकारणभाव का निश्चय माना गया है । फलतः जिसके होने पर कार्य होता है और जिसके न होने पर कार्य नहीं होता वह कारण कहलाता है, जैसे घट तभी होता है जब मिट्टी होती है (अन्वय) यदि मिट्टी नहीं होती तो घट भी नहीं होता । अतः मिट्टी को घट का कारण माना जाता है । इस आधार पर '**कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्**', यह कारण का लक्षण किया गया है ।

तर्कभाषाकार कहते हैं कि यह लक्षण युक्तियुक्त नहीं—तदयुक्तम् । कैसे ? न्यायसिद्धान्त में आकाश को शब्द का कारण माना गया है किन्तु उपर्युक्त लक्षण के अनुसार आकाश को शब्द का कारण नहीं कहा जा सकेगा । यह तो ठीक है कि आकाश के होने पर ही शब्द होता है (आकाशसत्त्वे शब्दसत्त्वम्) इस प्रकार का अन्वय यहाँ बन सकता है । किन्तु जहाँ आकाश नहीं है वहाँ शब्द भी नहीं होता (आकाशाभावे शब्दाभावः), इस प्रकार का व्यतिरेक नहीं बन सकता । कारण; आकाश एक नित्य तथा विभु पदार्थ हैं, उसका किसी प्रकार से भी अभाव नहीं हो सकता । वस्तु का अभाव दो प्रकार से सम्भव है एक तो काल की दृष्टि से (कालिक) और दूसरा देश की दृष्टि से (दैशिक); उदाहरणार्थ जो घट आदि पदार्थ अनित्य हैं उनका कालिक अभाव हुआ करता है । यदि कोई घट इस समय विद्यमान है; कालान्तर में उसका अभाव हो सकता है । किन्तु आकाश तो नित्य है—सदा रहने वाला है, उसका किसी भी काल में अभाव नहीं हो सकता । इसी प्रकार आकाश का दैशिक अभाव भी नहीं हो सकता । जो घट आदि पदार्थ परिच्छिन्न परिमाण वाले हैं—व्यापक नहीं हैं उनका ही दैशिक अभाव हुआ करता है । जैसे कोई घट एक देश (स्थान) में रहता है तो दूसरे स्थान में उसका अभाव होता है । किन्तु आकाश तो व्यापक (विभु) है सब मूर्तद्रव्यों से संयुक्त है (विभुत्वं सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्) । अतः यह सम्भव नहीं कि आकाश का किसी देश में अभाव हो जाये । फलतः नित्य तथा

तच्च कारणं त्रिविधम् । समवायि-असमवायि-निमित्ताभेदात् । तत्र यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम् । यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणम् । यतस्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु ।

विभु जो आकाश है उसका कालिक या दैशिक किसी भी दृष्टि से अभाव नहीं हो सकता तथा उसमें 'आकाशाभावे शब्दाभावः; इस व्यतिरेक को नहीं घटित किया जा सकता । जब आकाश का अभाव ही अप्रसिद्ध है तो आकाश का अभाव होने पर शब्द का अभाव होता है, यह कैसे समझा जा सकता है ? इस प्रकार यदि कारण के लक्षण में 'व्यतिरेक' का समावेश होगा तो आकाश में कारण का लक्षण घटित न हो सकेगा । यहां 'आदि' शब्द से ईश्वर, आत्मा, दिक् काल आदि अन्य नित्य एव विभु माने गये पदार्थों का ग्रहण होता है । आकाश के समान उनमें भी कारण का यह लक्षण घटित न होगा । किन्तु उनको सृष्टि आदि का कारण माना जाता है । अतः कारण के इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है । इसलिये 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह लक्षण अयुक्त है ।

८. कारण के प्रकार तथा समवायी कारण

कारण का स्वाभिमत लक्षण बतलाकर तथा अन्यकृत कारण-लक्षण की अयुक्तता दिखलाकर कारण का विभाजन करते हैं—

और वह कारण समवायी, असमवायी तथा निमित्तकारण के भेद से तीन प्रकार का है ।

उनमें से समवायी कारण वह है, जिसमें कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है; जैसे तन्तु पट के समवायी कारण हैं; क्योंकि तन्तुओं में ही पट (कार्य) समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, तुरी आदि में नहीं ।

(क) समवाय सम्बन्ध

तच्च कारणं त्रिविधम्—वह कारण तीन प्रकार का है, इस कथन से कारणद्वयवाद का निराकरण हो जाता है । सांख्य तथा वेदान्त आदि दो प्रकार के कारण मानते हैं—उपादान तथा निमित्त । उनमें प्रधान कारण उपादान कहलाता है, अन्य सभी कारणों का निमित्त कारण में अन्तर्भाव होता है । सांख्य के अनुसार जो कारण किसी कार्य के रूप में परिणत हुआ करता है जिसका स्वरूप कार्य में अन्वित हुआ करता है वह उपादान कारण है । उपादान कारण तथा कार्य का तादात्म्य माना जाता है जैसे तन्तु तथा पट का तादात्म्य है । न्यायवैशेषिक के अनुसार तन्तु समवायी कारण कहलाते हैं । जैसे कि अभी आगे स्पष्ट होगा समवायी कारण का विचार उपादान कारण के विचार से आंशिक भेद रखता है । न्या० वै० में समवायी कारण से भिन्न कारणों को दो वर्गों में रक्खा गया है :—(क) समवायी कारण में रहने वाले अथवा समवायी कारण के समवायी कारण में रहने वाले गुण, जिन्हें असमवायी कारण नाम से कहा गया है; (ख) शेष कारण जिन्हें निमित्त कारण कहा

गया है । यह न समझ लेना चाहिये कि निमित कारण का कार्य की उत्पत्ति की दृष्टि से कुछ कम महत्त्व है, क्योंकि निमित्त कारण में ही कर्त्ता का भी अन्तर्भाव है जिसके बिना अन्य सभी कारण कार्योत्पादन में समर्थ नहीं रह सकते ।

समवायी कारण का लक्षण है—'यत्समवेतं कार्यम् उत्पद्यते । 'यहाँ 'समवेत' शब्द का अर्थ है—समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध । कार्य का कारण के साथ यह सम्बन्ध उत्पत्ति से पूर्व नहीं हो सकता । क्योंकि न्या०-वै० आरम्भवादी है । यहाँ 'घट उत्पन्न होता है' इसका अर्थ है कि घट उत्पत्ति से पूर्व किसी रूप में नहीं था, अब पहले पहल बनाया जा रहा है जब वह किसी भी रूप में नहीं था तो उत्पत्ति से पूर्व उसका कारण से समवाय सम्बन्ध कैसे सम्भव है ? किन्तु उत्पन्न होने वाला घट अपने कारणों से कोई न कोई सम्बन्ध रखता ही है, नहीं तो मिट्टी से ही घट उत्पन्न होता है, इस प्रकार का नियम कैसे बनेगा ? फलतः जिस कारण के साथ कार्य का समवाय सम्बन्ध होता है वह समवायी कारण कहलाता है (समवायोस्त्यस्मिन् इति समवायी)। उदाहरणार्थ 'तन्तु' पट के समवायी कारण हैं । तन्तुओं के साथ पट का समवाय सम्बन्ध है अथवा तन्तुओं में पट का समवाय है। इसीलिये तन्तुओं में समवेत पट है (तन्तुषु समवेतः पटः) ऐसा कहा जाता है । समवायी कारण से भिन्न जो कारण होते हैं उनके साथ कार्य का समवाय सम्बन्ध नहीं होता अपितु उनके साथ संयोग आदि सम्बन्ध हुआ करता है, जैसे तुरी, वेम आदि के साथ पट का संयोग सम्बन्ध है ।

टिप्पणी—इस समवायी कारण को उपादान कारण कहना युक्तिसंगत नहीं है । न्या०-वै० के अनुसार जो समवायी कारण है वह कार्य के रूप में परिणत नहीं होता, न ही उसका स्वरूप कार्य में अन्वित होता है, यहाँ कारण और कार्य का तादात्म्य भी नहीं माना जाता । 'उपादान कारण' संज्ञा के साथ तो इस प्रकार के भाव सन्निहित हैं । किञ्च, यद्यपि लोक-दृष्टि से प्रतीत होता है कि तन्तु ही पट रूप में बदल जाते हैं फिर भी न्या०-वै० के अनुसार यह शास्त्रीय दृष्टि नहीं है । यहाँ तो 'तन्तुओं में पट होता है, (तन्तुषु पटः) यही कहना संगत है, तन्तुओं से पट बनता है या तन्तुओं का पट बनता है, यह कथन तो व्यावहारिक ही हैं । वस्तुतः न्या०-वै० में कारण और कार्य की एक देश काल में स्थिति मानी जाती है (समानाधिकरण)। इसलिये जब पट बन जाता है तब भी जन्तु अपने रूप में विद्यमान रहते हैं । उन दोनों में तादाम्य नहीं होता अपितु आधार-आधेय-आव होता है । 'मेज पर पुस्तक है' उस आधार-आधेय सम्बन्ध की अपेक्षा यहाँ भेद यह है कि वहाँ मेज पर संयोग सम्बन्ध से पुस्तक है किन्तु यहाँ तन्तु रूपी आधार में समवाय सम्बन्ध से पट होता है (तन्तुषु पटः) ।

इस प्रकार पट का समवायी कारण तन्तु है, क्योंकि तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न होता है । इसी सन्दर्भ में समवाय सम्बन्ध का स्वरूप बतलाते हैं—

ननु तन्तुसम्बन्ध इव तुर्यादिसम्बन्धोऽपि पटस्य विद्यते, तत्कथं तन्तुष्वेव पट समवेतो जायते, न तुर्यादिषु ?

सत्यम् । द्विविधः सम्बन्धः संयोगः समवायश्चेति । तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः । अन्ययोस्तु संयोग एव ।

(क) सम्वाय सम्बन्ध

(शङ्का) जिस प्रकार पट का तन्तु के साथ सम्बन्ध है उसी प्रकार तुरा आदि के साथ भी मम्बन्ध है । इसलिये (तत् = तस्मात्) ऐसा क्यों ? कि तन्तुओं में ही समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न होता है, तुरी आदि में नहीं ।

(समाधान) ठीक है (पट का तुरी आदि के साथ भी सम्बन्ध है); किन्तु सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—संयोग तथा समवाय । उनमें जो दो अयुतसिद्ध (= अपृथक् सिद्ध) पदार्थों का सम्बन्ध है, वह समवाय कहलाता है किन्तु जो अन्य दो (पदार्थों) का सम्बन्ध है, वह संयोग ही है ।

'ननु इत्यादि शङ्का का आशय है—जब पट की उत्पत्ति होती है तो उपर्युक्त तीनों कारणों से सम्बद्ध पट ही उत्पन्न होता है । जब पट का सभी कारणों से समान रूप से सम्बन्ध है तो यह कैसे माना जा सकता है कि पट केवल तन्तुओं में ही समवेत होता है, तुरी आदि में नहीं ?

सत्यम् इत्यादि में इस शङ्का का समाधान किया गया है । यहाँ 'सत्यम्' यह अव्यय पद है, इसका अर्थ है—अर्धस्वीकार । भाव यह है कि 'सभी कारणों के साथ कार्य का सम्बन्ध होता है,' शङ्का कर्त्ता की यह बात सिद्धान्ती की अभिमत है ही । किन्तु सभी कारणों के साथ कार्य का समवाय नामक सम्बन्ध नहीं होता । वस्तुतः सम्बन्ध दो प्रकार का होता है–समवाय तथा संयोग । उन दोनों का स्वरूप विवेकपूर्वक समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तन्तुओं में ही पट समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, तुरी आदि में नहीं, अतः तन्तु ही पट का समवायी कारण है ।

दो प्रकार के सम्बन्धों को समझने से पूर्व सम्बन्ध का सामान्य स्वरूप जान लेना आवश्यक है । न्यूनातिन्यून दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है । जिन पदार्थों में सम्बन्ध होता है वे सम्बन्धी (सम्बन्धिन्) कहलाते हैं । कोई सम्बन्ध (i) दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है, (ii) दोनों पर आश्रित होता है तथा (iii) एक होता है—**सम्बन्ध हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च** (तर्कभाषा, अभाव प्रमाण) । समवाय तथा संयोग दोनों सम्बन्धो में ही यह लक्षण घटित होता है । इनमें से संयोग एक प्रसिद्ध सम्बन्ध है । उसमें सम्बन्ध का लक्षण घटाना सुगम है (जब मेज तथा पुस्तक का संयोग होता है तो वह संयोग (सम्बन्ध) मेज तथा पुस्तक दोनों से भिन्न होता है, दोनों में रहता है किन्तु दोनों का संयोग एक ही होता है । इसी प्रकार समवाय में भी यह लक्षण घटित होता है)

तर्कभाषाकार ने समवाय का लक्षण किया है—**अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः** । जैसा कि अभी कहा गया है, सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों में आश्रित होता है–द्विष्ठ होता है ।

कौ पुनरयुतसिद्धौ ? ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ । तदुक्तम्—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥

अतः दो अयुतसिद्ध वस्तुओं का सम्बन्ध समवाय कहलाता है । अयुतसिद्ध का अर्थ है–अपृथक्सिद्ध । जिन दो पदार्थों में से एक जब तक रहता है दूसरे सम्बन्धी पर आश्रित होकर ही रहता है वे अयुतसिद्ध कहलाते हैं । इस 'अयुतसिद्ध' की विशद व्याख्या अभी आगे की जा रही है । दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध समवाय कहलाता है । वह समवाय नित्य तथा एक माना गया है । अयुतसिद्ध से भिन्न अर्थात् युतसिद्ध वस्तुओं का सम्बन्ध संयोग कहलाता है । युतसिद्ध वे वस्तुएँ कहलाती हैं जिनका स्वरूप एक दूसरे पर आश्रित हुए बिना ही पृथक्-पृथक् निष्पन्न रहा करता है, जैसे मेज और पुस्तक आदि हैं ।

टिप्पणी––(i) भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्ती समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते । वे इसके स्थान पर तादात्म्य सम्बन्ध को मानते हैं । यद्यपि तादात्म्य सम्बन्ध का उल्लेख न्या०-वै० के ग्रन्थों में भी मिलता है तथापि वहाँ समवाय का समानार्थक तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है अपि तु तादात्म्य=ऐक्य । तादात्म्य शब्द की व्युत्पत्ति ही है—स आत्मा यस्य स तदात्मा, तस्य भावः तादात्म्यम् । (ii) प्रभाकर मिश्र के मतानुयायी मीमांसक भी समवाय सम्बन्ध की सत्ता स्वीकार करते है किन्तु उनके मत में जब दो नित्य वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध होता है तो वह नित्य होता है अन्यथा वह अनित्य होता है । न्या०-वै० की दृष्टि में समवाय को नित्य तथा एक मानने में ही लाघव है । (मि०, PIL पृ० ३३) (iii) संयोग तथा समवाय के अतिरिक्त अन्य भी सम्बन्ध माने गये हैं । उनमें स्वरूप सम्बन्ध एक प्रसिद्ध सम्बन्ध है जैसे 'भूतले घटाभावः' यहाँ भूतल तथा घटाभाव का स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है । सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि जहाँ विशिष्ट प्रतीति होती है वहाँ कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य हुआ करता है । इसलिये विविध सम्बन्धों की कल्पना की गई है ।

(ख) 'अयुतसिद्ध' की व्याख्या

समवाय का लक्षण करते हुए कहा गया है-–अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः । यहाँ 'अयुतसिद्ध' शब्द अप्रसिद्ध है अतः इसका अभिप्राय स्पष्ट करते है—

(प्रश्न) फिर कौन से दो (पदार्थ) अयुतसिद्ध कहलाते हैं ?

(उत्तर) जिन दो (पदार्थों) में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे पर आश्रित ही रहता है वे दोनों (पदार्थ) अयुतसिद्ध कहलाते हैं । जैसा कि कहा गया है—

उन दोनों को अयुतसिद्ध जानना चाहिये, जिन दोनों में से एक नष्ट न होता हुआ (अविनश्यदवस्था में) दूसरे के आश्रित ही रहता है ।

अयुतसिद्ध का अर्थ है जो युतसिद्ध न हो। युत शब्द √यु मिश्रणामिश्रणयोः धातु से निष्पन्न होता है । यहाँ धातु का अर्थ है—अमिश्रण पृथक्ता । अतः युतसिद्ध=पृथक्-सिद्ध, जो दो पदार्थ पृथक्-पृथक् सिद्ध या निष्पन्न होते हैं वे युतसिद्ध कहलाते हैं । उदाहरणार्थ मेज और पुस्तक दोनों, एक-दूसरे के किसी प्रकार के आश्रय के बिना, अपने-अपने रूप में अलग-अलग सिद्ध हैं अतः ये दोनों युतसिद्ध हैं । जब मेज पर पुस्तक रक्खी जाती है तो वहाँ मेज और पुस्तक दो युतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध होता है, वह संयोग सम्बन्ध है ।

जो युतसिद्ध नही होते वे अयुतसिद्ध अर्थात् अपृथक् सिद्ध हैं । इसका सामान्य अर्थ होगा कि वे दोनों कभी भी पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते, एक-दूसरे के आश्रित ही रहा करते हैं, अथवा दोनों साथ ही रहा करते हैं । ऐसा अर्थ मानने पर दोष यह होगा कि सिद्धान्त में तन्तु और पट को भी अयुतसिद्ध माना जाता है परन्तु बिना पट बने भी तन्तु रहा करते हैं । फिर उन्हें अयुतसिद्ध कैसे कहा जा सकेगा ? इसी प्रकार अन्य दोषों की भी आशङ्का हैं । उन दोषों के निवारण के लिये 'ययोर्मध्ये०' इत्यादि अयुतसिद्ध का परिष्कृत लक्षण किया गया है ।

इस लक्षणवाक्य का अभिप्राय यह है:—जिन दो पदार्थों में एक, अविनश्यद-वस्था में दूसरे पर आश्रित ही रहा करता है वे दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं । इस लक्षण के अनुसार जिन दो पदार्थों को अयुतसिद्ध माना जाता है, उनमें से केवल एक का दूसरे पर आश्रित रहना आवश्यक है, दोनों का सदा साथ ही रहना आवश्यक नहीं है । अब तन्तु और पट को देखिये, तन्तुओं में पट उत्पन्न होता है, तट तन्तु पर आश्रित है, वह तन्तुओं के आश्रय के बिना नहीं रह सकता । इसीलिये अपराश्रितम् एव 'यहाँ एव (=ही) शब्द का प्रयोग किया गया है । यहाँ तन्तु जो कारण हैं वे पट पर आश्रित नहीं हैं । बिना पट बने भी तन्तु रहा करते हैं । फलतः अयुतसिद्ध माने गये दो पदार्थों में से केवल एक ही दूसरे पर आश्रित रहा करता है, दोनों परस्पर आश्रित नहीं रहा करते । इसलिये 'अयुतसिद्ध' के लक्षण में 'एक' शब्द दिया गया है ।

फिर भी यदि 'ययोर्मध्ये एकम् अपराश्रितम् एव अवतिष्ठते' जिन दोनों में से कोई एक-दूसरे पर आश्रित ही रहता है; केवल इतना ही अयुतसिद्ध का लक्षण किया जाये, इस लक्षण में 'अविनश्यत्' पद न रक्खा जाये तो भी तन्तु तथा पट को अयुत-सिद्ध न कहा जा सकेगा । वहाँ अयुतसिद्ध के लक्षण की अव्याप्ति होगी । कैसे ? यह ठीक है कि सामान्य दृष्टि से पट सदा तन्तुओं में ही (आश्रित) रहता है किन्तु न्या०-वै० की शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार ऐसा भी एक क्षण होता है जब पट निराश्रित रहता है, तन्तुओं में आश्रित नहीं रहता । न्या०-वै० का मन्तव्य है कि (i) समवायी कारण के नाश से कार्य-द्रव्य का नाश होता है या (ii) असमवायी कारण के नाश से अथवा (iii) समवायी एवं असमवायी दोनों कारणों के नाश से । पट का समवायी कारण तन्तु है, असमवायी कारण तन्तु-संयोग है । इस प्रकार कभी तन्तुओं के नाश

यथा अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति । अवयव्यादयो हि यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः। विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽवयव्यादयः। यथा तन्तुनाशे सति पटः । यथा वा आश्रयनाशे सति गुणः विनश्यत्ता तु विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम् ।

से पट-नाश होगा, कभी तन्तु-संयोग नाश से और कभी तन्तु तथा तन्तुसंयोग दोनों के नाश से। किञ्च, न्या०-वै० का दूसरा सिद्धान्त, जिसका ऊपर विशद निरूपण किया जा चुका है, यह भी है कि कारण सदा कार्य से पूर्ववर्ती होता है (नियतपूर्वभावी)। इस प्रकार पट-नाश के कारण जो तन्तु-नाश आदि हैं वे अवश्य ही पट-नाश के पूर्वक्षण में रहा करते हैं । अतः जब तन्तुनाश से पट-नाश होता है, तब यह क्रम होगा—

पट-नाश का कारण → तन्तु-नाश—पूर्वक्षण में होगा ।

तन्तु-नाश का कार्य → पट-नाश—उत्तर क्षण में होगा ।

इस अवस्था में जब पूर्व क्षण में तन्तुनाश हो जागेगा तो एक क्षण के लिये पट को बिना किसी आश्रय के (निराश्रित) ही रहना होगा । इस प्रकार 'ययोर्मध्ये एकम् अपराश्रितम् एव अवतिष्ठते' यह बात न बनेगी ।

लक्षण में 'अविनश्यत्' पद का समावेश करने पर यह दोष नहीं रहता । अब लक्षण का अर्थ होता है—जिन दोनों में से एक विनश्यत्ता की अवस्था को प्राप्त हुए बिना अपराश्रित ही रहता है । विनश्यत्ता का अर्थ है—विनाश की कारण-सामग्री का सान्निध्य, अर्थात् जिस क्षण में पदार्थ के विनाश के सभी कारण सन्निहित हो जाते हैं वह उसकी विनश्यत्ता या विनश्यदवस्था कहलाती है। फलतः जब समवायी कारण के नाश से कार्य-नाश होता है तो कारण-नाश की अवस्था ही विनश्यदवस्था है । अतः तन्तु-नाश का क्षण पट की विनश्यदवस्था है । उस अवस्था में पट तन्तु के आश्रित नहीं रहता । फिर भी तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं ही, क्योंकि 'अयुतसिद्ध' का परिष्कृत लक्षण है—जिन दोनों में से एक विनश्यत्ता की अवस्था को छोड़कर दूसरे के आश्रित ही रहता है । अतः तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं ।

'अयुतसिद्ध' के लक्षण का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया जा चुका है । अतः अयुतसिद्ध पदार्थों के उदाहरण दिखलाते हैं—

जैसे—१. अवयव और अवयवी, २. गुण और गुणी, ३. क्रिया और क्रियावान्, ४. जाति और व्यक्ति, ५. विशेष और नित्यद्रव्य (ये अयुतसिद्ध हैं) । ये अवयवी आदि अविनश्यदवस्था में यथायोग्य अवयव आदि के आश्रित ही रहा करते हैं । अवयवी आदि विनश्यदवस्था में तो (क्षण भर के लिये) निराश्रित ही रहते हैं । जैसे तन्तुओं (अवयवों) का नाश होने पर पट (अवयवी) अथवा आश्रय (पट आदि गुणी) का नाश होने पर (रूप आदि) गुण निराश्रित ही रहते हैं । यहां विनश्यत्ता (का अर्थ) तो विनाश की कारण-सामग्री का उपस्थित हो जाना है ।

यहाँ अयुतसिद्ध पदार्थों के पाँच उदाहरण दिखलाये गये हैं। पहिला उदाहरण है—अवयव-अवयवी। अवयव का अर्थ है अङ्ग, अंश; अवयवी का अर्थ है अवयवों वाला, अङ्गी, एक विशेष प्रकार का द्रव्य अथवा जन्य द्रव्य। न्या०-वै० का मन्तव्य है कि जब तन्तुओं के संयोग से पट बनता है तो वहाँ तन्तुओं का समुदाय मात्र ही पट नहीं है अपितु पट नाम का एक अवयवी (जन्यद्रव्य) उत्पन्न हो जाता है, जो तन्तुओं से भिन्न होता है। तन्तु उसके अवयव हैं, वे उसके समवायी कारण हैं, पट जो अवयवी है वह कार्य है। तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं, यह विस्तारपूर्वक दिखलाया जा चुका है। तन्तुओं में पट उत्पन्न होता है, इसका, अर्थ है अवयवों में अवयवी समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। अवयवी अविनश्यदवस्था में अवयवों में आश्रित होकर ही रहता है।

अयुतसिद्ध का दूसरा उदाहरण है—**गुण-गुणी**। पट आदि में रूप आदि गुण रहते हैं अतः पट आदि गुणी कहलाते हैं। यहाँ गुणी (पट आदि) आश्रय है तथा गुण उसके आश्रित हैं। ये गुण अविनश्यदवस्था में गुणी के आश्रित ही रहा करते हैं। न्या०-वै० के अनुसार गुण-नाश के कई कारण हैं; जैसे आश्रय (कारण, गुणी) के नाश से अथवा विरोधी गुण के उत्पन्न हो जाने से किसी गुण का नाश हो जाता है। इनमें से जब कारण (आश्रय) के नाश से गुण का नाश होता है; अर्थात् पट के नाश से पट में स्थित रूप आदि गुण का नाश होता है तो वहाँ पट-नाश कारण है तथा रूप-नाश कार्य। यह नियम है कि कारण सदा ही कार्य से पूर्ववर्ती—नियत-पूर्वभावी होता है। इसलिये पहिले पट-नाश होगा तब पट-रूप का नाश होगा। इस पट-नाश तथा पट-रूप के नाश में एक क्षण का अन्तर माना जाता है। जिस प्रकार प्रथम क्षण में निर्गुण द्रव्य उत्पन्न होता है दूसरे क्षण में उसमें गुण उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रथम क्षण में द्रव्य का नाश हो जाता है, दूसरे क्षण में उसके गुणों का नाश होता है। पूर्व क्षण में पट-नाश होने के अनन्तर ही पट-रूप का नाश हुआ करता है। जिस क्षण पट-नाश होता है वह क्षण पट-रूप-नाश की दृष्टि से विनश्यदवस्था है, क्योंकि उस क्षण पट-रूप-नाश की सामग्री (अर्थात् पट-नाश) सन्निहित होती है। इस विनश्यत्ता की अवस्था में गुणी में गुण आश्रित नहीं रहता अपि तु निराश्रित ही रहा करता है। अन्यथा सदा ही गुणी में गुण आश्रित रहता है। इस प्रकार यहाँ दोनों (गुण तथा गुणी) में से एक अर्थात् गुण अविनश्यदवस्था में गुणी के आश्रित रहता है अतः गुण तथा गुणी अयुतसिद्ध है।

अयुतसिद्ध का तीसरा उदाहरण है—क्रिया-क्रियावान्। उत्क्षेपण (उछालना) आदि कर्म ही क्रिया कही गई है। जिसमें क्रिया रहती है वह क्रियावान् है। क्रियावान् में ही क्रिया रहा करती है अतः सामान्यतः क्रिया तथा क्रियावान् सदा साथ ही रहा करते हैं, उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता, वे अयुतसिद्ध हैं। किन्तु एक अवस्था ऐसी भी होती है जब क्रिया निराश्रित रहती है। गुण-नाश के समान ही क्रिया-नाश के भी कई कारण हो सकते हैं। जब आश्रय (क्रियावान्) के नाश से क्रिया का नाश होता है तो

वहाँ प्रथम क्षण में आश्रय-नाश हो जाता है तब द्वितीय क्षण में क्रिया-नाश हुआ करता है। उस अवस्था में एक क्षण के लिये क्रिया निराश्रित ही रहा करती है। अन्यथा क्रिया सदा ही क्रियावान् में आश्रित रहती है। अतः क्रिया-क्रियावान् में भी अयुतसिद्ध का परिष्कृत लक्षण ही घटित होता है।

इस प्रकार अवयव-अवयवी, गुण-गुणी तथा क्रिया-क्रियावान् इन सभी में तभी अयुतसिद्ध का लक्षण घटित होगा जब कि इस लक्षण में अविनश्यत् पद रक्खा जायेगा।

अयुतसिद्ध का चौथा उदाहरण है—**जातिव्यक्ति**। जाति को सामान्य भी कहते हैं। जो पदार्थ अनेक वस्तुओं में समानाकारक प्रतीति का निमित्त है वह जाति या सामान्य कहलाता है। जैसे सभी घटों में 'यह घट है', 'यह घट है' इस प्रकार की समानाकारक प्रतीति होती है। इस प्रतीति का जो निमित्त है वही घटत्व नामक सामान्य या जाति है। यह घटत्व आदि जाति सदा घट आदि व्यक्तियों में ही रहा करती है, कभी उनसे पृथक् नहीं देखी जाती। अतः 'ययोर्मध्ये एकम् अपराश्रितम् एव अवतिष्ठते', केवल इतने लक्षण से भी जाति—व्यक्ति में अयुतसिद्ध का लक्षण घटित हो जाता है। एतदर्थ लक्षण में 'अविनश्यत्' पद की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि एक अवस्था ऐसी भी होती है जब कोई घट आदि व्यक्ति नष्ट हो जाती है। किन्तु जाति को तो नित्य माना गया है, वह सभी घटों में एक होती है, अतः कतिपय घटों का नाश हो जाने पर भी घटत्व जाति अन्य घट व्यक्तियों में रहती ही है। इस प्रकार जाति सदा ही व्यक्ति में आश्रित रहती है अतः जाति तथा व्यक्ति अयुतसिद्ध हैं।

अयुतसिद्ध का पाँचवा उदाहरण है **विशेष तथा नित्यद्रव्य**। न्या०-वैं० के अनुसार नित्यद्रव्य ९ हैं—आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन तथा पृथिवी जल अग्नि-वायु के चार प्रकार के परमाणु। इन नित्यद्रव्यों में विशेष नामक पदार्थ रहता है, जो सदा उन द्रव्यों के आश्रित ही रहता है, कभी भी पृथक् नहीं रहता। अतएव विशेष एवं नित्यद्रव्य दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं।

विचारणीय है कि विशेष पदार्थ क्या है ? विशेष का अर्थ है भेदक धर्म, सभी नित्यद्रव्यों में एक भेदक धर्म माना गया है जिसके कारण उनमें भेद की प्रतीति हुआ करती है वही विशेष नामक पदार्थ है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सभी पटों में समानता की प्रतीति का निमित्त जो पटत्व नामक सामान्य है, वह सभी पटों का घट आदि से भेद कराती है अतः पटत्व आदि जाति के दो कार्य हैं—(क) सजातीय वस्तुओं में समानाकारक प्रतीति कराना तथा (ख) विजातीय वस्तुओं से भेद की प्रतीति कराना। इसी हेतु पटत्व आदि जाति को सामान्य-विशेष कहा जाता है। इनके द्वारा एक जाति की वस्तुओं का दूसरी जाति की वस्तुओं से तो भेद हो जाता है। किन्तु जब एक जाति की (समानजातीय) वस्तुओं में परस्पर भेद करना होता है, अर्थात् एक

पट का दूसरे पट से भेद करना होता है तो वहाँ इस सामान्यविशेष के आधार पर भेद नहीं हो सकता अपि तु अन्य निमित्तों से भेद होता है। कहीं तो इस भेद का आधार गुण-भेद होता है जैसे नीले वस्त्र का श्वेत वस्त्र से भेद किया जाता है। जब दो वस्त्रों में गुण (रंग आदि) समान होते हैं तो अवयवों के भेद से ही दोनों में भेद किया जाता है। वस्त्र (पट) के अवयव हैं तन्तु। तन्तुओं में भी उनके अवयवों (छोटे-छोटे अंशों) के भेद के आधार पर ही भेद किया जा सकता है। इस प्रकार अवयव-विभाग करते-करते जब तक हम द्वचणुक पर पहुँचते हैं तब तक अवयवों के भेद के आधार पर ही भेद करना संभव है। द्वचणुकों के अवयव अर्थात् परमाणु भिन्न-भिन्न हैं अतः वे भी परस्पर भिन्न हैं, यह कहा जा सकता है। यहाँ प्रश्न होता है कि द्वचणुक के अवयव जो परमाणु हैं, उनके तो आगे अवयव नहीं होते फिर दो परमाणुओं में परस्पर भेद कैसे किया जाये। मान लीजिये दो पार्थिव परमाणुओं में भेद करना है उनके गुण समान हैं, अवयव उनके हैं नहीं, फिर उनका परस्पर भेद कैसे किया जाये ? इसी प्रकार न्या०-वै० के अनुसार जो अनेक आत्मा हैं उनमें परस्पर भेद किस आधार पर किया जाये। इन परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में परस्पर भेद करने वाला कोई पदार्थ अवश्य होना चाहिये। इस भेदक पदार्थ को ही न्या०-वै० में 'विशेष' नाम से कहा गया है। वह केतल भेद (व्यावृत्ति) का ही निमित्त ई, सामान्य-विशेष के समान सजातीयों में समानाकारक प्रतीति का भी निमित्त नहीं है। इसी आधार पर इस पदार्थ का नाम **अन्त्य विशेष** अथवा **विशेष** रखा गवा है। इस 'विशेष' नाम के पदार्थ का अनुसन्धान करने के कारण शास्त्र का नाम भी 'वैशेषिक' हुआ है। यह 'विशेष' नाम का पदार्थ सदा ही नित्य द्रव्यों में आश्रित रहा करता है। कभी भी नित्य द्रव्यों से पृथक् नहीं रहता। अतः 'ययोर्मध्ये एकम् अपराश्रितम् एव अवतिष्ठते' इतने लक्षण के अनुसार ही विशेष तथा नित्यद्रव्यों को अयुतसिद्ध कहा जा सकता है। अविनश्यत् पद रखने पर भी उनमें यह लक्षण घटित होता ही है क्योंकि 'विशेष' नामक पदार्थ नित्य है। वह सदा अविनश्यदवस्था में ही रहता है।

टिप्पणी—(i) सामान्य तथा विशेष के विषय में आगे (सामान्य तथा विशेष प्रकरण) भी द्रष्टव्य है। (ii) **विनश्यत्ता** = विनश्यत् + ता, विनश्यतां भावो विनश्यत्ता विनाशे ध्वंसे यानि कारणानि तेषां सामग्री पौष्कल्यं तस्य सांनिधिरेव संनिध्यमित्यर्थः (चि०)।

पट के समवायी कारण तन्तु हैं, यह कहा गया था। उसी सन्दर्भ में शङ्का का समाधान करते हुए 'समवाय' का लक्षण किया गया है--अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। 'अयुतसिद्ध' की विशद व्याख्या की गई है तथा उदाहरण भी दिये गये हैं। अब यह उपसंहार करते हैं कि तन्तु ही पट का समवायी कारण है, तुरी-वेम आदि नहीं—

तन्तुपटावप्यवयवावयविनौ, तेन तयोः सम्बन्धः समवायोऽयुतसिद्धत्वात्। तुरीपटयोस्तु न समवायोऽयुतसिद्धत्वाभावात्। न हि तुरी पटाश्रितैवावतिष्ठते नापि पटस्तुर्याश्रितः। अतस्तयोः सम्बन्धः संयोग एव। तदेवं तन्तुसमवेतः पटः।

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। अतस्तन्तुरेव समवायिकारणं पटस्य न तु तुर्यादि।

पटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम्। एवं मृत्पिण्डोपि घटस्य समवायिकारणं, घटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम्।

तन्तु और पट भी अवयव और अवयवी हैं। इसलिये अयुतसिद्ध होने के कारण उन दोनों का सम्बन्ध समवाय है। तुरी और पट का तो समवाय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि (वे दोनों) अयुतसिद्ध नहीं हैं। न तो तुरी पट के आश्रित ही रहती है और न पट तुरी के आश्रित रहता है। अतः उन दोनों का सम्बन्ध संयोग ही है। इस प्रकार पट तन्तुओं में समवेत होता है (तुरी-वेम आदि में नहीं)।

जिसमें समवेत कार्य उत्पन्न होता है वह समवायी कारण है। इसलिये तन्तु ही पट के समवायी कारण हैं, तुरी आदि नहीं।

किञ्च, पट अपने रूप आदि का समवायी कारण होता है। इसी प्रकार मिट्टी का पिण्ड भी घट का समवायी कारण है तथा घट अपने में स्थित रूप आदि का समवायी कारण है।

ऊपर अयुतसिद्ध पदार्थों के पांच उदाहरण दिये गये थे—अवयवी-अवयव, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, विशेष-नित्यद्रव्य। जिन दो पदार्थों में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे पर आश्रित ही रहता है वे दो पदार्थ अयुतसिद्ध कहलाते हैं। इन जोड़ों में पहिला-पहिला पदार्थ अविनश्यदवस्था में दूसरे-दूसरे पर आश्रित ही रहता है अतः ये अयुतसिद्ध हैं। अयुतसिद्धों का सम्बन्ध समवाय होता है। जब तन्तु और पट का उपर्युक्त दृष्टि से विचार किया जाता है तो स्पष्ट है कि ये भी अवयव तथा अवयवी हैं। तन्तु अवयव हैं, पट अवयवी। अतः ये दोनों अयुतसिद्ध हैं और दोनों का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है। दूसरी ओर तुरी-वेम आदि के साथ पट का समवाय सम्बन्ध नहीं बनता। क्यों? तुरी और पट अयुतसिद्ध नहीं हैं, उनमें अयुतसिद्ध का लक्षण नहीं घटता। ऐसा नहीं कि उनमें से कोई एक अविनश्यदवस्था में दूसरे के आश्रित ही रहता हो।

फलतः पट का तन्तुओं में ही समवाय सम्बन्ध है, तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न होता है। अतः तन्तु ही पट के समवायी कारण हैं। जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य की उत्पत्ति होती है वही समवायी कारण कहलाता है। तुरी-वेम आदि के साथ तो पट का समवाय सम्बन्ध नहीं है फिर वे समवायी कारण कैसे हो सकते हैं?

ननु यदैव घटादयो जायन्ते तदैव तद्गतरूपादयोऽपि, अतः समानकालीनत्वाद् गुणगुणिनोः सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभाव एव नास्ति पौर्वापर्याभावात्। अतो न समवायिकारणं घटादयः स्वगतरूपादीनाम्। कारणविशेषत्वात् समवायिकारणस्य।

गुण तथा गुणी के समवाय सम्बन्ध का उदाहरण है; जैसे पट अपने रूप आदि का समवायी कारण होता है। यहाँ पट गुणी है, उसमें रहने वाले रूप आदि उसके गुण हैं। ऊपर बतलाया है कि गुण तथा गुणी अयुतसिद्ध हैं। अतः उन दोनों का समवाय सम्बन्ध है। गुणी में समवाय सम्बन्ध से गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिये गुणी भी गुणों का समवायी कारण है।

समवायी कारण के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने के लिये पट के समान ही घट में भी अवयव-अवयवी तथा गुण-गुणी के समवाय सम्बन्ध के उदाहरण दिये गये हैं। मृत्तिकापिण्ड में समवेत घट की उत्पत्ति होती हैं अतः मृत्तिकापिण्ड घट का समवायी कारण कहलाता है। इसी प्रकार घट (गुणी) भी अपने रूप आदि गुण का समवायी कारण है।

टिप्पणी—घट का समवायी कारण मृत्पिण्ड है, इस उदाहरण से यह भी प्रकट हो जाता है कि न्या०-वै० के अनुसार सभी कार्य द्रव्य सावयव (अवयवी) रूप में होते हैं। लोक-प्रतीति के अनुसार पट आदि में तो स्पष्ट रूप से अवयवों से अवयवी बनता है किन्तु घट आदि में नहीं, वहाँ तो मिट्टी के लौंदे (पिण्ड) का घट रूप में परिवर्तन होता हुआ दिखलाई दिया करता है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि में मिट्टी के लौंदे से भी प्रथमतः घट के छोटे-छोटे अवयवों का निर्माण होता है, उन छोटे अवयवों से बड़े अवयव (कपाल) बनते हैं और इस प्रकार अवयवों में ही घट नामक अवयवी उत्पन्न हुआ करता है। इसी प्रकार जब सुवर्ण आदि धातुओं से कुण्डल आदि बनता है तो वहाँ भी अवयवों में समवेत अवयवी उत्पन्न होता है, यह समझना चाहिये। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो न्या०-वै० के अनुसार सर्वत्र ही परमाणुओं से द्वयणुक आदि की उत्पत्ति होकर क्रमशः कार्यद्रव्य की उत्पत्ति हुआ करती है।

गुणों का समवायी कारण गुणी होता है, इसके उदाहरण के रूप में यहाँ पट को पटगत रूप आदि गुणों का तथा घट को घटगत रूप आदि गुणों का समवायी कारण बतलाया गया है। इस पर शङ्का होती है—

(शङ्का) जब घट आदि (गुणी) उत्पन्न होते हैं तभी उनमें रहने वाले रूप आदि (गुण) भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये समानकालीन होने के कारण गुण और गुणी में पौर्वापर्य न होने से उनमें बायें (सव्य) तथा दाहिने (इतर) सींग के समान कार्य-कारण-भाव ही नहीं है। अतः घट आदि अपने में रहने वाले रूप आदि (गुणों) के समवायी कारण नहीं हो सकते; क्योंकि समवायी कारण भी तो विशेष प्रकार का कारण ही है।

अत्रोच्यते । न गुणगुणिनोः समानकालीनं जन्म, किन्तु द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते। समानकालोत्पत्तौ तु गुण-गुणिनोः समानसामग्रीकत्वाद् भेदो न स्यात्, कारणभेदनियतत्वात्कार्यभेद-स्य । तस्मात्प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते गुणेभ्यः पूर्वभावीति भवति गुणानां समवायिकारणम् ।

तदा कारणभेदोऽप्यस्ति । घटो हि घटं प्रति न कारणमेकस्यैव पौर्वापर्या-

---

शङ्का का अभिप्राय यह है—घट आदि अपने में रहने वाले (स्वगत) रूप आदि गुणों के समवायी कारण हैं, यह कहना युक्तिसंगत नहीं। कारण का लक्षण है—अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम् । इसके अनुसार कारण सदा ही कार्य से पूर्ववर्ती होता है तथा कार्य परवर्ती । फलतः दोनों में पौर्वापर्य (पहले और बाद में होना) हुआ करता है । यह पौर्वापर्य कार्य-कारण-भाव के लिये अनिवार्य है । इसलिये जो दो वस्तुएं एक ही काल में उत्पन्न हुआ करती हैं, उनमें कार्य-कारण-भाव नहीं हुआ करता । उदाहरणार्थ गाय के बायें और दाहिने दो सींग हैं । वे एक साथ उत्पन्न होते हैं—समानकालभावी हैं, उनमें कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध नहीं देखा जाता । गुण तथा गुणी में भी यही बात है । अनुभव से प्रतीत होता है कि घट आदि गुणी तथा घट-रूप आदि गुण दोनों एक साथ ही उत्पन्न होते हैं—समानकालीन हैं, उनमें पौर्वापर्य नहीं है । फिर घट को घट-रूप का कारण कैसे कहा जा सकता है ? और, समवायी कारण तो कारण का ही एक प्रकार है । जो कारण ही नहीं है, वह समवायी कारण कैसे हो सकता है ? इस प्रकार घट इत्यादि गुणी को घट-रूप आदि गुणों का समवायी कारण नहीं कहा जा सकता। पूर्वपक्षी के अनुमान का प्रयोग होगा—घट आदि स्वगत रूप आदि का समवायी कारण नहीं (प्रतिज्ञा)
क्योंकि समानकालीन होने के कारण उनमें पौर्वापर्य भाव नहीं है (हेतु)
बायें तथा दाहिने सींग के समान (उदाहरण)

उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं—

(ग) प्रथम क्षण में द्रव्य की निर्गुणता

इस विषय में कहा गया है । गुण और गुणी की समानकाल में उत्पत्ति नहीं होती । किन्तु पहिले द्रव्य निर्गुण ही उत्पन्न होता है । बाद में उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण उत्पन्न होते हैं । यदि गुण तथा गुणी (दोनों) की समानकाल में उत्पत्ति होगी तो उनकी कारण-सामग्री भी समान होगी अतः उन दोनों में (यह गुण है, यह गुणी है इस प्रकार का) भेद न होगा । क्योंकि कार्य का भेद कारण के भेद से व्याप्त (= नियत) है (कार्य-भेद तभी होता है,जब कारण भेद होता है, यह नियम या व्याप्ति है) । इसलिये प्रथम क्षण में निर्गुण ही घट उत्पन्न होता है । वह (रूप आदि) गुणों से पूर्वभावी है, इस प्रकार वह गुणों का समवायी कारण होता है ।

तब (गुण तथा गुणी में) कारण का भेद भी है; घट स्वयं अपने प्रति तो कारण होता नहीं, क्योंकि एक ही घट में पौर्वापर्य भाव नहीं होता—वहीं घट उसी

भावात् । न हि स एव तमेव प्रति पूर्वभावी पश्चाद्भावी चेति । स्वगुणान् प्रति तु पूर्वभावित्वाद् भवति गुणानां समवायिकरणम् ।

(घट) के प्रति पूर्वभावी तथा पश्चात् भावी नहीं हो सकता । किन्तु अपने (रूप आदि) गुणों के प्रति तो पूर्वभावी होने से वह अपने गुणों का समवायी कारण होता है ।

अत्रोच्यते······समवायिकारणम्, इस समाधान का अभिप्राय है—पूर्वपक्षी ने जो कहा है कि गुण तथा गुणी की समान काल में उत्पत्ति होती है अतः दोनों में पौर्वापर्य-भाव नहीं हो सकता तथा दोनों में कार्य-कारण-भाव नहीं बनता । यह कथन युक्तियुक्त नहीं । क्यों ? न्या०-वै० के अनुसार प्रथम क्षण में निर्गुण द्रव्य की उत्पत्ति होती है, द्वितीय क्षण में ही उसमें गुणों का जन्म होता है । ऐसा मानने में तर्क भी है । नियम (व्याप्ति) यह है कि जहाँ कार्य-भेद होता है, वहाँ कारण-भेद अवश्य होता है । यहाँ कारण शब्द का अभिप्राय है कारण-सामग्री (अत्रत्यः कारण-शब्दः सामग्री-वचनः, चि०) उदाहरणार्थ पट और घट दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं । इन दोनों की कारण-सामग्री भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है । पट की कारण-सामग्री है—तन्तु, तुरी, वेम आदि तथा घट की कारण-सामग्री है— मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदि । प्रकृत में 'यह गुण है,' 'यह गुणी है' इस प्रकार साक्षात् रूप से ही कार्य का भेद देखा जाता है । इस कार्य-भेद से कारण-भेद का अनुमान किया जाता है; जैसे धूम (व्याप्त) को देखकर अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है । इस प्रकार गुण तथा गुणी में कारण-सामग्री का भेद सिद्ध हो जाता है ।

इस सामग्री भेद से अनुमान किया जाता है कि गुण तथा गुणी का एक काल (समान काल) में जन्म नहीं होता । यदि गुण और गुणी का एक काल में जन्म माना जाये तो दोनों की कारण-सामग्री एक ही माननी होगी । उनकी कारण-सामग्री का भेद होने पर तो दोनों की कारण-सामग्री नियमपूर्वक एक ही काल में एकत्र न हुआ करेगी और तब दोनों का एक काल में ही जन्म न हो सकेगा । अतः यह मानना पड़ता है कि प्रथम क्षण में निर्गुण घट की उत्पत्ति हो जाती है, दूसरे क्षण में उसमें रूप आदि गुण उत्पन्न होते हैं ।

इस प्रकार कोई दोष नहीं रहता । (क) घट आदि गुणी अपने रूप आदि गुणों से पूर्वभावी है या कहिये नियतपूर्वभावी है अतः वह गुणों का कारण है । घट में समवेत रूप आदि गुणों की उत्पत्ति होती है अतः घट समवायी कारण है । (ख) जब घट को घटरूप का समवायी कारण मान लेते हैं तब (=तदा) कारण का भेद भी है । कैसे ? गुण का समवायी कारण घट आदि गुणी है । वह घट आदि अपना ही तो कारण हो ही नहीं सकता । कारण सदा पूर्वभावी होता है तथा कार्य पश्चाद्-भावी होता है । घट स्वयं ही अपने प्रति पूर्वभावी तथा पश्चाद्भावी नहीं हो सकता । किन्तु घट अपने रूप आदि गुणों का पूर्ववर्ती है अतः गुणों का कारण है । और, घट

नन्वेवं सति प्रथमे क्षणे घटोऽचाक्षुषः स्याद्, अरूपिद्रव्यत्वाद् वायुवत्। तदेव हि द्रव्यं चाक्षुषं यत्महत्त्वे सत्युद्‌भूतरूपवत्। अद्रव्यं च स्याद् गुणाश्रयत्वाभावात्। गुणाश्रयो द्रव्यमिति हि द्रव्यलक्षणम्।

की कारण-समग्री मृत्तिका आदि है। अतः कारण-भेद है। इसलिये घट अपने रूप आदि का समवायी कारण है, यह ठीक है।

विशेष—यहाँ जो पट-पटरूप, घट-घटरूप को गुण-गुणी-भाव की दृष्टि से समवायी कारण का उदाहरण दिया गया है, उससे गुणों की उत्पत्ति के विषय में वैशेषिक के इस सिद्धान्त का भी स्पष्टीकरण हो जाता है—उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति (उत्पन्न होने वाला द्रव्य क्षणभर को निर्गुण तथा निष्क्रिय रहता है)।

यदि ऐसा माना जाये कि पूर्वक्षण में निर्गुण घट आदि की उत्पत्ति होती है और अग्रिम क्षण में उसमें रूप आदि गुण उत्पन्न होते हैं, तब शङ्का यह है—

ऐसा मानने पर तो प्रथम क्षण में घट (क) चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय न होगा, रूप-रहित द्रव्य होने के कारण, वायु के समान। क्योंकि वही द्रव्य चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय (चाक्षुषम्) होता है जो महत् परिमाण से युक्त होते हुए उद्‌भूत रूप वाला होता है। और (ख) गुणों का आश्रय न होने से (वह घट) द्रव्य भी न हो सकेगा; क्योंकि गुण का आश्रय होता है, यह द्रव्य का लक्षण है।

प्रथम क्षण में घट आदि निर्गुण उत्पन्न होते हैं, ऐसा मानने पर दो दोषों की आशङ्का है। (क) पहिला दोष यह है कि प्रथम क्षण में घट आदि चाक्षुष न हुआ करेंगे। जिस वस्तु का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होता है, वह चाक्षुष कहलाती है। न्या०-वै० का मन्तव्य है कि उसी का चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ करता है जिसमें महत् परिमाण होता है तथा जिसमें उद्‌भूत रूप होता है। फलतः पार्थिव आदि परमाणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि उसमें महत् परिमाण नहीं हुआ करता। महत् परिमाण वाला होने पर भी आकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि उसमें रूप नहीं होता। यद्यपि तप्त (तपे) जल में रहने वाले तेजस् में महत् परिमाण होता है तथा रूप भी होता है तथापि उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि वहाँ रूप में उद्‌भूतता नहीं है। उद्‌भूतता (उद्‌भूतत्व) रूप की ऐसी विशेषता है जिसके होने से रूप का प्रत्यक्ष हो जाया करता है। इसे रूप की एक प्रकार की उज्ज्वलता कह सकते हैं।

इस मन्तव्य के अनुसार यदि प्रथम क्षण में घट आदि में रूप न होगा तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष भी न होगा। इस विषय में अनुमान है—

प्रथम क्षण के (निर्गुण) घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होगा	(प्रतिज्ञा)
रूप-रहित द्रव्य होने से	(हेतु)
वायु के समान	(उदाहरण)

सत्यम् । प्रथमे क्षणे घटो यदि चक्षुषा न गृह्यते का नो हानिः । न हि सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि निमेषावसरे घटो गृह्यते । तेन व्यवस्थितमेतन्निर्गुण एव प्रथमं घट उत्पद्यते । द्वितीयादिक्षणेषु चक्षुषा गृह्यते ।

न च प्रथमे क्षणे गुणाश्रयत्वाभावाद् अद्रव्यत्वापत्तिः । समवायिकारणं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणयोगात् । योग्यतया गुणाश्रयत्वाच्च । योग्यता च गुणानामत्यन्ताभावाभावः ।

(ख) दूसरा दोष यह होगा कि तब तो प्रथम क्षण में में घट आदि को द्रव्य न कहा जा सकेगा । क्यों ? जो गुणों का आश्रय होता है उसे ही द्रव्य कहते हैं । जब प्रथम क्षण में निर्गुण घट की उत्पत्ति होगी तो उसमें कोई गुण न होगा और वह गुण का आश्रय न कहला सकेगा ।

पूर्वपक्षी की शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती उपर्युक्त दोनों दोषों का परिहार करते हैं—

ठीक है (कि प्रथम क्षण में घट का चक्षु द्वारा ग्रहण न होगा), किन्तु यदि प्रथम क्षण में चक्षु द्वारा घट का ग्रहण न होगा तो इसमें हमारी क्या हानि है ? क्योंकि 'गुणों सहित घट उत्पन्न होता है' इस पक्ष में भी पलक गिरने के अवसर पर (निमेषस्य अवसरे) घट का (चक्षु द्वारा) ग्रहण नहीं हुआ करता । इसलिये यह निश्चित (=व्यवस्थित) है कि पहिले निर्गुण ही घट उत्पन्न होता है, द्वितीय आदि क्षणों में उसका चक्षु द्वारा ग्रहण होता है ·

[दूसरे दोष का परिहार] यह भी नहीं कि प्रथम क्षण में गुणों का आश्रय न होने के कारण (घट आदि में) द्रव्यत्व का अभाव होने लगेगा, क्योंकि समवायी कारण द्रव्य होता है, यह द्रव्य का लक्षण घटित हो जाता है (द्रव्यलक्षणस्य योगात् घटनात्)। [यदि 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यही द्रव्य का लक्षण माना जाये तो भी दोष नहीं] और, क्योंकि वह (प्रथम क्षण का घट) योग्यता से गुणों का आश्रय है ही । गुणों के अत्यन्ताभाव का अभाव ही (यहाँ) योग्यता है ।

सिद्धान्ती के समाधान का भाव यह है—प्रथम क्षण में निर्गुण घट उत्पन्न होता है, इस मन्तव्य में पूर्वपक्षी ने जो पहिला दोष दिया है कि तब तो प्रथम क्षण में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होगा । यह कोई दोष ही नहीं है । यदि प्रथम क्षण में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होगा । यह कोई दोष ही नहीं है । यदि प्रथम क्षण में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होगा इसमें हानि क्या है ? जब यह माना जाता है कि गुण-विशिष्ट द्रव्य की उत्पत्ति होती है तब भी जिस क्षण कोई द्रष्टा पलक गिराता है (निमेषावसरे) उस क्षण घट आदि का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता और इससे व्यवहार की हानि नहीं होती । इसी प्रकार प्रथम क्षण में घट आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने पर भी व्यवहार की हानि न होगी, अतः वह दोष नहीं है ।

टिप्पणी—कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'निमेषावसरे' का अर्थ है—प्रथमक्षणे (श्री बद्रीधर झा, तर्कभाषा टीका) । तदनुसार 'न हि······गृह्यते' इत्यादि पंक्ति का

असमवायिकारणम् 'उच्यते । यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम् । यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम् ।

भाव यह होगा—जब हम यह मानते हैं कि गुणसहित द्रव्य उत्पन्न होता है तब भी प्रथम क्षण में उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । क्यों ? प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय भी कारण होता है और कारण कार्य से नियतपूर्वभावी हुआ करता है अतः प्रथम क्षण में जो गुणविशिष्ट घट आदि उत्पन्न होंगे वे द्वितीय क्षण में होने वाले चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण हो सकते हैं । इस प्रकार सगुणोत्पत्ति के पक्ष में भी प्रथम क्षण में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होगा ।

इस प्रकार यह युक्तिसंगत ही है कि प्रथम क्षण में घट आदि द्रव्य निर्गुण उत्पन्न होते हैं, द्वितीय क्षण में उनमें रूप आदि गुण उत्पन्न होते हैं । यदि प्रथम क्षण में उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता तो इसमें कोई दोप नहीं है ।

पूर्वपक्षी ने दूसरा दोष दिया था कि इस प्रकार प्रथम क्षण के घट आदि में द्रव्य का लक्षण न घटित होगा । इसके समाधान में सिद्धान्ती का कथन है कि हम 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण न करके 'समयायिकारणं द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण करेंगे । प्रथम क्षण में जो घट आदि होता है, वह द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाले रूप आदि गुणों का समवायी कारण होता है अतः उसमें भी द्रव्य का लक्षण घटित हो जायेगा और उसमें द्रव्यत्व होगा ही । यदि पूर्वपक्षी को 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यही लक्षण अभीष्ट है तो भी कोई दोष नहीं । कैसे ? यहाँ गुणाश्रयत्व का अर्थ होगा—गुणों का आश्रय होने की योग्यता होना । इस योग्यता का भाव यह है कि जो गुणों के अत्यन्ताभाव का अधिकरण न हो । अत्यन्ताभाव एक त्रैकालिक (तीनों कालों में रहने वाला) अभाव है । घट में गुणों का अत्यन्ताभाव नहीं रहता । यद्यपि प्रथम क्षण के घट में गुणों का अभाव रहता है तथापि उसमें अग्रिम क्षण ही गुण उत्पन्न हो जाते हैं अतः वह गुणों के अत्यन्ताभाव का अधिकरण नहीं कहा जा सकता। ठीक है कि वहाँ गुणों का प्रागभाव है किन्तु अत्यन्ताभाव का तो अभाव ही है । अतः 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' द्रव्य का यह लक्षण करने पर भी प्रथम क्षण के घट आदि में द्रव्य का लक्षण घटित होगा । इस प्रकार कोई दोष नहीं । और, पट-रूप आदि का पट आदि समवायी कारण है, यह युक्तियुक्त ही है ।

६. असमवायी कारण

इस प्रकार समवायी कारण के लक्षण का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करके अब असमवायी कारण का निरूपण करते हैं—

अब असमवायी कारण बतलाया जाता है । जो समवायी कारण में प्रत्यासन्न (=निकटतः सम्बद्ध) होता है और जिसकी (कार्य के प्रति) सामर्थ्य निश्चित होती है (अर्थात् जिसमें कारण का लक्षण घटित होता है) वह असमवायी कारण है जैसे

१. तदुच्यते, पाठान्तरम् ।

तन्तुसंयोगस्य गुणस्य, पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु समवेतत्वेन समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वात्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन पटं प्रति कारणत्वाच्च ।

तन्तुसंयोग पट का असमवायी कारण है । क्योंकि तन्तुसंयोग गुण है, वह पट के समवायी कारण तन्तु नामक गुणी में समवाय सम्बन्ध से रहता (समवेत) है अतः (पट के) समवायी कारण में प्रत्यासन्न है । और, वह अनन्यथासिद्ध पूर्वभावी होने से पट के प्रति कारण भी है ।

असमवायी कारण के लक्षण में दो पद हैं—(i) समवायिकारण-प्रत्यासन्नम् (ii) अवधृतसामर्थ्यम् । प्रथम पद का अर्थ है जो समवायी कारण में प्रत्यासन्न होता है । प्रत्यासन्न अर्थात् प्रत्यासत्ति रखने वाला । प्रत्यासत्ति = निकट सम्बन्ध (Close proximity) । सबसे निकट का सम्बन्ध समवाय है अतः यह प्रत्यासत्ति समवाय आदि के रूप में हुआ करती है यहाँ समवेत पद न रखकर 'प्रत्यासन्न' पद विशेष अभिप्राय से रक्खा गया है, जो अभी आगे स्पष्ट होगा ।

लक्षण के दूसरे पद का अर्थ है—जिसमें सामर्थ्य अर्थात् कारण होने की सामर्थ्य निश्चित की गई है—अवधृतं निश्चतं सामर्थ्यं कारणतारूपं यस्य । कारण होने की सामर्थ्य क्या है ? जो कारण के लक्षण में कही गई है—अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम् । अतः इस पद का भाव है कि जो अनन्यथासिद्ध नहीं है तथा कार्य की अपेक्षा नियत पूर्वभावी है ।

यदि असमवायी कारण के लक्षण में केवल प्रथम पद ही रक्खा जाता, दूसरा नहीं; अर्थात् 'यत् समवायिकारणप्रत्यासन्नम्' इतना ही लक्षण होता तब तो तन्तु रूप भी पट का असमवायी कारण होने लगता (और इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष हो जाता); क्यों पट का समवायी कारण जो तन्तु हैं उनमें तन्तु-रूप प्रत्यासन्न है, अर्थात् समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है । इस अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये इस लक्षण में दूसरा पद 'अवधृतसामर्थ्यम्' रक्खा गया है । इस पद के रखने पर तो जिसमें कारण का लक्षण निश्चित किया गया हो वही असमवायी कारण हो सकता है । पहिले कहा जा चुका है कि तन्तु-रूप तो पट के प्रति अन्यथासिद्ध है अतः वह पट का कारण ही नहीं हो सकता फिर वह असमवायी कारण कैसे हो सकता है ?

अब, यदि इस लक्षण में केवल द्वितीय पद 'अवधृतसामर्थ्यम्' ही रखा जाता, प्रथम पद नहीं तो तन्तु भी पट का असमवायी कारण होने लगता । क्योंकि उसमें 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्' यह कारण का लक्षण घटित होता है । किन्तु तन्तु तो पट का समवायी कारण है, असमवायी नहीं । अतः वहाँ इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती । इस अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये 'समवायिकारणप्रत्यासन्नम्' यह पद दिया गया है । तन्तु तो पट के समवायी कारण में प्रत्यासन्न नहीं है

एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम् ।

ननु पटरूपस्य पटः समवायिकारणं, तेन तद्गतस्यैव कस्यचिद्धर्मस्य पटरूपं प्रत्यसमवायिकारणत्वमुचितम्। तस्यैव समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्। न तु तन्तुरूपस्य। तस्य समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात्।

मैवम्। [1]तत्समवायिकारणसवायिकारणप्रत्यासन्नस्यापि परम्परया समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्।

अपितु स्वयं ही समवायी कारण है। अतः उसमें असमवायी कारण का लक्षण नहीं जाता।

इस प्रकार असमवायी कारण वह है जो समवायी कारण से निकटतः सम्बन्ध रखता है तथा जिसमें कारण का सामान्य लक्षण भी घटित होता है। इसका एक उदाहरण है जैसे पट का असमवायी कारण है—तन्तुसंयोग। पट के समवायी कारण तन्तु हैं। उनमें तन्तुसंयोग समवाय सम्बन्ध से रहता है। कैसे? संयोग एक गुण है। गुण तथा गुणी में समवाय सम्बध होता है। अतः तन्तुसंयोग तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। वह समवायी कारण में प्रत्यासन्न है। यह तन्तुसंयोग पट (कार्य) का नियतपूर्वभावी भी है; ऐसा सम्भव नहीं है कि तन्तुसंयोग न हो तथा पट की उत्पत्ति हो जाये। तन्तुसंयोग अन्यथासिद्ध भी नहीं है। इस प्रकार तन्तुसंयोग में असमवायी कारण का लक्षण घटित होता है। अतः तन्तुसंयोग पट का असमवायी कारण है।

तन्तुसंयोग को जो पट का असमवायी कारण बतलाया गया है, इसमें पट कार्य है। वह द्रव्य है। अतः यह द्रव्य-रूप कार्य के असमवायी कारण का उदाहरण है। किन्तु कार्य तो गुण एवं कर्म भी होते हैं। अतः अब 'गुण' का असमवायी कारण दिखलाने के लिये दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं:—

इसी प्रकार तन्तु का रूप पट के रूप का असमवायी कारण है।

(शङ्का) पट-रूप का समवायी कारण पट है। इसलिये उस (पट) में रहने वाले किसी धर्म का ही पट-रूप के प्रति असमवायी कारण होना उचित है; क्योंकि वही समवायी कारण में प्रत्यासन्न है। तन्तुरूप का तो (पट-रूप के प्रति असमवायी कारण होना) उचित नहीं; क्योंकि उसकी समवायी कारण (पट) में प्रत्यासत्ति नहीं है।

(समाधान) ऐसा नहीं है; क्योंकि कार्य (=पटरूप आदि) के समवायी कारण (पट आदि) के समवायी कारण (तन्तु आदि) में प्रत्यासन्न (तन्तु-रूप आदि) की भी परम्परा से समवायी कारण में प्रत्यासत्ति होती है।

यहाँ असमवायी कारण के दूसरे उदाहरण में तन्तुरूप को पटरूप का असमवायी कारण बतलाया गया है। इस विषय में ननु······प्रत्यासत्त्यभावात्' इस ग्रन्थ द्वारा शङ्का की गई है। शङ्का का आशय है:—अभी ऊपर जो असमवायी कारण का लक्षण किया गया है कि जो समवायी कारण मे प्रत्यासन्न होता है तथा अनन्यथा

[1] 'तत' क्वचिन्नास्ति।

निमित्तकारणं तदुच्यते यन्न समवायिकारणम्, नाप्यसमवायिकार-

सिद्धनियतपूर्वभावी होता है वह असमवायी कारण कहलाता है, इस लक्षण के अनुसार तन्तुरूप को पटरूप का असमवायी कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि तन्तुरूप तो पटरूप के समवायी कारण में प्रत्यसन्न नहीं है। पटरूप का समवायी कारण जो पट है, उसमें तन्तुरूप नहीं रहता; अपि तु तन्तु में रहता है।

'मैवम्······प्रत्यासन्नत्वात्' इस पंक्ति में उपर्युक्त शङ्का का समाधान है। अभिप्राय यह है:—असमवायी कारण के लक्षण में 'समवेत' पद न रखकर 'प्रत्यासन्न' पद रक्खा गया है। प्रत्यासन्न का अर्थ है—प्रत्यासत्ति वाला। प्रत्यासत्ति कहते हैं—निकट सम्बन्ध को। यह प्रत्यासत्ति दो प्रकार की हो सकती है साक्षात् तथा परम्परया। कहीं तो असमवायी कारण कहलाने वाला पदार्थ कार्य के समवायी कारण में साक्षात् रूप के प्रत्यासन्न होता है; जैसे प्रथम उदाहरण में तन्तु संयोग जो पट का असमवायी कारण है, वह पट के समवायी कारण तन्तुओं में साक्षात् रूप से प्रत्यासन्न है। इस साक्षात् प्रत्यासत्ति को कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति भी कहते हैं। यहाँ कार्य है पट, वह जिस पदार्थ (=अर्थ) अर्थात् तन्तुओं में समवेत है, उसी में तन्तुसंयोग भी प्रत्यासन्न है! इस प्रकार असमवायी कारण के प्रथम उदाहरण में साक्षात् प्रत्यासत्ति है।

दूसरे उदारहरण में परम्परया प्रत्यासत्ति है। यहाँ पटरूप का असमवायी कारण तन्तुरूप को कहा गया है। पटरूप का समवायी कारण पट है; क्योंकि गुण का समवायी कारण गुणी होता है। उस पट का समवायी कारण तन्तु हैं। उन तन्तुओं में ही तन्तुरूप रहता है। अतः यहाँ तन्तुरूप जो पटरूप का असमवायी कारण है, वह पटरूप के समवायी कारण (पट) के समवायी कारण (तन्तु) में रहता है। इस प्रकार यहाँ परम्परया प्रत्यासत्ति है। इस परम्परया प्रत्यासत्ति को कारणैकार्थप्रत्यासत्ति भी कहते हैं। यहाँ तन्तुरूप जो असमवायी कारण है वह पटरूप (कार्य) के साथ एक अर्थ (पदार्थ, पट) में प्रत्यासन्न नही है अपितु पटरूप के कारण पट के साथ एक अर्थ में प्रत्यासन्न है। पटरूप का समवायी कारण है पट, वह तन्तुओं में समवेत है उन्हीं तन्तुओं में तन्तुरूप भी समवेत है।

संक्षेप में 'समवायिकारणप्रत्यासन्न' के दो अर्थ अभिप्रेत हैं—समवायी कारण में प्रत्यासन्न अथवा समवायी कारण के समवायी कारण में प्रत्यासन्न इस प्रकार तन्तुरूप भी पटरूप के प्रति 'समवायिकारणप्रत्यासन्न' है क्योंकि वह पटरूप के समवायी कारण के समवायी कारण में प्रत्यासन्न है। अतः तन्तुरूप को पटरूप का असमवायी कारण बतलाना युक्तियुक्त ही है।

१०. निमित्तकारण

समवायी तथा असमवायी कारण का निरूपण करने के पश्चात् अब क्रम प्राप्त निमित्त कारण का लक्षण किया जाता है:—

जो न समवायी कारण है, न ही असमवायी कारण है, किन्तु कारण है

णम् अथ च कारणम्'। यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्ः।

तदेतद् भावानामेव त्रिविधं कारणम्। अभावस्य तु निमित्तमात्रं तस्य क्वचिदप्यसमवायात्। समवायस्य भावद्वयधर्मत्वात्।

वह निमित्त कारण कहलाता है, जैसे वेम आदि पट का निमित्त कारण है।

निमित्त कारण के उपर्युक्त लक्षण का तात्पर्य यह है—किसी कार्य में जो न समवायी कारण है, न ही असमवायी कारण है, किन्तु कारण है, वह उस कार्य के प्रति निमित्त कारण है। जैसे निमित्त कारण का उदाहरण है वेम (वेम पुं० अथवा वेमन् नपुं० करघा इत्यादि) यद्यपि वेम अपने रूप आदि गुणों के प्रति समवायी कारण है तथापि वह पट के प्रति तो समवायी कारण नहीं; क्योंकि उसमें समवेत होकर पट उत्पन्न नहीं होता। वह पट का असमवायी कारण भी नहीं, क्योंकि वह पट के समवायी कारण तन्तुओं में प्रत्यासन्न नहीं है। फिर भी वेम पट का कारण तो है ही; क्योंकि वह नियत रूप से पट का पूर्वभावी है और अन्यथासिद्ध भी नहीं है। अतः वेम को पट का निमित्त कारण कहा गया है।

निमित्त कारण के लक्षण में तीन अंश हैं—(१) **यन्न ससवायिकारणम्** यह पद न रक्खा जाता तो पट के समवायी कारण तन्तु में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। (२) **नाप्यसमवायिकारणम्** यह पद न रक्खा जाता तो तन्तुसंयोग आदि में अतिव्याप्ति हो जाती। तथा (३) **अथ च कारणम्**, यदि यह अंश न रक्खा जाता तो 'रासभ' आदि भी पट के निमित्त कारण होने लगते।

अभी ऊपर तीन प्रकार का कारण बतलाया गया है। इस पर प्रश्न यह है कि क्या सभी कार्यों का यह तीन प्रकार का कारण हुआ करता है। इस पर कहते हैं—

यह तीन प्रकार का (समवायी, असमवायी, निमित्त) कारण केवल भाव पदार्थों का ही होता है। अभाव का तो केवल निमित्त कारण ही हुआ करता है; क्योंकि अभाव का कहीं भी समवाय सम्बन्ध नहीं होता। समवाय तो दो भाव पदार्थों का ही धर्म हुआ करता है।

विश्व में दो प्रकार के कार्य हैं; एक भावात्मक या भावकार्य; जैसे घट-पट आदि और दूसरे अभावात्मक कार्य। न्या० वै० के अनुसार भावकार्य वे कहे जा सकते हैं, जिनमें सत्ता नामक सामान्य रहती है। द्रव्य, गुण तथा कर्म तीन पदार्थों में ही सत्ता जाति रहती है। अतः भावकार्य का अर्थ है द्रव्य, गुण तथा कर्म के रूप में होने वाले कार्य। न्या० वै० के मत में अभाव भी एक पदार्थ है जो अभावात्मक है, जैसा कि आगे बतलाया जायेगा, अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। इनमें से केवल प्रध्वंसाभाव ही कार्यरूप है, अन्य

---

१. 'तत् निमित्तकारणम्' इत्यधिकः पाठः।

तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम् । तेन व्यवस्थितमेतल्लक्षणं प्रमाकरणं प्रमाणमिति ।

नहीं (द्र० आगे) अतः यहाँ अभाव या अभावात्मक कार्य शब्द से प्रध्वंसाभाव का ही ग्रहण होता है । प्रध्वंसाभाव का अर्थ है प्रध्वंस अर्थात् विनाश के पश्चात् किसी वस्तु का अभाव; जैसे घट का नाश हो जाने पर घट का अभाव=घट-प्रध्वंसाभाव है ।

'तदेतद्' इत्यादि कथन का अभिप्राय यह है कि समवायी, असमवायी तथा निमित्त, यह तीन प्रकार का कारण भावात्मक कार्यों का ही होता है, जैसे ऊपर घट-पट आदि का तीन प्रकार कारण दिखलाया गया है । जो अभावात्मक कार्य अर्थात् प्रध्वंसाभाव है उसका तो केवल निमित्त कारण ही होता है । क्यों ? उसका समवायी कारण नहीं हो सकता ; क्योंकि अभाव किसी भी पदार्थ में समवेत नहीं होता, वह समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता अपि तु स्वरूप सम्बन्ध से रहा करता है । समवाय सम्बन्ध तो दो भाव पदार्थों का ही माना जाता है । फिर अभाव के साथ किसी का समवाय कैसे सम्भव है ? जब अभाव का समवायी कारण नहीं होता तो उसका असमवायी कारण भी नही हो सकता; क्योंकि असमवायी कारण तो समवायी कारण में प्रत्यासन्न कारण होता है । फलतः अभावात्मक कार्य का केवल निमित्त कारण ही होता है । उदाहरणार्थ, जब मुद्गर के प्रहार से घट का ध्वंस किया जाता तो वहाँ ध्वंस करने वाला तथा मुद्गर आदि घट-ध्वंस के निमित्त कारण होते हैं ।

टिप्पणी—उपर्युक्त तीनों कारणो में से समवायी कारण केवल द्रव्य ही हुआ करता है; जैसे पट का समवायी कारण तन्तु द्रव्य है तथा पटरूप का समवायी कारण पट भी द्रव्य है । असमवायी कारण गुण या कर्म (क्रिया) हुआ करते हैं; जैसे पट का असमवायी कारण तन्तु-संयोग तथा पटरूप का असमवायी कारण तन्तु रूप दोनों ही हैं । क्रिया भी असमवायी कारण होती है, जैसे जब किसी गाड़ी के पहियों (अवयव) में गमन क्रिया होती है तो उससे गाड़ी (अवयवी) में भी गमन क्रिया हो जाती है । यहाँ गाड़ी की क्रिया में पहियों की क्रिया उसी प्रकार असमवायी कारण जिस प्रकार पट-रूप में तन्तु-रूप असमवायी कारण है । निमित्त कारण द्रव्य, गुण, कर्म ही नहीं अपि तु प्रत्येक पदार्थ हो सकता है । न्या०-वै० ने अभाव को भी कारण माना है । किञ्च, समवायी तथा असमवायी दोनों किसी कार्य के असाधारण कारण होते हैं किन्तु निमित्त कारण के अन्तर्गत शेष सभी साधारण तथा असाधारण कारणो का समावेश हो जाता है । अतः न्या०-वै० में जो अदृष्ट आदि को कार्यमात्र के प्रति कारण माना गया है, वह सब निमित्त कारण ही है ।

११. प्रमाण लक्षण का उपसंहार

करण के लक्षण के प्रसङ्ग में जो कारण का लक्षण किया गया था उसकी युक्तिपूर्वक व्याख्या करने के पश्चात् कारण के लक्षण का निगमन करते हुए अब प्रमाण के लक्षण का उपसंहार करते हैं—

इसलिये तीन प्रकार के कारण में जो (कारण) किसी प्रकार अतिशय से युक्त होता है, वही करण कहलाता है ।

यत्तु, अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम्[1], तन्न, एकस्मिन्ननेव घटे घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

न चान्यान्यक्षणविशिष्टविषयीकरणादनधिगतार्थगन्तृता । प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकालभेदानाकलनात् । कालभेदग्रहे हि क्रियादिसंयोगान्तानां चतुर्णां यौगपद्याभिमानो न स्यात् ।[2] क्रिया, क्रियातो विभागः, विभागात् पूर्वसंयोगनाशः, ततश्चोत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिरिति* ।

इस प्रकार (तेन) प्रमा का करण प्रमाण है, यह (प्रमाण का) लक्षण निश्चित हो गया ।

तत्०—तस्मात् कारणात्, क्योंकि करण के लक्षण में स्थित 'कारण' के स्वरूप का निरूपण किया जा चुका है । इस कथन से करण के लक्षण का निगमन किया गया है । तेन०—इस प्रकार; जब प्रमा तथा करण का लक्षण निरूपित कर दिया गया । इस कथन के द्वारा प्रमाण के लक्षण का निगमन (उपसंहार) किया गया है । कथमपि० भाव यहहै कि ऊपर विस्तार से कारण का वर्णन किया गया है, कारणों में जो अतिशययुक्त है वह करण कहलाता है । यह अतिशय व्यापार रूप है, अथवा प्रमाता तथा प्रमेय के होने पर भी उसके विना प्रमा नहीं होती, यही उस 'प्रमाकरण (या अन्य करण) का अतिशय है, अथवा उसके व्यापार के अनन्तर फल की उत्पत्ति हो जाती है, यही उसका अतिशय है (मि०, चि०) ।

१२. अन्यों के प्रमाण-लक्षण का खण्डन

'प्रमाकरणं' इस प्रमाण के लक्षण की व्याख्या एवं परीक्षा करके दूसरे आचार्यों का प्रमाण-लक्षण प्रस्तुत करते हैं तथा उसकी अयुक्तता दिखलाते हैं—

जो यह (भाट्ट मीमांसक का) प्रमाण लक्षण है कि 'अज्ञात अर्थ का बोधक प्रमाण (कहलाता) है, वह ठीक नहीं, क्योंकि एक ही घट में 'यह घट है', यह घट है' इस प्रकार ज्ञात अर्थ का ग्रहण करने वाले (द्वितीय आदि) धारावाहिक ज्ञान प्रमाण न हुआ करेंगे ।

(यदि पूर्वपक्षी कहे) उन (धारावाहिक ज्ञानों) का विषय भिन्न-भिन्न क्षणों से विशिष्ट (घट आदि) होता है अतः वे अज्ञात अर्थ के ग्राहक हैं, यह (कथन) भी ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा सूक्ष्म काल-भेदों का ग्रहण (आकलन) नहीं होता । यदि काल के भेदों का ग्रहण हुआ करता तो क्रिया से लेकर संयोग पर्यन्त चारों (कार्यों) के एक साथ होने (यौगपद्य) का भ्रम न हुआ करता । (वे चार हैं) १. क्रिया, क्रिया से विभाग, ३. विभाग से पूर्व संयोग का नाश और तब ४. उत्तर देश में संयोग की उत्पत्ति ।

१. 'प्रमाणलक्षणम्' इति पाठा० । २. 'क्रिया···ति'* क्वचिन्नास्ति ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में भाट्ट मीमांसक के प्रमाण-लक्षण की अयुक्तता दिखलाई गई है । इसके चार अंश हैं—(१) भाट्ट मीमांसक का प्रमाणलक्षण, (२) उसमें न्या०-वै० द्वारा दोष-दर्शन, (३) भाट्ट मीमांसक के द्वारा दोष-निवारण तथा (४) सिद्धान्ती न्या०-वै० द्वारा स्वमत का समर्थन ।

(१) भाट्ट मीमांसक के अनुसार प्रमाण का लक्षण है—अनाधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् । अधिगत = अवगत = ज्ञात अनधिगत = अज्ञात = अगृहीत, अर्थ = विषय, गन्तृ = गमक = बोधक = ग्राहक = अवभासक । भाव यह है कि अज्ञात अर्थ का ग्राहक ज्ञान प्रमाण कहलाता है (अनधिगत पूर्वम् अज्ञातो योऽर्थस् तस्य गन्तृ ग्राहकम्, गौ० का०)। अर्थ का ज्ञान (अवभासक) दो प्रकार का होता है ज्ञात अर्थ का ज्ञान जो स्मृति कहलाता है तथा अज्ञात अर्थ का ज्ञान जो अनुभव कहलाता है । अत: 'अनधिगतार्थगन्तृ' का तात्पर्य है—अनुभव । इस प्रकार अनुभव प्रमाण है, यह लक्षण होता है । भाट्ट मीमांसक को इस लक्षण में न्या०-वै० के समान यथार्थ' विशेषण रखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उसके मत में सभी अनुभव उत्पत्ति की अवस्था में प्रमाण (यथार्थ) होते हैं; किन्तु कारण-दोष के ज्ञान से अथवा बाधक के ज्ञान से किन्हीं ज्ञानों की अप्रामाणिकता (अयथार्थता) जान ली जाती है ।[1] जैसे 'शङ्ख पीत है' इस ज्ञान के पश्चात् नेत्रों में कामला दोष का ज्ञान होने से इस ज्ञान की अयथार्थता का निश्चय हो जाता है । इसी प्रकार शुक्तिका खण्ड' में 'यह रजत है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह भी उत्पत्ति अवस्था में प्रमाण ही है । किन्तु बाद में जब 'यह रजत नहीं' ऐसा बाध-ज्ञान होता है तो इस ज्ञान की अयथार्थता का निश्चय हो जाता है । किञ्च, 'प्रमाणम् अनुभूति' (प्रकरणपञ्चिका पृष्ठ ४२) शालिकनाथ के इस वचन से प्रतीत होता है कि प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकों को भी इसी प्रकार का प्रमाण-लक्षण अभिमत है । इस प्रकार भाट्ट मीमांसक के मत में अज्ञात अर्थ का ग्राहक ज्ञान प्रमाण है ।

(२) न्या०-वै० ने इस लक्षण में यह दोष दिखलाया है—यदि अज्ञात अर्थ के ग्राहक को प्रमाण माना जायेगा तो धारावाहिक ज्ञान में प्रमाण का लक्षण घटित न होगा । धारावाहिक ज्ञान का अर्थ है—एक ही विषय में एक ज्ञान के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार धारा रूप में होने वाले ज्ञान (धारारूपेण वहन्तीति धारावाहीनि धारावाहीन्येव धारावाहिकानि, स्वार्थे कः प्रत्ययः, चि०) । उदाहरणार्थ जब इन्द्रिय से सन्निकृष्ट घट में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय आदि क्षणों में लगातार धारा रूप में यह ज्ञान होता है 'यह घट है' 'यह घट है' 'यह घट है' तो ये ज्ञान धारावाहिक ज्ञान कहलाते है । इसमें प्रथम क्षण का जो 'यह घट', इस प्रकार का ज्ञान है वह तो अज्ञात अर्थ का ग्राहक है अत: मीमांसक के लक्षण के

---

१. तावतैव च मिथ्यात्वं गृह्यते नान्यहेतुकम् ।
उत्पत्त्यवस्थं चैवेदं प्रमाणमिति गीयते ।। श्लोकवार्त्तिक १ १. २, ८७

अनुसार प्रमाण हो सकता है। द्वितीय, तृतीय आदि क्षणों के ज्ञान तो गृहीत (ज्ञात) अर्थ के ग्राहक हैं अतः उनमें प्रमाण का उपर्युक्त लक्षण घटित न होगा। किन्तु मीमांसक भी उन द्वितीय क्षण के ज्ञानों अर्थात् धारावाहिक ज्ञानों को प्रमाण मानते हैं। अतः मीमांसक के प्रमाण लक्षण में अव्याप्ति दोष है।

(३) न च······गन्तृता' इस पंक्ति में भाट्ट मीमांसक की ओर से उपर्युक्त दोष का निवारण किया गया है। भाव यह है—यह ठीक है कि एक ही घट का सभी धारावाहिक ज्ञानों द्वारा ग्रहण होता है। फिर भी इन सभी ज्ञानों में 'यह घट है' (अयं घटः) इस प्रकार का भान हुआ करता है। अतः प्रत्येक ज्ञान में 'घट' के साथ-साथ इदन्ता (=यह) का भी भान होता है। फलतः प्रथम ज्ञान में प्रथम क्षण-विशिष्ट घट की प्रतीति होती है, द्वितीय में द्वितीय-क्षण विशिष्ट की तथा तृतीय में तृतीय-क्षण-विशिष्ट की। इस प्रकार धारावाहिक ज्ञानों में द्वितीय आदि ज्ञान का विषय जो द्वितीय-क्षण-विशिष्ट घट आदि है, वह अज्ञात ही है, क्योंकि प्रथम ज्ञान में तो प्रथम-क्षण-विशिष्ट घट का ही ग्रहण होता है। और, विशेषण के भेद से वस्तु में भी भेद हो जाया करता है; जैसे नील-कमल से रक्तकमल भिन्न होता है। इसलिये धारावाहिक ज्ञान भी अज्ञात अर्थ के ग्राहक होते हैं और उनमें भी प्रमाण का लक्षण घटित हो जाता है।

(४) प्रत्यक्षेण······इति इस ग्रन्थ में न्या०-वै० के द्वारा मीमांसक के उपर्युक्त कथन का खण्डन किया गया है। इसमें युक्ति दी गई है कि प्रत्यक्ष के द्वारा सूक्ष्म काल-भेदों का ग्रहण नहीं किया जा सकता। सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है:—भाट्ट मीमांसक जो कहते हैं कि धारावाहिक ज्ञानों के स्थल पर द्वितीय आदि ज्ञानों में द्वितीय क्षण-विशिष्ट घट आदि का ग्रहण होता है, यह तभी संभव है जब कि हम प्रथम क्षण, द्वितीय क्षण, तृतीय क्षण आदि के भेद का प्रत्यक्षतः अनुभव कर सकें; यह जान सकें कि अब प्रथम क्षण समाप्त हुआ, अब द्वितीय क्षण आरम्भ हो रहा है, इत्यादि। किन्तु कालों के ये भेद तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं अतः हमें प्रत्यक्ष द्वारा इनका ग्रहण नहीं हो सकता (सूक्ष्माः ये कालभेदाः तेषाम् अनाकलनात्) और, जब हम क्षण नामक काल के भेदों का ग्रहण नहीं कर सकते तो द्वितीय-क्षण-विशिष्ट घट, तृतीय क्षण-विशिष्ट-घट का ज्ञान कैसे होगा? विशेषण के ज्ञान के बिना विशिष्ट का ज्ञान नहीं हुआ करता (नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टेपूपजायते)। इस प्रकार धारावाहिक ज्ञानों में मीमांसक का लक्षण नहीं घटित होगा।

सूक्ष्म काल-भेदों का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं होता, इसमें तर्क यह है:—यदि काल-भेदों का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण हो जाया करता तो क्रिया से लेकर संयोग तक के चार व्यापारों में एक काल में उत्पन्न होने का भ्रम न हुआ करता। उदाहरणार्थ जब वृक्ष से कोई फल गिरता है तो इस पतन क्रिया में चार व्यापार होते हैं—१. फल में क्रिया होती है, २. क्रिया के द्वारा विभाग होता है; फल अपने वृन्त से विलग हो जाता है, ३. विभाग से पूर्व-संयोग का नाश हो जाता है, फल का जो वृन्त से संयोग था

वह नष्ट हो जाता है। ४. अन्त में उत्तरदेश से संयोग होता है; वह फल पृथिवी या वस्त्र आदि पर गिरता है; यही उत्तर वस्तु के साथ उसका संयोग है। क्रिया आदि चारों व्यापारों में कार्य-कारण-भाव है; जैसे विभाग का कारण है क्रिया तथा पूर्व-संयोग-नाश का कारण है विभाग। अतः इन चारों में पौर्वापर्य होता है और यह पतनक्रिया न्यूनातिन्यून चार क्षण में हुआ करती है। किन्तु हमें इन चारों क्षणों के भेद का अनुभव नहीं होता अपि तु यह भ्रम हुआ करता है कि एक काल में ही (युगपत्) वृक्ष से फल गिर जाता है। इसी प्रकार जब किसी सुई आदि से अनेक कमल पत्र बीधे जाते हैं तो वहाँ भी यही प्रतीति होती है कि एक क्षण में कमल-शत-वेधन हो रहा है। यदि सूक्ष्म काल-भेदों का प्रत्यक्ष हमें हुआ करता तो इस प्रकार की भ्रान्ति न हुआ करती।

इस प्रकार जब सूक्ष्म काल-भेदों का ग्रहण न होगा तो द्वितीय क्षण आदि से विशिष्ट (अन्य क्षणविशिष्ट) घट आदि का ग्रहण कैसे हो सकेगा? फिर तो धारावाहिक ज्ञान के स्थल पर द्वितीय आदि ज्ञान ज्ञात अर्थ के ही ग्राहक होंगे। अतः उनमें 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' यह प्रमाण-लक्षण न जा सकेगा। इसलिये यह लक्षण युक्तियुक्त नहीं।

टिप्पणी—(i) अनधिगत०—भारतीय दर्शन के कतिपय सम्प्रदाय प्रमाण के लक्षण में अनधिगत (अज्ञात) पद रखते है। भाट्टमीमांसक के नाम से अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इस प्रकार का लक्षण अनेक ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है। किन्तु इसका मूल स्रोत विदित नहीं हो सका है। कुमारिल भट्ट का प्रमाणलक्षण है—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रीदीपिका में उपर्युक्त लक्षण से मिलता जुलता ही प्रमाण-लक्षण दिखलाया हैए–तच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षणं सूचितम् (शास्त्र० पृ० १५२)। इस प्रकार के लक्षणों का भाव ही 'अनधिगतार्थन्तृ प्रमाणम्' इस लक्षण में निहित है।

प्रभाकर के अनुयायी शालिकनाथ ने 'प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या' यह लक्षण किया है। सांख्य के अनुसार प्रमाण का लक्षण है—तच्च असन्दिग्धाऽविपरीताऽनधिगतविषया चित्तवृत्तिः (सां० त०, का०४)। वेदान्त-परिभाषा आदि वेदान्त के ग्रन्थों से भी प्रतीत होता है कि उन्हें भी किसी न किसी रूप में अनधिगत शब्द प्रमाण के लक्षण में अभिप्रेत है। यद्यपि धर्मकीर्ति के अनुसार प्रमाण का लक्षण है—'प्रमाणम् अविसंवादि ज्ञानम्' तथापि बौद्ध नैयायिकों को प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगत' पद रखना अभीष्ट ही है। प्रमाण-समुच्चय की टीका में स्पष्ट कहा गया है—'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्'। न्यायबिन्दु के टीकाकार

ननु प्रमायाः कारणानि बहूनि सन्ति प्रमातृप्रमेयादीनि, तान्यपि किं करणानि उत नेति ।

धर्मोत्तर का कथन है—'अत एवानधिगतविषयं प्रमाणम्। इस प्रकार सभी आचार्यों ने स्मृति की व्यावृत्ति के लिये प्रमाण के लक्षण में अनधिगत (अज्ञात) पद रखना उचित समझा है ।

तर्कभाषा में भी 'ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः, अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्, यथार्थानुभवः प्रमा, प्रमाकरणं प्रमाणम्' इत्यादि वचनों द्वारा यथार्थ अनुभव के करण को प्रमाण माना गया है । अतः स्पष्ट है कि धारावाहिक ज्ञानों में भाट्ट का प्रमाण-लक्षण घटित नहीं होता इसीलिये 'अनधिगत' पद की आलोचना की गई है । न्याय के मत में धारावाहिक ज्ञान भी यथार्थ अनुभव है ही । इस आलोचना में प्राचीन आचार्यों का अनुसरण भी हो जाता है । वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, श्रीधर आदि ने भी इस प्रमाण-लक्षण की आलोचना की है । हाँ, वाचस्पति मिश्र ने वहाँ 'संस्कारमात्रजन्मनः स्मृतेः' (न्या० वा० ता०, पृ० २१) ऐसा कहते हुए 'संस्कारमात्रजन्य ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण स्वीकार किया है । ऐसा करने पर ही भाट्ट-मीमांसक के प्रमाण-लक्षण में दोष दिखलाना संगत प्रतीत होता है । यह भी उल्लेखनीय है कि भाट्ट मीमांसक ने 'अनधिगत' पद के द्वारा स्मृति और अनुवाद दोनों की व्यावृत्ति मानी है । इस विषय में तर्कभाषा ने कोई चर्चा नहीं की ।

(ii) **धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य**—कुमारिल भट्ट के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र ने (शास्त्रदीपिका, पृ० १५६–६०) सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष के द्वारा सूक्ष्म काल-भेदों का ग्रहण हो जाता है तथा धारावाहिक ज्ञानों की प्रामाणिकता बन जाती है । प्रभाकर-मतानुयायी शालिकनाथ ने भी धारावाहिक ज्ञानों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया है (प्र० प० पृ० ४२) । वेदान्तपरिभाषा (पृ० ४) में भाट्ट सम्प्रदाय के समान ही धारावाहिक ज्ञानों के प्रामाण्य का प्रतिपादन किया गया है । किन्तु बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर को धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य अभीष्ट नहीं है । उनका कथन है–**येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः । तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेन अधिकं कार्यम् । ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम्** । (न्यायबिन्दुटीका, पृ० ३) इस कथन का वाचस्पति मिश्र ने खण्डन किया है (न्या० वा० ता०, पृ० २१) । कतिपय बौद्ध तथा जैन आचार्यों का धारावाहिक ज्ञानों की प्रामाणिकता के विषय में यह मत है कि "योगिप्रत्यक्षादि" में कालभेद का ग्रहण संभव होने से उनका धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण है । और, लौकिक प्रत्यक्ष में काल-भेद का ग्रहण सम्भव न होने से लौकिक धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं है" (आ० वि०) ।

१३ प्रमाता आदि की अपेक्षा प्रमाण की प्रकृष्टता

अभी तक 'साधकतमं करणम्', प्रकृष्टं कारणं कारणम्', 'तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्' इन तीनों रूपों में करण का स्वरूप बतलाने का प्रयास किया गया है । इससे यही विदित होता है कि विशेष प्रकार का कारण ही करण कहलाता है । किन्तु अन्य कारणों की अपेक्षा करण का यह अतिशय, प्रकर्ष या विशेषता क्या है ? यह स्पष्ट नहीं होता । यहाँ प्रश्न तथा उत्तर के द्वारा उस अतिशय को स्पष्ट करते हैं––

(प्रश्न) प्रमा के कारण बहुत से होते हैं; जैसे प्रमाता तथा प्रमेय इत्यादि, क्या वे भी (प्रमा के) करण हैं अथवा नहीं ।

उच्यते। सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ सति अविलम्बेन[१] प्रमोत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादिरेव करणम्। प्रमायाः साधकत्वाविशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणास्य प्रमात्रादिभ्योऽतिशयितत्वादतिशयितं साधकं साधकतमं तदेव करणमित्युक्तम्। अत इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात् प्रमाणं न प्रमात्रादि।

तानि च प्रमाणानि चत्वारि। तथा च न्यायसूत्रम्—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। (न्या० सू० १.१.६)

इति।

(उत्तर) बतलाते हैं। प्रमाता तथा प्रमेय के होने पर भी प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती। किञ्च, इन्द्रिय तथा संयोग आदि के होने पर अविलम्ब से प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये इन्द्रिय तथा संयोग आदि ही (प्रमा का) करण है। (प्रमाता आदि सभी में) प्रमा की कारणता का भेद न होने पर भी इसी उत्कर्ष के द्वारा इस (इन्द्रियसंयोगादि) का प्रमाता आदि की अपेक्षा अतिशय (प्रकर्ष) है, अतः प्रकृष्ट साधक ही साधकतम है वही करण है, ऐसा कहा गया है। इस प्रकार प्रमा का करण होने से इन्द्रिय तथा संयोग आदि ही प्रमाण हैं, प्रमाता इत्यादि नहीं।

भाव यह है प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण सभी समान रूप से प्रमा के कारण हैं, किन्तु केवल प्रमाता, प्रमेय आदि के उपस्थित होने पर भी प्रमा नहीं होती इन्द्रिय-संयोग आदि के होने पर प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय-संयोग आदि में प्रमाता आदि की अपेक्षा कोई प्रकर्ष (अतिशय) अवश्य है। यह प्रकर्ष या अतिशय इसी रूप में है कि उसका व्यापार होने पर अविलम्ब से प्रमा की उत्पत्ति हो जाया करती है (फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्)। इसीलिये यह अन्य कारणों से प्रकृष्ट कारण है तथा इसमें 'साधकतमं करणम्' यह करण का लक्षण घटित होता है। अतः इन्द्रियसंयोग आदि ही प्रमा के करण अर्थात् प्रमाण हैं।

यहाँ 'इन्द्रियसंयोगादि' शब्द का अर्थ है—इन्द्रिय और संयोग = इन्द्रियसंयोग, ये दोनों हैं आदि में जिसके वह इन्द्रियसंयोगादि। यहाँ संयोग शब्द का अर्थ है इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष) तथा 'आदि' शब्द से निर्विकल्पक ज्ञान आदि का ग्रहण होता है। इस प्रकार इन्द्रियसंयोगादि शब्द से आगे कहे जाने वाले सभी प्रकार के प्रमा-करण का ग्रहण हो जाता है (इन्द्रियं च संयोगश्च तावादी यस्य स तथोक्तः, आदिशब्देन निर्विकल्पकज्ञानादि गृह्यते, चि०)

१४. प्रमाण के प्रकार

प्रमाण के लक्षण की व्याख्या करने के पश्चात् न्यायाभिमत प्रमाणों की संख्या बतलाते हैं—

और वे प्रमाण चार हैं, जैसा कि न्यायसूत्र है—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द (चार) प्रमाण हैं।

---

१. 'प्रमोत्पत्तेरत इन्द्रिय०' इति पाठान्तरम्।

[प्रत्यक्षम्]

किं पुनः[1] प्रत्यक्षम् ?

साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवाच्यते या इन्द्रियजा। सा च द्विधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तस्य करणं त्रिविधम्। कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्।

प्रत्यक्ष इत्यादि न्यायदर्शन का सूत्र (१.१.३.) है। इसमें प्रमाण के प्रकार (विभाग) दिखलाये गये हैं। इस विभाजन से यह भी सूचित होता है कि प्रमाण चार ही हैं, इससे अधिक या कम नहीं। इसका प्रतिपादन आगे किया जायेगा।

१५. प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रमाणों में प्रथम स्थान पर प्रत्यक्ष को रक्खा गया है। उसका लक्षण आदि बतलाते हैं—

फिर प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहा जाता है?

साक्षात्कार करने वाली प्रमा का करण प्रत्यक्ष कहलाता है और साक्षात्कार करने वाली प्रमा वह है जो इन्द्रिय से उत्पन्न होती है। सविकल्पक तथा निर्विकल्पक भेद से वह दो प्रकार की है। इसका करण तीन प्रकार का है—(१) कभी इन्द्रिय, (२) कभी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष और (३) कभी ज्ञान।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है—साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। यहाँ 'प्रत्यक्षम्' यह लक्ष्य है 'साक्षात्कारिप्रमाकरणम्' यह लक्षण है। प्रत्यक्ष शब्द के तीन अर्थ होते हैं—(क) प्रत्यक्ष प्रमाण (ख) प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, (ग) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय (टि०) उपर्युक्त लक्षण में प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमाण के लिये आया है। साक्षात्कारिणी प्रमा वह कहलाती है जो इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होती है (इन्द्रियजा = इन्द्रियजन्या)। लक्षण में 'साक्षात्कारि' पद के रखने से इस लक्षण की अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि अनुमान आदि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाली जो प्रमा (अनुमिति आदि) है वह इन्द्रिय-जन्य नहीं होती। केवल प्रत्यक्ष प्रमा ही इन्द्रियजन्य होती है। सुख तथा आत्मा आदि का साक्षात्कार मन के द्वारा होता है, मन को भी न्या०-वै० में इन्द्रिय माना गया है अतः यहाँ भी यह लक्षण घटित हो जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि लक्षण की ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान में अव्याप्ति होगी; क्योंकि वह इन्द्रियजन्य नहीं, वह तो नित्य ज्ञान है। इसके उत्तर में व्याख्याकारों का कथन है कि यहाँ ईश्वर का प्रत्यक्ष लक्ष्य ही नहीं है। यहाँ तो केवल लोकप्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है।

साक्षात्कारिणी प्रमा (= प्रत्यक्ष प्रमा के दो भेद हैं—निर्विकल्पक और

१. 'तत्' पाठा०।

सविकल्पक। इनका विशद विवेचन आगे किया जायेगा। इनमें सविकल्पक ज्ञान ही समस्त व्यवहार का निमित्त है अतः इसे यहाँ प्रथम स्थान पर रक्खा गया है। किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान के आधार पर ही सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति होती है अतः निर्विकल्पक ज्ञान को स्वीकार करना आवश्यक है। इसलिये दो प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान बतलाया गया है।

प्रत्यक्ष प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। यद्यपि 'प्रतिगतम् अक्षम्, प्रत्यक्षम्,' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुख्य रूप से इन्द्रिय (अक्षम्) को ही प्रत्यक्ष प्रमा का करण माना जाता है तथापि फल के भेद से यह करण भी तीन प्रकार का माना गया है—(१) इन्द्रिय, (२) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा (३) ज्ञान। इनका विवेचन आगे किया जायेगा।

टिप्पणी—(१) प्रत्यक्ष शब्द के तीन अर्थों के विषय में कुछ विस्तार से जानना उपयोगी है (क) प्रत्यक्ष प्रमाण के अर्थ में ऊपर 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग दिखलाया गया है। इस अर्थ में 'प्रत्यक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति है प्रतिगतम् अक्षम् (न्या० वृ०) अर्थात् विषयं प्रतिगतम् अक्षम् (गति समास)=विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रिय। यही प्राधान्येन प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। न्यायभाष्य के अनुसार "अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्" (वात्स्या० १·१·३) यह व्युत्पत्ति है। (ख) प्रत्यक्ष प्रमा के अर्थ में 'प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् प्रत्यक्षम् (न्या० सू० १·१·४) इस न्याय सूत्र में किया गया है। इस अर्थ में प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति है—अक्षम् अक्षं इति वर्तते" (अव्ययीभाव, चि०) या अक्षम् अक्षं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम् (न्याय सूत्र) अथवा प्रतिगतम् आश्रितम् अक्षम् इति प्रत्यक्षम्' (वही)। (ग) प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विषय, जैसे 'आत्मा प्रत्यक्षः' जैसे 'आत्मा प्रत्यक्षः' इस अर्थ में इस शब्द की व्युत्पत्ति है—प्रत्यक्षम् अस्यास्तीति अर्थात् उसका प्रत्यक्ष होता है। प्रथम तथा द्वितीय अर्थ में 'प्रत्यक्ष' शब्द नपुं० लिङ्ग में होता है तथा तृतीय अर्थ में इसका प्रयोग तीनों लिङ्गों में अभिधेय के अनुसार हुआ करता है, जैसे प्रत्यक्षः आत्मा, प्रत्यक्षा पृथिवी, प्रत्यक्षं रूपम्।

(ii) ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रत्यक्ष के लक्षण की अव्याप्ति का दो प्रकार से निवारण किया गया है। एक तो यह कि इन्द्रियजन्य प्रमा को साक्षात्प्रमा न कहेंगे अपि तु 'साक्षात्त्व' नाम की जातिविशेष मानेंगे। 'साक्षात्करोमि' (साक्षात् करता हूँ) इस अनुभव से ही वह जाति सिद्ध होती है। ईश्वर की साक्षात् प्रमा में भी वह जाति रहती है। अतः लक्षण की अव्याप्ति न होगी। दूसरे, न्या०-वैं० के कुछ टीकाकारों ने 'ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' (न्यायबोधिनी) यह लक्षण किया है। तदनुसार वह ज्ञान प्रत्यक्ष है जिसमें ज्ञान करण नहीं होता। अनुमिति आदि में तो परामर्श ज्ञान इत्यादि करण होते हैं, अतः उनमें यह लक्षण नहीं जायेगा। ईश्वर

कदा पुनरिन्द्रियं करणम् ?

यदा निर्विकल्पकरूपा प्रमा फलम् । तथा हि, आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन । इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात् । ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानं जन्यते । तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणं, छिदाया इव परशुः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽवान्तरव्यापारः, छिदाकरणस्य परशोरिव दारुसंयोगः । निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं परशोरिव छिदा ।

का प्रत्यक्ष नित्य है उसका कोई करण नहीं होता अतः उसमें भी यह लक्षण घटित हो जाता है (द्र०, न्यायकोश) ।

(iii) यहाँ प्रत्यक्ष-प्रमा के जो तीन प्रकार के करण (प्रत्यक्ष प्रमाण) बतलाये गये हैं इनमें पहिले दो ज्ञान-भिन्न हैं किन्तु तीसरा ज्ञानरूप ही है । इससे यह स्पष्ट है कि न्या०-वै० के अनुसार प्रमाण ज्ञानात्मक भी होता है तथा ज्ञान से भिन्न भी । इस विषय मे न्या०-वै० का बौद्धों के साथ विवाद रहा है । बौद्ध-न्याय के अनुसार इन्द्रिय आदि, जो ज्ञान से भिन्न हैं, प्रमाण (=प्रमाकरण) नहीं होते अपितु प्रमाण सदा ज्ञानात्मक ही हुआ करता है । (द्र० न्यायमञ्जरी भाग १, पृ० १४, न्यायबिन्दु-टीका, परि० १) ।

१६. प्रत्यक्ष प्रमा के तीन प्रकार के करण तथा प्रत्यक्ष की प्रक्रिया

(i) प्रत्यक्ष प्रमा का करण इन्द्रिय

इन्द्रिय को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण किस अवस्था में माना जाता है; यह बतलाते हैं—

फिर इन्द्रिय करण कब होती है ?

जब निर्विकल्पक प्रमा फल होती है । जैसे कि (पहिले) आत्मा का मन से संयोग होता है, फिर मन का इन्द्रिय से और फिर इन्द्रिय का अर्थ से । क्योंकि इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित करती हैं, यह नियम है । इसके पश्चात् अर्थ से सन्निकृष्ट (सम्बद्ध) इन्द्रिय के द्वारा नाम-जाति आदि की योजना से रहित केवल वस्तु का ग्रहण करने वाला, यह कुछ है, इस प्रकार का निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है । उस ज्ञान का करण इन्द्रिय होती है, जिस प्रकर छिदा (काटने) का करण परशु होता है । इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार होता है, जिस प्रकार काटने के साधन परशु का काष्ठ के साथ संयोग (अवान्तर व्यापार) होता है । निर्विकल्पक ज्ञान फल है, जैसे परशु (छिदाकरण) का फल कटना (छिदा) होता है ।

ऊपर कहा गया है कि प्रत्यक्ष प्रमा के करण तीन प्रकार के हैं, इन्द्रिय; इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा ज्ञान । इनमें से इन्द्रिय उस अवस्था में करण होता है, जब वस्तु का केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हुआ करता है, जब आत्मा का मन से संयोग होता है और मन किसी एक इन्द्रिय से सम्बद्ध होता है । मान लीजिये मन हमारी

नेत्रेन्द्रिय से सम्बद्ध है और नेत्रेन्द्रिय का घट (अर्थ) के साथ सन्निकर्ष हो जाता है तो हमें 'यह कुछ है' इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। यही ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। यह निर्विकल्पक प्रमा प्रत्यक्ष-प्रमाण का फल है। किसी साधन (करण) द्वारा फल की प्राप्ति के सन्दर्भ में लोक में तीन बातें देखी जाती हैं—करण, अवान्तर व्यापार तथा फल। उदाहरणार्थ जब कोई परशु से लकड़ी काटता है तो वहाँ परशु लकड़ी काटने का साधन या करण है, परशु तथा काष्ठ का संयोग मध्य का व्यापार है और कटना (छिदा) ही फल है। इसी प्रकार यहाँ भी इन्द्रिय करण है, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष अर्थात् इन्द्रिय तथा अर्थ का सम्बन्ध व्यापार है तथा निर्विकल्पक प्रमा फल है।

यहाँ न्या०-वै० के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया दी गई है। उसी से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति के विषय में जाना जा सकता है।

संक्षेप में प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के चार अङ्ग हैं—(१) आत्मा का मन के साथ संयोग, (२) मन का इन्द्रिय के साथ संयोग, (३) इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग, (४) ज्ञान की उत्पत्ति।

(१) प्रथमतः आत्मा का मन के साथ संयोग होता है। किन्तु प्रश्न यह हो सकता है कि न्या०-वै० के मत में आत्मा विभु (व्यापक) है अर्थात् परममहत् परिमाण वाला है। मन अणु परिमाण वाला है; अतः साधारणतया सदा ही आत्मा का मन के साथ संयोग रहता है; फिर यहाँ आत्मा तथा मन के संयोग का क्या अभिप्राय है। इसके उत्तर में यही कहना है कि न्या०-वै० के मतानुसार सुषुप्ति दशा में मन 'पुरीतत्' नाम की नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है और ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ करता। इससे विदित होता है कि पुरीतत् नाड़ी से अतिरिक्त प्रदेश में आत्मा और मन का संयोग होने पर भी ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। इसलिये यहाँ 'आत्मा मनसा संयुज्यते' का अर्थ है—आत्मा का पुरीतत् नाड़ी से अतिरिक्त प्रदेश में मन के साथ संयोग होता है; अर्थात् जब मन पुरीतत् नाड़ी में नहीं होता। इस प्रकार आत्मा तथा मन का संयोग ज्ञान की उत्पत्ति का कारण माना गया है।

(२) इसके पश्चात् मन का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है। इसे भी ज्ञान का कारण मानना आवश्यक है। देखा जाता है कि स्वप्नावस्था में आत्मा तथा मन का संयोग होता है किन्तु मन का इन्द्रिय के साथ संयोग न होने के कारण घट आदि बाह्यविषय का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

(३) तदनन्तर इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग होता है। इसे ही इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष = इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कहा जाता है। इसे भी प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण मानना आवश्यक है। क्यों? मान लीजिये, हम जाग्रत् अवस्था में हैं। उस समय आत्मा का मन के साथ संयोग है तथा मन का इन्द्रिय के साथ संयोग भी हो रहा है; किन्तु यदि हमारी नेत्र आदि इन्द्रिय का किसी पदार्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं

है तो हमें उस पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ करता, जैसे समक्ष रक्खे घट आदि के साथ हमारी नेत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता तो हमें घट का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। इस प्रकार इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमा का कारण है ही। इसी आधार पर न्या०-वै० का मन्तव्य है:—

इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्वम्—इसका अर्थ है कि इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित करती हैं। जब तक घट आदि को नेत्रेन्द्रिय प्राप्त नहीं करती अथवा कहिये कि घट आदि के साथ नेत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता तब तक घट आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान (प्रकाश) नहीं हो सकता। हाँ, यह सम्भव है कि अनुमान या शब्द आदि के द्वारा उनका ज्ञान हो जाये। न्या०-वै० में सभी इन्द्रियों के विषय में वस्तुप्राप्यकारित्व का नियम माना गया है। त्वक् इन्द्रिय का वस्तु के साथ सम्पर्क होने पर ही स्पर्श का ज्ञान होता है, इसी प्रकार रसना द्वारा भी सन्निकृष्ट वस्तु के रस का ही आस्वादन किया जाता है; इतना तो सभी दार्शनिक, सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। किन्तु चक्षु आदि की प्राप्यकारिता के विषय में न्या०-वै० का बौद्धदर्शन के साथ विवाद है। बौद्धदर्शन इन इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी नहीं मानता। न्या०-वै० इन इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता को अनुमान द्वारा सिद्ध करता है। अनुमान का प्रयोग है—विवादास्पद इन्द्रियाँ प्राप्यप्रकाशकारी हैं (प्रतिज्ञा); क्योंकि वे बाह्य-इन्द्रियाँ हैं (हेतु), त्वक् इन्द्रिय के समान (उदाहरण)। चक्षु आदि किस प्रकार वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं, इसकी प्रक्रिया आगे दिखलाई जायेगी।

इस प्रकार आत्मा-मन-इन्द्रिय-अर्थ इन चारों के तीन सम्बन्ध होते हैं—(१) आत्मा तथा मन, (२) मन तथा इन्द्रिय, (३) इन्द्रिय तथा अर्थ। इन तीनों सम्बन्धों के द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है।

(४) निर्विकल्पक ज्ञान तथा उसका स्वरूप

निर्विकल्पक ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये **ततो**···जन्यते इत्यादि कहा गया है। यहाँ 'वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानम्' यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप (लक्षण) है। 'किञ्चिद् इदम्' इति, इन शब्दों में उसके स्वरूप का संकेत (अभिनय) किया गया है। नाम० इत्यादि के द्वारा 'मात्र' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है। निर्विकल्पक वह ज्ञान है जो केवल वस्तु के स्वरूप का ग्रहण करता है। हमारी नेत्रे-न्द्रिय तथा घट के सन्निकर्ष से जो घट के स्वरूप का भास होता है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। इस स्वरूप को 'किञ्चिद् इदम्' इस प्रकार दिखलाया गया है। यहाँ 'किञ्चिद्' (=कुछ) शब्द का अभिप्राय यह है कि उस ज्ञान में वस्तु के स्वरूप मात्र का बोध होता है उसमें विशेष्य-विशेषण-भाव आदि का बोध नहीं हुआ करता। जो बात मात्र शब्द के द्वारा व्यक्त की गई है, नाम० आदि के द्वारा स्पष्ट की गई है, उसी का 'किञ्चिद् इदम्' द्वारा अभिनय करके दिखलाया गया है। वस्तुतः निर्विकल्पक ज्ञान 'यह कुछ है' इस आकार में सन्देहात्मक नहीं हुआ करता, अपि तु इसमें घट आदि

कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम् ?

यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मक डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्, निर्विकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, सविकल्पक ज्ञान फलम् ।

वस्तु का स्पष्ट भास होता है, हाँ, वह भास 'यह घट है' इस रूप में नहीं होता है। इसी हेतु इस ज्ञान को वस्तुमात्रावगाहि (वस्तुमात्र का ग्रहण करने वाला) कहा गया है। यहाँ 'मात्र' शब्द रखने से सविकल्पक प्रत्यक्ष में यह लक्षण नहीं जाता, क्योंकि वहाँ वस्तुस्वरूप के अतिरिक्त विशेषण-विशेष्य-भाव आदि का भी ग्रहण होता है। 'मात्र' शब्द के इसी तात्पर्य की 'नामजात्यादियोजनाहीनम्' इस पद द्वारा व्याख्या की गई है। नाम का अर्थ है संज्ञा घट आदि। जाति का अर्थ है सभी सजातीय वस्तुओं में रहने वाला धर्म घटत्व आदि। 'नामजात्यादि' में आदि शब्द से गुण तथा क्रिया आदि को समझना चाहिये। इनकी योजना अर्थात् परस्पर विशेष्य-विशेषण-भाव सम्बन्ध (योजनाविशेषणत्वेन सम्बन्धः चि०) या वैशिष्टच सम्बन्ध उससे हीन = रहित। भाव यह है कि नाम जाति आदि से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान निर्विकल्पक में नहीं होता।

यहाँ 'योजना' शब्द इसलिये रक्खा गया है कि केवल घटत्व आदि जाति के स्वरूप का साक्षात्कार भी निर्विकल्पक ज्ञान होता ही है। किन्तु जब ज्ञान में घटत्व जाति का घट व्यक्ति के साथ सम्बन्ध (योजना—वैशिष्टच) भासित होता है तो वह सविकल्पक ज्ञान हो जाता है। इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान को वैशिष्टचानवगाहि या निष्प्रकारक ज्ञान भी कहा जाता है। 'विकल्प' का अर्थ है प्रकार या विशेषण। जैसे 'यह घट है' इस ज्ञान में 'घटत्व' प्रकार या विशेषण है 'घट' विशेष्य है। इस ज्ञान को घटत्वप्रकारकघटविशेष्यक ज्ञान कहा जाता है। इसका अर्थ है 'घटत्वविशेषणविशिष्ट घट का ज्ञान'। निर्विकल्पक ज्ञान में इस प्रकार के विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध का बोध नहीं होता। किन्तु उसमें घट तथा घटत्व का स्वरूपतः बोध तो होता ही है। वह बोध जाति तथा नाम सहित घट का नहीं हुआ करता। इसलिये इस ज्ञान को नामजात्यादियोजनाहीनं कहा गया है।

(ii) प्रत्यक्ष प्रमा का करण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष

प्रत्यक्ष-प्रमा का द्वितीय करण है—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष। उसके विषय में कहते हैं—

इन्द्रिय तथा सन्निकर्ष कब करण होता है ?

जब निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर नाम, जाति आदि से विशिष्ट, "यह डित्थ (नाम वाला) है", 'यह ब्राह्मण (जाति का) है, 'यह श्याम (रङ्ग का है', इस प्रकार का विशेषण तथा विशेष्य का ग्रहण करने वाला सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है, तब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है तथा सविकल्पक ज्ञान फल होता है।

कदा पुनर्ज्ञानं करणम् ।

यदा, उक्तसविकल्पकानन्तरं[1] हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो जायन्तो तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम् । सविकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, हानादिबुद्धयः फलम् ।

सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम यह है—प्रथमतः पूर्वोक्त क्रम से निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसके अग्रिम क्षण में सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है । फलतः (१) निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान के मध्य में काल का व्यवधान नहीं होता है । किञ्च (२) जब प्रथमतः विशेषण तथा विशेष्य अर्थात् नाम-जाति गुण आदि तथा व्यक्ति का निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न हो चुकता है तभी किसी वस्तु के विषय में सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है । निर्विकल्पक ज्ञान भी सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है, जैसा कि न्याय है—नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टेषूपजायते । इन दोनों तथ्यों को प्रकट करने के लिये निर्विकल्पकानन्तरम् (=निर्विकल्प ज्ञान के अनन्तर) ऐसा कहा गया है ।

सविकल्पक ज्ञान का स्वरूप है—विशेषण-विशेष्यावगाहि ज्ञानम् । इसका अभिप्राय है जो ज्ञान विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध का ग्रहण करता है वह सविकल्पक ज्ञान कहलाता है । केवल विशेषण या विशेष्य का ग्रहण करने वाला ज्ञान तो निर्विकल्पक ही होता है । वस्तुतः योजना (=सम्बन्ध=वैशिष्टय) शब्द के द्वारा ही निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान का भेद स्पष्ट हो जाता है । सविकल्पक ज्ञान में किन विशेषणों का सम्बन्ध होता है यह दिखलाने के लिये 'नामजात्यादियोजनात्मकम्' यह पद दिया गया है । इसका अभिप्राय है कि वह ज्ञान नाम, जाति आदि विशेषणों से विशिष्ट हुआ करता है । यहाँ भी 'आदि' शब्द से गुण तथा क्रिया आदि को समझना चाहिये । नाम आदि विशेषण से विशिष्ट ज्ञान का आकार 'डित्थोऽयम्' इत्यादि में दिखलाया गया है । यहाँ 'डित्थ' नाम है, जो विशेषण है तथा 'अयम्' (=यह) विशेष्य है । इस ज्ञान में नाम-विशिष्ट वस्तु की प्रतीति हो रही है, अतः यह सविकल्पक ज्ञान है । इसी प्रकार 'ब्राह्मणोऽयम्' आदि उदाहरणों में भी समझना चाहिये । 'ब्राह्मणोऽयम्' में ब्राह्मणत्व जाति से विशिष्ट व्यक्ति की प्रतीति होती है तथा 'श्यामोऽयम्' में श्यामगुण-विशिष्ट व्यक्ति का बोध होता है ।

(ii) **प्रत्यक्ष का करण ज्ञान**

प्रत्यक्ष प्रमा का तृतीय करण है—ज्ञान । उसके विषय में कहते हैं—

फिर ज्ञान कब करण होता है ?

जब तक सविकल्पक ज्ञान के अनन्तर त्याग (=हान) की बुद्धि, ग्रहण (उपादान) की बुद्धि तथा उपेक्षा की बुद्धि उत्पन्न होती है तब निर्विकल्पक ज्ञान करण होता है, सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है तथा हान आदि की बुद्धि फल होती है ।

यहाँ हानोपादानोपेक्षा बुद्धि ही प्रत्यक्ष प्रमा है, प्रमाण का फल है । बुद्धि शब्द का प्रत्येक शब्द से अन्वय है—हानबुद्धि, उपादान बुद्धि, उपेक्षा बुद्धि । हानबुद्धि

१. 'सविकल्पकज्ञानान्तरम्' इति पाठा० ।

तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः। यथा कुठारजन्यः कुठार-दारुसंयोगः कुठारजन्यच्छिदाजनकः।

का अर्थ है किसी वस्तु के त्याग का निश्चय करना, उपादान बुद्धि का अर्थ है किसी वस्तु के ग्रहण करने का निश्चय करना तथा किसी वस्तु के प्रति तटस्थ भाव रखना, उदासीन रहना ही उपेक्षा बुद्धि है। यह हानोपादानोपेक्षा बुद्धि सविकल्पक ज्ञान के पश्चात् हुआ करती है। उदाहरणार्थ हम नेत्रेन्द्रिय से सर्प को देखते हैं, सर्प का स्वरूप-ज्ञान या निर्विकल्पक ज्ञान हो जाता है जो विशेष रूप से इन्द्रियाश्रित है। इस निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर 'यह सर्प है' इस प्रकार का नाम जाति आदि से विशिष्ट ज्ञान हुआ करता है, जो सर्प का सविकल्पक ज्ञान है ? तदनन्तर यह सर्प हेय है—त्यागने योग्य है, इस प्रकार की हानबुद्धि होती है ? इसी प्रकार ग्राह्य वस्तुओं के विषय में 'यह उपादेय,—ग्रहण-योग्य है, तथा उपेक्षणीय वस्तुओं के विषय में 'यह उपेक्षणीय है' इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। हानोपादानोपेक्षा बुद्धि होने के पश्चात् ही किसी कार्य में प्रवृत्ति हुआ करती है। फलतः अर्थज्ञान की पूर्णता तभी होती है जब उसका स्वरूप-ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान), निश्चयात्मक ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) तथा उपयोगिता का निश्चय (हानोपादानोपेक्षा बुद्धि) हो जा है। इसीलिये न्या०-वै० ने इस हानोपादानोपेक्षा बुद्धि को भी प्रत्यक्ष प्रमाण का फ माना है; प्रत्यक्ष प्रमा के अन्तर्गत स्वीकार किया है। किन्तु इसे प्रत्यक्ष प्रमा के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है या नहीं, वह विवाद का विषय रहा है। जब हानादि-बुद्धि को प्रत्यक्ष प्रमा माना जायेगा तो इसका सविकल्पक प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव करना होगा; क्योंकि साक्षात्कारिणी प्रमा के दो ही भेद हैं निर्विकल्पक तथा सवि-कल्पक। अन्य विद्वानों का मत है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष के पश्चात् जो हानादि बुद्धि होती है वह वस्तुतः अनुमति है। अतः इसका प्रत्यक्ष प्रमा में अन्तर्भाव करना उचित नहीं (द्र० गौ० का०)।

१७ अवान्तर-व्यापार का लक्षण तथा त्रिविध करणविषयक मत-भेद

उपर्युक्त तीनों करणों के सन्दर्भ में उनके अवान्तर व्यापार का उल्लेख किया गया है। अब अवान्तर व्यापार का लक्षण बतलाते हैं—

जो उस (करण) से उत्पन्न होता है तथा उस (करण) से उत्पन्न होने वाले (जन्य=कार्य, फल) का जनक होता है, वह अवान्तर व्यापार कहलाता है; जैसे कुठार से उत्पन्न होने वाला कुठार एवं काष्ठ का संयोग है जो कुठार से उत्पन्न होने वाली छेदन क्रिया का जनक होता है।

करण के स्वरूप का निरूपण करते हुए व्यापार के विषय में कहा जा चुका है। वह व्यापार सर्वत्र करण तथा फल के मध्य में ही रहा करता है अतः उसे अवा-न्तर व्यापार कहा गया है। केवल 'व्यापार' शब्द से भी उसे कहा जाता है। कुठार द्वारा लकड़ी काटने के उदाहरण से इस व्यापार के स्वरूप को समझाया गया है।

अत्र कश्चिदाह—सविकल्पकादीनामपीन्द्रियमेव करणम् । यावन्तित्वान्तरलिकानि सन्निकर्षादीनि तानि सर्वाण्यवान्तरव्यापार इति ।

कुठार लकड़ी काटने का साधन (करण) है । उससे बार-बार लकड़ी (=काष्ठ=दारु) पर प्रहार किया जाता है । यही कुठार तथा काष्ठ का संयोग कहलाता है । इसी से लकड़ी कटती है । इस प्रकार कुठार=करण, कुठार दारु-संयोग=व्यापार, लकड़ी कटना (छिदा) = फल हैं ।

यहाँ कुठार-दारु-संयोग जो व्यापार है वह कुठार (करण) से उत्पन्न होता है —करण-जन्य या तज्जन्य है । व्यापार के लक्षण में तत् (=वह) शब्द से करण का ग्रहण होता है । यह व्यापार कुठार से उत्पन्न होने वाले छिदा रूप फल का कारण (जनक) भी है (तज्जन्यजनकः) । यदि लकड़ी पर कुठार का प्रहार न हो या कहिये कि कुठार-दारु-संयोग न हो तो लकड़ी कटने का कार्य (=छिदा) नहीं हो सकता । इस प्रकार फल की उत्पत्ति के लिये करण में व्यापार अनिवार्य है । वस्तुतः इस व्यापार के निमित्त से ही कोई कारण, करण नाम धारण करता है । इसी हेतु कहा जाता है—**व्यापारवत् कारणं करणम् ।**

जब प्रत्यक्ष-प्रमा का करण इन्द्रिय होता है तो वहाँ इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार है । यह इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष इन्द्रियजन्य है तथा यह इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाली (इन्द्रियजन्य) साक्षात्-कारिणी प्रमा (निर्विकल्पक) का जनक भी है । इस प्रकार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में व्यापार का लक्षण घटित हो जाता है । उपर्युक्त अन्य दो करणों के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार व्यापार के लक्षण का समन्वय किया जा सकता है । संक्षेप में तीनों करणों के व्यापार आदि निम्न प्रकार से होते हैं—

करण	अवान्तर व्यापार	फल
(१) इन्द्रिय	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पक प्रमा
(२) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पक ज्ञान	सविकल्पक ज्ञान
(३) निर्विकल्पक ज्ञान	सविकल्पक	हानोपादानोपेक्षा बुद्धि

दूसरी ओर कुछ (?) विद्वान् ऐसे भी हैं जो प्रत्यक्ष प्रमा के तीन रूप तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसके त्रिविध करण नहीं मानते । उनके मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

इस प्रसङ्ग में (अत्र) कोई कहते हैं कि सविकल्पक ज्ञान आदि का भी करण इन्द्रिय ही है, जो मध्य में होने वाले इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि हैं, वे सब अवान्तर व्यापार ही हैं ।

कश्चिदाह इत्यादि से प्रकट होता है कि प्रत्यक्ष के करण के विषय में दो मत प्रचलित थे । एक के अनुसार प्रत्यक्ष का करण तीन प्रकार का था । दूसरे के अनुसार केवल इन्द्रिय ही । सम्भवतः इस मत-भेद का आधार करण के स्वरूप के विषय में

मत-भेद था । प्रथम मत के अनुसार करण वह है जिसके होने पर (अथवा जिसके व्यापार के अनन्तर) अविलम्बेन फल की उत्पत्ति हो जाती है । (फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्) । तदनुसार निर्विकल्पक प्रमा की उत्पत्ति में तो इन्द्रिय को करण कहा जा सकता है, सविकल्पक तथा हानादिबुद्धि की उत्पत्ति में नहीं । सविकल्पक को ही लीजिये । यहाँ इन्द्रिय के द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक ज्ञान दो कार्य हो चुकते हैं तब सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है । इन्द्रिय होने पर या उसका व्यापार होने पर अविलम्बेन फलोत्पत्ति नहीं होती । अतः इन्द्रिय को सविकल्पक प्रमा का करण नहीं कहा जा सकता । इन्द्रिययार्थसन्निकर्ष को ही इसका करण कहना चाहिये । यही बात हानादिबुद्धि के विषय में भी है । इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमा के उपर्युक्त त्रिविध करण हैं ।

दूसरे मत में 'प्रतिगतम् अक्षम्' प्रत्यक्षम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष शब्द का मुख्य अर्थ है (न्या० वृ० १·१·४) । अतः इन्द्रिय को ही त्रिविध प्रत्यक्ष प्रमा का करण मानना चाहिये । यदि कहो कि सविकल्पक प्रमा आदि इन्द्रिय के होने पर अविलम्बेन नहीं होते अतः उनकी उत्पत्ति में इन्द्रिय को करण नहीं कहा जा सकता तो उत्तर है कि 'व्यापारवत् कारणं करणम्' यह करण का लक्षण करेंगे (व्यापारवत् कारणमिति मते इन्द्रियं करणं बोध्यम्, सारमञ्जरी) । और करण तथा फल के मध्य में जो रहता है वह सब व्यापार ही है । इस प्रकार तीनों प्रकार की प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रिय ही करण होगा, अन्य सभी अवान्तर व्यापार होंगे । जैसा कि

फल (प्रमा)	अवान्तर व्यापार	करण
१. निर्विकल्पक	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	इन्द्रिय
२. सविकल्पक प्रमा	(क) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (ख) निर्विकल्पक ज्ञान तथा	इन्द्रिय
३. हानोपादानोपेक्षा बुद्धि	(क)+(ख)+(ग) सविकल्पक ज्ञान	इन्द्रिय

इस पर शङ्का यह हो सकती है कि व्यापार का लक्षण है 'तज्जन्यः तज्जन्य-जनको व्यापारः' यदि सविकल्पक प्रमा का करण इन्द्रिय होगा तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक ज्ञान इन दोनों में व्यापार का लक्षण घटित न होगा । इसका समाधान यह है कि यहाँ सन्निकर्ष इन्द्रिय का अङ्ग ही है और अपना अङ्ग व्यवधायक नहीं होता (स्वाङ्गमव्यवधायकम् चि०) अतः कोई दोष नहीं । इसी प्रकार हानोपादानोपेक्षा बुद्धि में भी इन्द्रिय को करण मानने में कोई कठिनाई नहीं है ।

टिप्पणी—(i) करण वह है जिसके होने पर अविलम्बेन फल की उत्पत्ति हो जाती है यदि यही करण का लक्षण माना जाये तो भी 'स्वाङ्गमव्यवधायकम्' इस न्याय के अनुसार इन्द्रिय को करण माना जा सकता है । (ii) गौरीकान्त के अनुसार 'कश्चिदाह' इत्यादि में सिद्धान्ती का मत प्रस्तुत किया गया है (iii) इस सन्दर्भ का आधार वात्स्यायन भाष्य की ये पङ्क्तियाँ हैं—अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् । वृत्तिस्तु सन्निकर्षः, ज्ञानं वा । यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः । यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् (न्या० भा० १·१·३) ।

[षड्विधः सन्निकर्षः]

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षड्विध एव। तद्यथा, संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः विशेष्यविशेषणभावश्चेति।

१८. षड्विध सन्निकर्ष

प्रत्यक्ष के त्रिविध करण बतलाते गये हैं। उनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष भी एक है। अथवा जिस मत में केवल इन्द्रिय को ही त्रिविध प्रत्यक्ष का करण माना जाता है, उस मत के अनुसार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष एक व्यापार है। अतः सन्निकर्ष के प्रकार बतलाते हैं:—

इन्द्रिय तथा अर्थ का जो सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान (साक्षात्कारिणी प्रमा) **का निमित्त होता है, वह ६ प्रकार का ही है, जैसे १. संयोग, २. संयुक्तसमवाय, ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय, ५ समवेतसमवाय और ६. विशेष्यविशेषणभाव।**

इन ६ प्रकार के सन्निकर्षों में सर्वप्रथम संयोग का ग्रहण इसलिये किया गया है; क्योंकि द्रव्य के साथ इन्द्रिय का संयोग सन्निकर्ष होता है और समस्त पदार्थों का आश्रय होने के कारण द्रव्य ही प्रधान है। इसके पश्चात् द्रव्य में आश्रित गुणों के सन्निकर्ष (संयुक्तसमवाय) का ग्रहण किया गया है। उसके अनन्तर गुण आदि में रहने वाली सामान्य के सन्निकर्ष (संयुक्तसमवेतसमवाय) का ग्रहण किया गया है। चतुर्थ स्थान पर समवाय सन्निकर्ष का ग्रहण है, क्योंकि समवाय भावपदार्थों का धर्म है। फिर समवेतसमवाय सन्निकर्ष का ग्रहण है, क्योंकि वह समवेत पदार्थ में समवाय से स्थित सामान्य का ग्राहक है। अन्त में विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष को रखा गया है, क्योंकि वह समवाय आदि का ग्राहक है (मि०, चि०)।

मुख्य रूप से संयोग तथा समवाय दो ही सम्बन्ध हैं, इन दोनों में ही सम्बन्ध का लक्षण घटित होता है। अन्य सन्निकर्षों को गौण रूप से सम्बन्ध कहा जाता है; क्योंकि इनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में दोनों सम्बन्धियों से रहा करता है (मि०, चि०)।

स षड्विध एव—वह सन्निकर्ष ६ प्रकार का ही है, इसका अभिप्राय यह है कि लौकिक सन्निकर्ष ६ प्रकार का ही होता है, इससे कम या अधिक नहीं। इसलिये न्या०-वै० सम्प्रदाय में जो इनके अतिरिक्त तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष माने गये हैं, उस मन्तव्य से इस कथन का कोई विरोध नहीं है। (अलौकिक सन्निकर्ष, द्र० टि०)।

टिप्पणी—सन्निकर्ष प्रथमतः दो प्रकार का है—लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक सन्निकर्ष ६ प्रकार का है जिसका उल्लेख अभी ऊपर किया है। अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है—(१) सामान्यलक्षण, (२) ज्ञानलक्षण तथा (४) योगज। इन्हें सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति आदि नाम से भी कहा जाता है। इनका

विस्तृत विवेचन न्यायमुक्तावली (१·६३-६६) आदि ग्रन्थों में किया गया है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

सामान्यलक्षण—यहाँ लक्षण का अर्थ है—स्वरूप। अतः यह सामान्य रूप में होता है। उदाहरणार्थ हमें एक गौ को दिखलाकर कोई कहता है कि 'यह गौ है' या 'इसे गौ कहते हैं।' यहाँ गौ के प्रत्यक्ष के साथ ही उसमें रहने वाली जाति (सामान्य) गोत्व का भी लौकिक सन्निकर्ष (संयुक्तसमवाय) द्वारा ग्रहण हो जाता है। फिर वह 'गोत्व' रूप सामान्य भी सन्निकर्ष बन जाता है तथा उस सामान्यस्वरूप सन्निकर्ष के द्वारा हमें सभी गौओं का ग्रहण हो जाता है। जिससे हम समझ लेते हैं कि सभी गौओं को गौ शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार जहाँ एक वस्तु का ज्ञान होने पर उसमें रहने वाले सामान्य धर्म के द्वारा उसकी सजातीय सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है वहाँ सामान्यलक्षण सन्निकर्ष होता है। इस सन्निकर्ष के अनेक प्रयोजन माने गये हैं; जैसे इस सन्निकर्ष के आधार पर धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति का ग्रहण हुआ करता है। जब हम महानस (पाकशाला) में धूम तथा वह्नि को देखते हैं तो वहाँ धूमत्व सामान्य के द्वारा सभी धूमों का तथा वह्नित्व सामान्य के द्वारा सभी वह्नियों का ग्रहण हो जाता है। तभी धूम और वह्नि की व्याप्ति का ग्रहण होता है।

रघुनाथ शिरोमणि जैसे तार्किक ने इस प्रकार के सभी प्रयोजनों की अन्यथा-सिद्धि दिखलाई है तथा सामान्यलक्षण सन्निकर्ष को निरर्थक बतलाया है 'मीमांसक तथा वेदान्ती भी इस सन्निकर्ष को नहीं मानते' (न्या० को०)।

(२) ज्ञानलक्षण—यह सन्निकर्ष स्मृत्यात्मक होता है तथा अलौकिक प्रत्यक्ष में कारण होता है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति ने चन्दनखण्ड को सूंघकर यह अनुभव किया कि चन्दन सुगन्धित है (सुरभि चन्दनम्) फिर कभी दूर से ही चन्दन को नेत्रों से देखकर बिना सूंघे ही उसने जान लिया 'यह चन्दन सुगन्धित है।' यहाँ चन्दन सुगन्धित है' यह चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय माना जाता है। इस प्रत्यक्ष में चन्दन का ग्रहण तो लौकिक सन्निकर्ष (संयोग सन्निकर्ष) से ही हो जाता है। 'किन्तु सौरभ' का ज्ञान तो लौकिक सन्निकर्ष से नहीं हो सकता; क्योंकि सौरभ के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होना सम्भव नहीं है। इसलिये सौरभ के प्रत्यक्ष में सौरभ का स्मरण ही सन्निकर्ष माना जाता है। यही ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष कहलाता है।

सामान्यलक्षण तथा ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष में भेद—यह है कि सामान्यलक्षण सन्निकर्ष किसी सामान्य के आश्रयभूत सभी व्यक्तियों का ज्ञान करा देता है; जैसे धूमत्व सामान्य के द्वारा सभी धूमों का ज्ञान हो जाता है। इसके विपरीत ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष तो केवल उसी सामान्य का ज्ञान कराता है, जिसका स्मरण (ज्ञान) सन्निकर्ष रूप में होता है; जैसे 'सुरभि चन्दनम्' में 'सौरभ' जो सामान्य है उसका स्मरण ही ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष है। इस सन्निकर्ष के द्वारा केवल उसी सौरभ का ज्ञान होता है, सौरभ के आश्रयभूत समस्त व्यक्तियों का नहीं—तत्र सामान्य-लक्षण-

तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव, अयुतसिद्धयभावात् । एवं मनसाऽन्तरिन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियम्, आत्मार्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव ।

सन्निकर्षः सामान्याश्रयसकलव्यक्तिविषयकं ज्ञानं जनयति । ज्ञानलक्षणसंनिकर्षस्तु यस्य सामान्यस्य ज्ञानं सन्निकर्षः तस्यैव ज्ञानं जनयति (मुक्ता०, न्याय० को०) ।

(३) **योगजसन्निकर्ष**—योग से उत्पन्न होने वाला विशेष प्रकार का सामर्थ्य है, जो योगी के अलौकिक प्रत्यक्ष का कारण हुआ करता है । इस सन्निकर्ष से योगी अतीन्द्रिय पदार्थों—सूक्ष्म, व्यवहित, भूत तथा भविष्यत् के पदार्थों—का भी प्रत्यक्ष कर लेता है । उदाहरणार्थ वह दूसरे की आत्मा का प्रत्यक्ष कर लेता है, इसी प्रकार आकाश, काल तथा परमाणु आदि का भी । योगी दो प्रकार के होते हैं—युक्त तथा युञ्जान । अतः यह योगज प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का होता है । 'युक्त' योगी को तो सदा ही अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु युञ्जान' नामक योगी को ध्यान लगाकर ही उसका प्रत्यक्ष हुआ करता है ।

ऊपर छः प्रकार के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का उल्लेख किया गया है । उसका उदाहरण सहित निरूपण करते हैं ।

(१) संयोग सन्निकर्ष

उनमें से जब चक्षु द्वारा घट आदि विषय का ज्ञान होता है तब चक्षु इन्द्रिय है, घट विषय (अर्थ) है । इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही है; क्योंकि ये दोनों अयुतसिद्ध नहीं हैं । इसी प्रकार जब आन्तरिक इन्द्रिय मन के द्वारा आत्मा के विषय में 'मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान होता है तब मन इन्द्रिय है, आत्मा अर्थ है । इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही है ।

सन्निकर्ष का अर्थ है प्रत्यक्ष-जनक सम्बन्ध-विशेष । इन्द्रिय तथा अर्थ के संयोग से जहाँ प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति होती है वहाँ संयोग नामक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है । किञ्च, दो द्रव्यों में ही संयोग सम्बन्ध हुआ करता है । न्या०-वै० के मत में इन्द्रिय द्रव्य ही है । अतः इन्द्रिय द्वारा जहाँ किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है वही संयोग सन्निकर्ष हो सकता है । न्या०-वै० के मतानुसार बाह्येन्द्रियों में केवल नेत्र तथा त्वक् (स्पर्शेन्द्रिय) के द्वारा ही घट, पट आदि द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है तथा आन्तरिक इन्द्रिय मन से आत्मा का प्रत्यक्ष किया जाता है । इसलिये ये तीन इन्द्रियाँ ही संयोग सन्निकर्ष द्वारा अर्थ का प्रत्यक्ष किया करती है ।

बाह्येन्द्रियों में यहाँ केवल चक्षु का उदाहरण दिया गया है । चक्षु के द्वारा जब घट का प्रत्यक्ष होता है तो चक्षु तथा घट का संयोग सन्निकर्ष होता है । क्योंकि चक्षु तथा घट दोनों ही द्रव्य है और वे अयुतसिद्ध नहीं हैं ऐसा नहीं हैं कि अविन-

कदा पुनः संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते, घटे श्यामं रूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटरूपमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवाय एवं । चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवयात् । एवं मनसाऽऽत्मसमवेते सुखादौ गृह्यमाणे, अयमेव सन्निकर्षः ।

श्यद् अवस्था में इनमें से एक-दूसरे के आश्रित ही रहता हो । आन्तरिक इन्द्रिय से संयोग सन्निकर्ष द्वारा द्रव्य के प्रत्यक्ष का उदाहरण है—जैसे मन से 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष होता है । यहाँ भी मन तथा आत्मा द्रव्य हैं, दोनों अयुतसिद्ध नहीं अतः दोनों का संयोग सन्निकर्ष है ।

'अयुतसिद्धत्वभावात्' का अभिप्राय है कि जिन दो द्रव्यों में सम्बन्ध होता है, यदि वे अयुतसिद्ध न हों तो वह सम्बन्ध संयोग ही हुआ करता है । हाँ, यदि वे अयुतसिद्ध होते हैं तो वह सम्बन्ध संयोग नहीं होता; जैसे अवयव तथा अवयवी दोनों का सम्बन्ध समवाय होता है, संयोग नहीं; क्योंकि दोनों अयुतसिद्ध हैं ।

इस प्रकार इन्द्रिय से द्रव्य के प्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष कारण है ।

(२) संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष कब होता है ?

जब चक्षु आदि से घट में रहने वाले रूप आदि का ग्रहण होता है कि 'घट में श्याम रूप है, तब चक्षु इन्द्रिय है, घट का रूप विषय है । इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय ही है; क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप का समवाय है । इसी प्रकार जब मन से आत्मा में समवाय सम्बन्ध में रहने वाले (=समवेत) सुख आदि का ग्रहण होता है तो यही (संयुक्तसमवाय) सन्निकर्ष होता है ।

संयुक्तसमवाय का अर्थ है—संयुक्त में समवाय । इस सन्निकर्ष के द्वारा इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्यों के गुण, कर्म तथा जाति का ग्रहण हुआ करता है' क्योंकि द्रव्य में गुण, कर्म तथा जाति समवाय सम्बन्ध से रहा करते हैं । श्रोत्रेन्द्रिय को छोड़कर सभी इन्द्रियों से संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ करता है । जैसे चक्षु से घट के रूप का ग्रहण होता । यहाँ चक्षु से संयुक्त घट है तथा घट में रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है । अतः संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है । इसी प्रकार त्वक् इन्द्रिय से घट आदि के स्पर्श का, रसनेन्द्रिय से जल आदि के रस का तथा घ्राण इन्द्रिय से पुष्प आदि के गन्ध का ग्रहण हुआ करता है । इस प्रकार 'चक्षुरादिना' में आदि शब्द से त्वक्, रसना तथा घ्राण इन्द्रिय को समझना चाहिये तथा 'घटगत-रूपादिकम्' में आदि शब्द से स्पर्श, रस एवं गन्ध को समझना चाहिये । किञ्च, संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष द्वारा इन्द्रिय से ही घट में स्थित घटत्व सामान्य (जाति) का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, क्योंकि न्या० वै० का मन्तव्य है कि सामान्य का

घटगतपरिमाणादिग्रहे चतुष्टयसन्निकर्षोऽप्यधिकं कारणमिष्यते। सत्यपि संयुक्तसमवाये तदभावे दूरे परिमाणाद्यग्रहणात् । चतुष्टयसन्निकर्षो यथा; १. इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम् । २. इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम् । ३. इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम् । ४. अर्थावयविनामिन्द्रियावयविनां सन्निकर्ष इति ।

प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है । नियम यह है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ग्रहण होता है उसमें रहने वाले सामान्य, समवाय तथा उसके अभाव का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण हो जाता है—येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायस्तदभावश्च गृह्यते ।

जब आन्तरिक इन्द्रिय मन से आत्मा में स्थित सुख आदि का ग्रहण होता है तो यहाँ भी मन से संयुक्त आत्मा में सुख आदि का समवाय है अतः संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष ही है 'सुखादौ' में आदि शब्द से ज्ञान, इच्छा आदि आत्मा के गुण लिये जाते हैं । इन ज्ञान आदि का भी मन से संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष के द्वारा ग्रहण हुआ करता है ।

अभी ऊपर कहा गया है कि द्रव्य के गुण, कर्म तथा सामान्य का संयुक्तसमवाये सन्निकर्ष के द्वारा ग्रहण होता है किन्तु 'परिमाण' आदि के ग्रहण में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष के साथ-साथ अन्य भी चार प्रकार का सन्निकर्ष हुआ करता है, वह बतलाते हैं—

घट में स्थित परिमाण आदि के ग्रहण में चतुष्टयसन्निकर्ष (चार प्रकार का सन्निकर्ष) भी अधिक कारण माना जाता है, क्योंकि संयुक्तसमवाय नामक सन्निकर्ष के होने पर भी उस (चतुष्टयसन्निकर्ष) के अभाव में दूरी पर परिमाण आदि का ग्रहण नहीं होता । वह चतुष्टयसन्निकर्ष इस प्रकार है—(१) इन्द्रिय के अवयवों से अर्थ के अवयवी का २. इन्द्रिय के अवयवी से अर्थ के अवयवों का, ३. इन्द्रिय के अवयवों के साथ अर्थ के अवयवों का तथा ४ अर्थ के अवयवी और इन्द्रिय के अवयवी का सन्निकर्ष ।

भाव यह है:—परिमाण गुण है तथा ऊपर बतलाया गया है कि द्रव्य के गुणों का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष के द्वारा ग्रहण होता है । किन्तु जब हम दूर से किसी वस्तु को देखते हैं तो हमें यह निश्चित नहीं होता कि उसका परिमाण क्या है । इससे यह विदित होता है कि परिमाण के ग्रहण के लिये संयुक्तसमवायसन्निकर्ष के अतिरिक्त भी कुछ अपेक्षित है । वस्तुतः रूप आदि की अपेक्षा परिमाण के ग्रहण में कुछ अन्तर है । यह 'श्याम घट है, रक्त घट है ऐसा प्रत्यक्ष करने के लिये घट के सभी अवयवों का प्रत्यक्ष करना आवश्यक नहीं है । किन्तु 'यह घट बड़ा है या छोटा है' इस प्रकार का ज्ञान तभी संभव है, जब हम घट के अधिकांश अवयवों का प्रत्यक्ष कर लें । इसलिये तार्किकों ने परिमाण आदि के ग्रहण के लिये चार अधिक सन्निकर्षों की

कदा पुनः संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियं, रूपत्वादिसामान्यमथः; अनयो सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतसमवाय एव । चक्षुः संयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात् ।

कल्पना की है । इसे ही यहाँ चतुष्टयसन्निकर्ष कहा गया है । इस चतुष्टयसन्निकर्ष के अभाव में परिभाषा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता । इसके होने पर तो घट आदि के अवयवों तथा अवयवी के साथ इन्द्रिय के अवयवों तथा अवयवी का सन्निकर्ष हो जाता है । अतः घट आदि के अधिकांश अवयवों का ग्रहण हो जाने से उसके परिमाण का ग्रहण हो जाना भी सम्भव है ।

टिप्पणी—(i) यहाँ इन्द्रिय के अवयव तथा अवववी दो हैं, अर्थ के अवयव तथा अवयवी भी दो हैं । इनका परस्पर सम्बन्ध होने पर चार सम्बन्ध हो जाते हैं । (ii) अधिकम्=संयुक्त समवाय के अतिरिक्त । (iii) परिमाणाद्यग्रहणात्=परिमाण विशेषाद्यग्रहणात्, यद्यपि दूर से भी वस्तु के परिमाण का ग्रहण हो जाता है तथापि परिमाणविशेष अर्थात् लम्बा है, छोटा है, इत्यादि का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता । इसलिये बड़ी वस्तु भी दूर से छोटी दिखलाई देती है ।

(३) संयुक्तसमवेतसमवाय

फिर संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष कब होता है ?

जब चक्षु के द्वारा घट के रूप में समवेत रूपत्व आदि सामान्य (जाति) का ग्रहण होता । तब चक्षु इन्द्रिय है, रूपत्व आदि सामान्य ही अर्थ (विषय) है । इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय ही है । क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत है (समवाय सम्बन्ध से रहता है) और उस (रूप) में रूपत्व (सामान्य) का समवाय हैं ।

न्या०-वै० का मन्तव्य है—येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं, तत्समवायः, तदभावश्च गृह्यते । तदनुसार जिस चक्षु से रूप का ग्रहण होता है, उससे ही रूप में स्थित रूपत्व जाति का भी ग्रहण हो जाया करता है । अन्तर यह है कि रूप के ग्रहण में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है; किन्तु रूपत्व आदि के ग्रहण में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है । कारण, चक्षु से संयुक्त घट आदि में समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाले) जो रूप आदि हैं उनमें रूपत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है । रूपत्व के समान ही संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष के द्वारा शब्द के अतिरिक्त सभी गुणों तथा कर्म में स्थित जाति (सामान्य) का ग्रहण हुआ करता है (शब्देतरगता कर्मगता च जातिरित्यर्थः, न्या० म० १ पृ० ७) ।

---

१. प्रायेण लुप्तोऽयं पाठः ।

कदा पुनः समवायः सन्निकर्षः ?

यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम् । श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात् ।

कदा पुनः समवेतसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिकं सामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दत्वादिसामान्यमर्थः । अनयोः सन्निकर्षः समवेतसमवाय एव । श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात् ।

---

(४) समवायसन्निकर्ष

फिर समवाय सन्निकर्ष कब होता है ?

जब श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय है, शब्द अर्थ है इन दोनों का सन्निकर्ष समवाय ही है; क्योंकि कर्णविवर से अवच्छिन्न (परिमित, घिरा हुआ) आकाश ही श्रोत्र है । अतः श्रोत्र के आकाश स्वरूप होने से और शब्द के आकाश का गुण होने से तथा गुण एवं गुणी का समवाय सम्बन्ध होने के कारण (श्रोत्र और शब्द का) समवाय सन्निकर्ष ही है ।

श्रोत्र से समवाय सन्निकर्ष द्वारा शब्द का ग्रहण होता है इसमें युक्ति यह है—वस्तुतः श्रोत्र आकाश से भिन्न नहीं, श्रोत्र आकाश ही है । अन्तर केवल औपाधिक है । कर्णछिद्र के भीतर जो आकाश है, उसे श्रोत्र कहा जाता है । और, यह आगे सिद्ध किया जायेगा कि शब्द एक गुण है, जो आकाश में रहता है । फलतः यहाँ श्रोत्र के रूप में जो आकाश है वह एक गुणी है तथा शब्द गुण है । यह भी कहा जा चुका है कि गुणी एवं गुण का समवाय सम्बन्ध होता है—गुणी में गुण समवाय सम्बन्ध से सन्निकर्ष द्वारा शब्द का ग्रहण होता है ।

(५) समवेतसमवाय सन्निकर्ष

फिर समवेतसमवाय सन्निकर्ष कब होता है ?

फिर जब शब्द में समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाली) शब्दत्व आदि जाति का श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है तब श्रोत्र इन्द्रिय है, शब्दत्व आदि जाति अर्थ (विषय) है इन दोनों का सन्निकर्ष समवेतसमवाय ही है; क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द में समवाय सम्बन्ध होता है ।

इस प्रकार शब्द तथा शब्द-समवेत (शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली) जाति के प्रत्यक्ष के लिये इन दो सन्निकर्षों (समवाय तथा समवेतसमवाय) को मानना आवश्यक है ।

कदा पुनर्विशेष्यविशेषणभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति ?

यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इह भूतले घटो नास्ति' इति तदा विशेष्यविशेषणभावः सम्बन्धः । तदा चक्षुः संयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं भूतलं विशेष्यम् । यदा च मनःसंयुक्त आत्मनि सुखाद्यभावो गृह्यते 'अहं सुखरहित' इति, तदा मनःसंयुक्तस्यात्मनः सुखाद्यभावो विशेषणम् । यदा श्रोत्रसमवेते गकारे गत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोत्रसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम् ।

तदेवं संक्षेपतः पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते ।

(६) विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष

फिर विशेषण-विशेष्य भाव इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष कब होता है ?

जब चक्षु से संयुक्त भूमि पर 'यहाँ भूतल पर घट नहीं है' इस प्रकार घट के अभाव का ग्रहण होता है तब विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष हुआ करता है । वहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घट का अभाव विशेषण है तथा भूतल विशेष्य है । इसी प्रकार जब मन से संयुक्त आत्मा में 'मैं सुखरहित हूँ' इस प्रकार सुख आदि के अभाव का ग्रहण होता है तब मन से संयुक्त आत्मा में सुख आदि का अभाव विशेषण हुआ करता है । जब श्रोत्र में समवाय से रहने वाले (समवेत) गकार (ग वर्ण) में घत्व के अभाव का ग्रहण होता है तब श्रोत्र में समवेत गकार का घत्वाभाव विशेषण हुआ करता है ।

इस प्रकार संक्षेप में पाँच प्रकार के सम्बन्धों (१. संयोग, २. संयुक्तसमवाय, ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय तथा ५, समवेतसमवाय) में से किसी (अन्यतम) से सम्बद्ध विशेषण-विशेष्य-भाव रूप इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण होता है ।

न्या०-वै० में अभाव का ग्रहण कहने के लिये अभाव (अनुपलब्धि) नाम का पृथक् प्रमाण नहीं माना जाता अपितु किसी वस्तु के अभाव का इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष हुआ करता है (येनेन्द्रियेण०) । कोई इन्द्रिय विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष के द्वारा अभाव का ग्रहण किया करती है । विशेषण-विशेष्य-भाव एक विशेष प्रकार का सन्निकर्ष है, जिसमें विशेषण का अर्थ है—आधेय तथा विशेष्य का अर्थ है—आधार (तथा चात्र विशेषणपदमाधेयपरं विशेष्यपदमाधारपरमिति मन्तव्यम्, गो० का०) । उदाहरणार्थ 'भूतले घटाभावः' (=भूतल पर घट का अभाव है) । यहाँ भूतल जो आधार है वह विशेष्य है तथा घटाभाव जो आधेय है वह विशेषण है । यदि 'घटाभाववद् भूतलम्' (घट के अभाव वाला भूतल है), ऐसा ज्ञान होता तो भी भूतल विशेष्य तथा घटाभाव विशेषण होगा ।

केवल विशेष्य-विशेषण भाव सन्निकर्ष द्वारा कभी भी अभाव का ग्रहण नहीं होता अपितु ऊपर जो पाँच सन्निकर्ष बतलाये गये हैं उनमें से कोई एक अवश्य ही

एवं समवायोऽपि । चक्षुःसम्बद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवाय' इति ।

विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष के साथ रहा करता है । उदाहरणार्थ जब हमें भूतल में घटाभाव का ग्रहण होता है तो वहाँ नेत्रेन्द्रिय का भूतल के साथ संयोग सन्निकर्ष हुआ करता है । उस नेत्र-संयुक्त भूतल में ही घटाभाव का ग्रहण होता है । फलतः 'भूतले घटाभावः' इत्यादि रूप में जो अभाव का प्रत्यक्ष होता है उसमें संयुक्त-विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष द्वारा घटाभाव का ग्रहण हो रहा है ।

मन से अभाव-ग्रहण का उदाहरण है आत्मा में सुख आदि के अभाव का ग्रहण । वहाँ संयुक्त-विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष है । इसी प्रकार अन्य सम्बन्धों से सम्बद्ध विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष के द्वारा अभाव का ग्रहण होता है; जैसे यदि कहीं घट के नील रूप में पीताभाव का ग्रहण होगा तो वहाँ संयुक्त-समवेत-विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष होगा; क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में नीलरूप समवेत है तथा उसमें पीताभाव का विशेष्य-विशेषण-भाव सम्बन्ध है । इसी प्रकार 'गकार में घत्व का अभाव है' इस प्रत्यक्ष में समवेत-विशेष्य-विशेषण-भाव सम्बन्ध है; क्योंकि श्रोत्र में समवेत जो गकार है उसमें 'घत्व' के अभाव का विशेष्य-विशेषण-भाव सम्बन्ध है ।

इस प्रकार जिस भूतल आदि में अभाव का ग्रहण होता है, उसके साथ इन्द्रिय का संयोग आदि पाँच सम्बन्धों में से कोई एक सम्बन्ध हुआ करता है तथा उसके साथ अभाव का विशेष्य-विशेषण-भाव सम्बन्ध होता है । अतः संयोग आदि पाँच सम्बन्धों में से किसी एक सम्बन्ध विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष होता है ।

समवाय का ग्रहण भी विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष द्वारा ही होता है, यह बतलाते हैं—

इसी प्रकार समवाय भी (विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष के द्वारा गृहीत होता है) चक्षु से सम्बद्ध तन्तु का विशेषण होने वाला पटसमवाय 'इन तन्तुओं में पट-समवाय है, इस प्रकार से गृहीत होता है ।

समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है या नहीं । इस विषय में न्याय तथा वैशेषिक का परस्पर मतभेद है । वैशेषिक सम्प्रदाय समवाय को प्रत्यक्ष-ग्राह्य नहीं मानता । उसके मत में समवाय अनुमानगम्य = अनुमेय है । दूसरी ओर न्याय सम्प्रदाय समवाय को प्रत्यक्ष-गम्य मानता है । यहाँ न्याय के मतानुसार ही यह दिखलाया गया है कि जिस प्रकार इन्द्रिय से विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष द्वारा अभाव का ग्रहण होता है उसी प्रकार इन्द्रिय से ही विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष द्वारा समवाय का भी ग्रहण हो जाता है ।

एक अन्तर अवश्य है अभाव का ग्रहण तो पाँच सम्बन्धों में से किसी एक से

तदेवं षोढा सन्निकर्षो वर्णितः । संग्रहश्च—

अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाविकल्पिका ।
करणं त्रिविधं तस्याः सन्निकर्षश्च षड्विधः ॥
घट-तन्नील-नीलत्व-शब्द-शब्दत्वजातयः ।
अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः ॥

सम्बद्ध विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष द्वारा होता है, किन्तु समवाय का ग्रहण केवल संयोग, संयुक्तसमवाय तथा समवाय इन तीन में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष द्वारा हुआ करता है। कारण यह है कि समवाय सम्बन्ध केवल द्रव्य गुण तथा कर्म में ही रहता है । इनमें से द्रव्य के साथ इन्द्रिय का संयोग सन्निकर्ष होता है, शब्द से भिन्न सभी गुणों तथा कर्मों के साथ इन्द्रिय का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है तथा शब्द नामक गुण के साथ समवाय सन्निकर्ष होता है ।

टिप्पणी—(i) तन्तोर्विशेषणभूतः—यहाँ पटसमवाय को तन्तु का विशेषण बतलाया गया है किन्तु 'इह तन्तुषु पटसमवायः' इस उदाहरण में तन्तु ही पटसमवाय का विशेषण है, इस प्रकार यहाँ असङ्गति की आशङ्का करके 'इह तन्तुषु पटसमवायः' का तात्पर्य 'पटसमवायवन्त इमे तन्तवः' ऐसा मानकर ग्रन्थ की सङ्गति लगाई गई है (रुद्रधर झा) । वस्तुतः जैसा अभाव के सन्दर्भ में बतलाया गया है यहाँ विशेष्य-विशेषण-भाव का अर्थ है—आधार-आधेय भाव, इसलिये 'तन्तुषु पटसमवायः' में तन्तु आधार है अतः विशेष्य है, पटसमवाय आधेय है अतः विशेषण है । इस प्रकार यथा-श्रुत पाठ ही सङ्गत है । (ii) विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष को केवल विशेषणता सन्निकर्ष या विशेष्यता सन्निकर्ष भी कहा जाता है; जैसे—समवायप्रत्यक्षं प्रति इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्षो हेतु (मुक्ता०) ।

प्रत्यक्ष-प्रमा के विषय में जो विस्तारपूर्वक बतलाया गया है, उसका करिकाओं में संक्षेप से संग्रह करते हैं—

इस प्रकार ६ प्रकार के सन्निकर्ष का वर्णन किया गया है और (प्रत्यक्ष-निरूपण का) संक्षेप (=संग्रह) यह है—

इन्द्रिय से उत्पन्न (प्रत्यक्ष) प्रमा दो प्रकार की होती है—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक । उस (प्रत्यक्ष प्रमा) का करण तीन प्रकार का (इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक ज्ञान) होता है । उसका सन्निकर्ष ६ प्रकार का (१. संयोग, २. संयुक्तसमवाय, ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय, ५. समवेतसमवाय तथा ६. विशेष्य-विशेषण-भाव) होता है ।

इस ६ प्रकार के सन्निकर्ष के द्वारा (सम्बन्धषट्कतः) क्रमशः १. घट, २. घटगत नील (आदि गुण), ३. (घटगत नील में समवेत) नीलत्व (जाति) ४. शब्द- ५. (शब्द में रहने वाली) शब्दत्व (जाति) तथा ६. अभाव एवं समवाय का ग्रहण होता है ।

कारिकाओं में बतलाये गये प्रत्यक्ष के प्रकार, करण तथा सन्निकर्षों का ऊपर विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है। यहाँ तो केवल यह विचार करना है कि न्या०-वै० के मत में इन्द्रियों से सन्निकर्ष द्वारा वस्तुओं का ग्रहण कैसे होता है। ऊपर बतलाया गया आत्मा तथा मन का संयोग तो सभी ज्ञानों का कारण होता है। किन्तु मन तथा इन्द्रिय का संयोग बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष का विशेष कारण है। बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों द्वारा ही हुआ करता है। घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत ५ बाह्येन्द्रियाँ हैं तथा मन अन्तरिन्द्रिय है। सभी इन्द्रियों का आश्रय शरीर है, ये शरीर में रहती हैं। किञ्च, न्या०-वै० के अनुसार इन्द्रियाँ किसी वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित करती हैं—(इन्द्रियाणां प्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात्) परन्तु इनकी प्राप्यकारिता के रूप में थोड़ा अन्तर हैं। ५ बाह्येन्द्रियों में से एक चक्षु तो विषय के पास जाकर उसे प्रकाशित किया करती है, शेष चार अपने स्थान पर ही रहती हैं वहीं विषय को प्राप्त करके प्रकाशित किया करती हैं।

प्रथमतः चाक्षुष प्रत्यक्ष को ही देखिये। चक्षु इन्द्रिय को तैजस (तेजस् से उत्पन्न) माना जाता है। यह जो चक्षु का बाह्य गोलक दिखलाई देता है, यही चक्षु नामक इन्द्रिय नहीं है अपि तु चक्षु में जो काला तारा है, उसी में तेजस् के परमाणुओं से बनी, सूक्ष्म रूप वाली चक्षु इन्द्रिय विद्यमान रहती है। तैजस होने के कारण ही नयन की रश्मियाँ होती हैं। जब हम नेत्र खोलते हैं तो नयन रश्मियाँ बाह्य घट आदि पर पहुँच जाती हैं। यही चक्षु तथा घट आदि का संयोग—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष है। इस संयोग सन्निकर्ष के द्वारा चक्षु इन्द्रिय घट को प्रकाशित करती है। यही घट का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। इसके अनन्तर सविकल्पक ज्ञान आदि हुआ करते हैं। सम्भवतः न्या०-वै० में इस प्रक्रिया पर सूक्ष्म एवं स्पष्ट रूप से विचार नहीं किया गया है कि नयन-रश्मियों द्वारा जो शरीर से बाहर घट आदि का प्रकाशन है, अर्थात् जो घट आदि का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है उससे सविकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति कैसे होती है।

चक्षु के अतिरिक्त अन्य बाह्येन्द्रियाँ अपने स्थान पर ही रहा करती हैं, शरीर से बाहर उनकी गति नहीं होती। उदाहरणार्थ जब गन्ध के आधारभूत पुष्प आदि के अवयव वायु के द्वारा हमारे शरीर में स्थित घ्राण इन्द्रिय तक पहुँच पाते हैं तो घ्राण से गन्ध का ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार रसना तथा त्वक् भी किसी प्रकार अपने साथ संयुक्त (सन्निकृष्ट) वस्तु के रस तथा स्पर्श का प्रत्यक्ष कराती हैं। श्रोत्र इन्द्रिय के विषय में थोड़ा अन्तर है। श्रोत्र से बाहर जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे शब्द वीचि-तरङ्ग न्याय से श्रोत्र-पथ में पहुँच जाते हैं तथा अपने में समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाले) शब्दों का श्रोत्रेन्द्रिय से समवाय सन्निकर्ष द्वारा ग्रहण होता है।

इन बाह्येन्द्रियों में केवल दो चक्षु तथा त्वक् ही गुणी (द्रव्य) का ग्रहण करती हैं। शेष तो केवल गुण आदि का प्रत्यक्ष कराती हैं।

आन्तरिक इन्द्रिय जो मन है वह भी अर्थ से सन्निकृष्ट होकर ही आत्मा तथा

ननु निर्विकल्पक परमार्थतः स्वलक्षणविषयं भवतु प्रत्यक्षम्, सविकल्पकं तु शब्दलिङ्गवदनुगताकारावगाहित्वात् सामान्यविषयं कथं प्रत्यक्षमर्थजस्यैव[1] प्रत्यक्षत्वात् । अर्थस्य च परमार्थतः सत एव तज्जनकत्वात् । स्वलक्षणन्तु परमर्थतः सत् ,न तु सामान्यम् । तस्य प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य अन्यव्यावृत्त्यात्मनस्तुच्छत्वात् ।

मैवम् । सामान्यस्यपि वस्तुभूतवात् ।

उसमें स्थित ज्ञान, सुख आदि का प्रत्यक्ष कराता है । यह मन द्रव्य (आत्मा) का भी ग्रहण करता है तथा सुख आदि गुणों का भी ।

इसके अतिरिक्त न्या०-वै० का यह भी मन्तव्य है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ग्रहण होता है, उसमें रहने वाले सामान्य, समवाय तथा उसके अभाव का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण हो जाता है । तदनुसार इन्द्रियों से विविध सामान्यों, समवाय तथा अभाव का भी प्रत्यक्ष हुआ करता है ।

टिप्पणी—न्या०-वै० की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के तुलनात्मक अध्ययन के लिये अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया को जानना भी आवश्यक है । उनमें से विशेष रूप से सांख्य योग, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध तथा जैन दर्शन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया अधिक महत्त्वपूर्ण हैं । द्रष्टव्य; सांख्य-तत्त्वकौमुदी का० ६; योग-भाष्य तथा योगवार्तिक १—७; मानमेयोदय; वेदान्तसार; न्यायबिन्दु; प्रमाणमीमांसा आदि ।

१९. प्रत्यक्षविषयक बौद्धमतनिराकरण

साक्षात्कारिणी प्रमा दो प्रकार की कही गई है—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक । बौद्ध इस कथन को उचित नहीं समझते । वे तो केवल निर्विकल्पक साक्षात्कार को ही प्रत्यक्ष मानते हैं । यहाँ बौद्ध के मत को संक्षेप मे प्रस्तुत करके उसका निराकरण किया जाता है—

(बौद्ध की शङ्का) निर्विकल्पक ज्ञान, जिसका विषय परमार्थसत् वस्तु स्वलक्षण (वस्तु स्वरूप) है वही प्रत्यक्ष होना चाहिए । सविकल्पक ज्ञान तो शब्द तथा-अनुमान (लिङ्ग) के समान अनुगत आकार का ग्राहक होने के कारण सामान्यविषयक हुआ करता है, फिर वह कैसे प्रत्यक्ष कहला सकता है ? क्योंकि अर्थ से उत्पन्न (अर्थज) ज्ञान ही प्रत्यक्ष है और वस्तुतः विद्यमान (=परमार्थसत्) अर्थ ही उस (प्रत्यक्ष) का उत्पादक होता है । स्वलक्षण तो वस्तुतः विद्यमान (परमार्थसत्) है किन्तु सामान्य (परमार्थसत्) नहीं; क्योंकि उसकी भावरूपता (विधिभाव) का प्रमाणों द्वारा निराकरण कर दिया गया है, वह अन्यव्यावृत्ति (अतद्व्यावृत्ति) के रूप में ही है अतः वह निषेधात्मक या अभावमात्र ही है (तुच्छत्वात्) ।

(समाधान) ऐसा नहीं है; क्योंकि सामान्य भी वास्तविक (परमार्थसत्) है ।

ननु··· तुच्छत्वात् इस सन्दर्भ में बौद्ध की ओर से शङ्का की गई है । शङ्का का आशय यह है—न्या०-वै० ने जो दो प्रकार की साक्षात्-कारिणी प्रमा मानी

---

१. 'अक्षजस्यैव' इति पाठान्तरम् ।

है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक, उनमें से निर्विकल्पक को तो प्रत्यक्ष (प्रमा=साक्षात्कारिणी प्रमा) मानना ठीक है, सविकल्पक को नहीं। क्यों? निर्विकल्पक ज्ञान का विषय वस्तुमात्र है (वस्तुमात्रावगाहि)। यह वस्तुमात्र या वस्तु का स्वरूप ही स्वलक्षण कहलाता है, यही वास्तविक वस्तु का स्वरूप है। अतः निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहना युक्तिसंगत है। इसके विपरीत सविकल्पक ज्ञान का विषय तो विशेष्य-विशेषण-भाव आदि होता है, विशेषण-विशेष्य-भावागाहि; उसमें नाम जाति आदि की योजना होती है (नामजात्यादियोजनात्मकम्) अतः उसका विषय केवल वस्तु का स्वरूप ही नहीं होता अपि तु भिन्न-भिन्न वस्तु-स्वरूपों में जो समानता है—अनुगत आकार है—वही उसका विषय होता है। फलतः जिस प्रकार शब्द के द्वारा वस्तु के समान आकार (सामान्य रूप) का बोध होता है तथा जिस प्रकार अनुमान क द्वारा सामान्य अग्नि की अनुमिति होती है, अग्नि के विशेष रूप की नहीं उसी प्रकार सविकल्पक के द्वारा भी वस्तु के सामान्य रूप का बोध होता है। उसका विषय सामान्य है, स्वलक्षण नहीं। अतः स्वलक्षणविषयक होने से निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष है, सविकल्पक नहीं।

प्रश्न यह हो सकता है कि जिस ज्ञान का विषय स्वलक्षण है, वही प्रत्यक्ष क्यों है, अन्य क्यों नहीं। उसके उत्तर में कहा गया है। अर्थजस्यैव प्रत्यक्षत्वात् =जो ज्ञान अर्थजन्य होता है वही प्रत्यक्ष कहलाता है। न्या० वै० अनुसार भी इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। यह अर्थ दो प्रकार का हो सकता है एक परमार्थसत् या वस्तुसत् दूसरा आरोपित या कल्पित। इनमें से जो परमार्थसत् है वही प्रत्यक्ष का जनक होता है कल्पित अर्थ नहीं–अर्थस्य च परमार्थतः सत एव तज्जनकत्वात्)।

भाव यह है कि बौद्ध की दृष्टि से दो प्रकार के पदार्थ हैं। एक स्वलक्षण दूसरा सामान्यलक्षण या सामान्य। स्वलक्षण का अर्थ है स्वं सर्वतो व्यावृत्तं लक्षणं वस्तुरूपम् अर्थात् सबसे भिन्न वस्तु का स्वरूप, वस्तु का अपना रूप जो सभी अन्य सजातीय विजातीय वस्तुओं से भिन्न है। इस स्वलक्षण को न्या० वै० की व्यक्ति के समान कहा जा सकता है। यह स्वलक्षण ही मनुष्य की प्रवृत्ति या निवृत्ति का विषय है अर्थात् इसका ही ग्रहण या त्याग किया जा सकता है। यही अर्थक्रियाकारी है; अर्थात् घट आदि अर्थ का जो जल लाना आदि कार्य (क्रिया) है उसे घट व्यक्ति या स्वलक्षण ही कर सकता है घटत्व जाति नहीं। इसीलिये इस स्वलक्षण को ही परमार्थत्=वस्तुतः यथार्थ माना जाता है। अर्थक्रियाकारिता ही परमार्थसत्ता की कसौटी है। (स एव परमार्थसत्, अर्थक्रियाकारित्वाद् वस्तुनः, न्यायबिन्दु परि०)। दूसरा पदार्थ है सामान्य या सामान्यलक्षण। वह अर्थक्रियाकारी नहीं अतएव परमार्थसत् भी नहीं अपि तु एक आरोपित (=कल्पित) पदार्थ है। इसीलिये तर्कभाषाकार ने कहा है—**स्वलक्षण तु परमार्थतः सत् न तु सामान्यम्**। बौद्ध दर्शन में इसे संवृतिसत् (सांवृतिक) कहा गया है तथा अभावरूप (तुच्छ) माना गया है।

सामान्य अभावरूप क्यों है ? भावरूप क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहा गया है—**प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य**; अर्थात् प्रमाणों के द्वारा जिसकी भावरूपता का निराकरण कर दिया गया है । क्यों ? न्या० वै० के अनुसार सामान्य (=जाति) का लक्षण है जो नित्य है तथा अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहती है (नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्); जैसे गोत्व आदि । इस लक्षण के दो अंश हैं नित्यत्व तथा अनेकसमवेतत्व । ये दोनों ही युक्तिसंगत नहीं । नित्यता को ही लीजिये । बौद्ध के अनुसार विश्व का कोई पदार्थ भी नित्य नहीं है, सभी क्षणिक हैं । जो क्षणिक नहीं है उसकी सत्ता ही नहीं हो सकती । उनकी व्याप्ति है । 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' । अतः क्षणिकता के अभाव में सत्ता भी नहीं रह सकती । इस प्रकार सामान्य की भावरूपता का निराकरण हो जाता है । 'अनेकसमवेतत्व' को भी देखिये । यदि मान भी लिया जाये कि जाति अनेक व्यक्तियों में रहती है तो प्रश्न यह होता है कि वह जाति प्रत्येक व्यक्ति में साकल्येन (पूर्ण रूप में) रहती है अथवा एकदेशेन; अर्थात् किसी एक व्यक्ति में वह समस्त जाति रहती है या उसका एक अंशमात्र । यहाँ प्रथम विकल्प नहीं माना जा सकता; क्योंकि यदि जाति साकल्येन किसी एक व्यक्ति में रही है तो दूसरे व्यक्ति में उसकी प्रतीति न हुआ करेगी । द्वितीय विकल्प भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि न्या० वै० ने जाति को निरंश (=अंशरहित) माना है फिर वह एकदेशेन कैसे रह सकती है ? इन दोषों के समान ही जाति की सत्ता मानने पर अन्य अनेक दोष भी होते हैं । जैसे घट की उत्पत्ति के समय उसमें घटत्व आदि जाति कहाँ से आ जाती है ? घट के नष्ट होने पर वह कहाँ चली जाती है ? इत्यादि शङ्काओं का बुद्धि-संगत समाधान नहीं मिलता । इस प्रकार प्रमाणों द्वारा जाति की भावरूपता का निराकरण हो जाता है ।

बौद्ध के इस कथन पर न्या० वै० प्रश्न करता है कि यदि सामान्य या जाति की सत्ता न मानी जायेगी तो अनेक घटों में जो 'यह घट है' 'यह घट है' इत्यादि समानाकारक प्रतीति होती है, वह कैसे होगी । इसके उत्तर में बौद्ध का कहना है कि एकाकारक या समानाकारक प्रतीति के लिये किसी भावात्मक (विधिरूप=भाव रूप) धर्म का होना आवश्यक नहीं है अर्थात् एक निषेधात्मक कल्पित पदार्थ ही इस का निमित्त हो जाता है । वह पदार्थ है—अपोह । उसका स्वरूप है अतद्व्यावृत्ति या अन्यव्यावृत्ति (अन्यव्यावृत्त्यात्मनः) । उदाहरणार्थ सभी घटों में जो 'यह घट है' इस प्रकार की समानाकारक प्रतीति होती है उसका निमित्त यह है कि जो घट नहीं हैं —अघट=अतद् (वह नहीं) अर्थात् घट-भिन्न पट आदि हैं, उनसे भिन्नता (व्यावृत्ति, भेद) सभी घटों में है । अतद्व्यावृत्ति (अन्यव्यावृत्ति) अर्थात् अन्यों की अपेक्षा भिन्नता । इसे तद्भिन्नभिन्नत्व या अपोह भी कह सकते हैं । यह अपोह अभावरूप है, तुच्छ है, शशविषाण के समान नितान्त असत् है इसोलिये सामान्यविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता । वस्तुतः जो ज्ञान परमार्थसत् वस्तु (स्वलक्षण) से उत्पन्न होता है वही प्रत्यक्ष कहला सकता है ।

मैवम् इत्यादि में बौद्ध की शङ्का का समाधान किया गया है । सिद्धान्ती का भाव यह है—अनेक घटों में जो समानाकारक (अनुगत) प्रतीति होती है उसका हेतु सामान्य कहलाता है (अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्) । वह सामान्य भावात्मक ही है (सामान्यस्यापि वस्तुभूतत्वात्) क्यों ? प्रथम तो यदि अतद्व्यावृत्ति या अपोह के निमित्त से अनुगत प्रतीति मानी जायेगी तो गौरव होगा । किञ्च, घट (तद्) के ज्ञान के बिना अतद् व्यावृत्ति या घट-भिन्न-भिन्नत्व का ज्ञान भी संभव नहीं है । दूसरे, सभी जनों का अनुभव इसमें प्रमाण है कि घटत्व आदि जो समानाकारक प्रतीति के निमित्त होते हैं, वे भावरूप होते हैं अभावरूप नहीं । घट में घटत्व है, पटत्व नहीं, इस प्रकार की प्रतीति सभी को होती है । बौद्ध ने जो सामान्य की अभावात्मकता को सिद्ध करने के लिये क्षणिकता की युक्ति दी है, वह ठीक नहीं; क्योंकि सभी वस्तुओं को क्षणिक मानने पर संसार का व्यवहार ही नहीं बन सकता । किञ्च, यह सामान्य या जाति सभी व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहती है ऐसा मानने पर इसका अनेक व्यक्तियों में रहना भी बन जाता है । अतः सामान्य भी स्वलक्षण के समान ही भावरूप पदार्थ है । इसलिये समानाकार-विषयक जो सविकल्पक ज्ञान है, वह भी प्रत्यक्ष है ।

टिप्पणी—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान के प्रामाण्य आदि के विषय में भारतीयदर्शन में कई मत उपलब्ध होते हैं; जैसे—

(i) निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, सविकल्पक नहीं—बौद्ध दर्शन ।

(ii) निर्विकल्पक ज्ञान सम्भव ही नहीं—वैयाकरण आदि ।

(iii) निर्विकल्पक ज्ञान सम्भव तो है किन्तु वह प्रमा नहीं—जैन, नव्यन्याय ।

(iv) प्रत्यक्ष प्रमा दो प्रकार की है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक—अन्य दार्शनिक ।

(i) **निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है सविकल्पक नहीं**—बौद्ध के इस मन्तव्य का विशद वर्णन किया जा चुका है । दिङ्नाग का वचन है—**प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्** (प्रमाणसमुच्चय परि० १) धर्मकीर्ति के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण है—**प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्** (न्या० बि०) ।

(ii) **निर्विकल्पक ज्ञान संभव ही नहीं**—इस मत के मानने वालों में भर्तृहरि जैसे वैयाकरण प्रमुख हैं । उनके मत में प्रत्येक ज्ञान शब्द से अनुगत ही होता है । शब्द की अनुगति के बिना कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। (न्या० वा० ता०, १.१.४)

इस प्रकार वे निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते । मध्वाचार्य की वेदान्त-परम्परा ने भी निर्विकल्पक ज्ञान को स्वीकार नहीं किया (न्या० को०) ।

(iii) **निर्विकल्पक ज्ञान सम्भव तो है किन्तु वह प्रमा नहीं**—जैन दर्शन में निर्विकल्पक ज्ञान को 'दर्शन' नाम से कहा गया है तथा इसे प्रत्यक्ष प्रमा के अन्तर्गत नहीं रक्खा गया (द्र० प्रमाणमीमांसा)।

नव्यन्याय में भी निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमा नहीं माना जाता। विश्वनाथ ने निर्विकल्पक ज्ञान के प्रमात्व में दो मतों का उल्लेख किया है। एक के अनुसार भ्रम-भिन्न ज्ञान को प्रमा कहा जाता है—**भ्रमभिन्नं ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा** (न्या० मु०-का० १३४)। इसके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान भी प्रमा है; क्योंकि वह भ्रम-भिन्न है। यह प्राचीन न्याय का मत है। तर्कभाषा में इसी मत का निरूपण किया गया है। न्यायमुक्तावली में उल्लिखित दूसरे मत के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान को न प्रमा कहा जा सकता है, न अप्रमा। कारण, नव्यन्याय के अनुसार प्रमा का लक्षण है—तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा; निर्विकल्पक ज्ञान तो निष्प्रकारक ज्ञान होता है। जैसे कि कहा गया है—

—न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम्।
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्॥ (न्या० मु०, का० १३६)

(iv) **निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है**—न्या० वै०, पूर्वमीमांसा, सांख्य-योग तथा अद्वैत वेदान्त सभी इस मन्तव्य को स्वीकार करते हैं किन्तु इसमें कुछ अवान्तर मतभेद भी हैं। न्याय०-वै० मत का ऊपर विवेचन किया जा चुका है।

सांख्यतत्त्वकौमुदी में निर्विकल्पक ज्ञान को इन्द्रिय द्वारा आलोचित वस्तुमात्र का ग्रहण बतलाया गया है तथा विशेषण-विशेष्य-भाव के विकल्पों से युक्त ज्ञान को सविकल्पक कहा गया है। वहाँ कुमारिलभट्ट का श्लोक उद्धृत करके यह भी स्वीकार किया गया है कि निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों प्रकार की प्रत्यक्ष प्रमा है। संभवतः कुमारिलभट्ट ने ही सर्वप्रथम सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमा मानने का प्रबल समर्थन किया था। उनका कथन है—

अस्ति ह्यालोचितं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम्॥
ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥

यहाँ निर्विकल्पक ज्ञान को 'बालमूकादिविज्ञानसदृशम्' कहा गया है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि जिस प्रकार बालक या गूंगे के द्वारा अपने जाने हुए पदार्थ को शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान के विषय की भी शब्दों द्वारा अभिव्यञ्जना नहीं हो सकती। अन्यथा तो निर्विकल्पक ज्ञान और बालक एवं गूंगे के ज्ञान में भेद है ही। निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तु के स्वरूप मात्र का भान होता है, विशिष्ट वस्तु का ज्ञान नहीं होता किन्तु बालक तथा गूंगे को तो

तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है। तभी उनकी प्रवृत्ति हुआ करती है। और, सविकल्पक ज्ञान ही प्रवृत्ति का निमित होता है, निर्विकल्पक नहीं।

किञ्च, लौकिक प्रत्यक्ष की दृष्टि से ही यह कहना सङ्गत है कि आलोचन ज्ञान या निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है (आलोचितम् इन्द्रियेण, सा० त० का० २७)। वस्तुतः इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि के बिना ही योगियों को भूत, भविष्यत् आदि पदार्थों का निर्विकल्पक साक्षात्कार हुआ करता है, यह माना गया है।

रामानुजाचार्य भी दो प्रकार का प्रत्यक्ष मानते हैं—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। किन्तु उनके मत में दोनों प्रकार का ज्ञान विशिष्ट-विषयक होता है; क्योंकि ऐसा ज्ञान, जो अविशिष्ट विषय का प्रत्यक्ष कराता हो, न तो कहीं देखा गया है, न युक्तियों से सिद्ध होता है (द्र० यतीन्द्रमतदीपिका)।

अद्वैत वेदान्त में भी निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दो प्रकार का प्रत्यक्ष माना गया है। न्याय आदि की अपेक्षा उनके लक्षण भिन्न हैं। तदनुसार ज्ञातृ-ज्ञेय के भेद आदि से युक्त ज्ञान सविकल्पक है—ज्ञातृज्ञेयभेदादिसहितं ज्ञानं सविकल्पकम् (न्या० को०)। ज्ञातृ ज्ञेय आदि के विभाग से रहित ब्रह्मैकात्मता-विषयक, अखण्डाकारक विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध रहित ज्ञान निर्विकल्पक है (न्या० को०)। इस प्रकार केवल परमार्थसत् ब्रह्म ही निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है। निर्विकल्पक ज्ञान सत्य की साक्षात्कारात्मक अनुभूति की चरम सीमा है, जो निर्विकल्पक समाधि में ही प्राप्त होती है। संसार-दशा में तो 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों के द्वारा लक्षणा से उस अखण्ड वस्तु का बोध मात्र कराया जाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष की व्याख्या की गई है।

प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का निरूपण किया गया है— १. प्रत्यक्ष-लक्षण, २. प्रत्यक्ष के प्रकार—सविकल्पक, निर्विकल्पक, ३. प्रत्यक्ष के तीन करण—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, निर्विकल्पक ज्ञान, ४. अवान्तर व्यापार का लक्षण। ५. इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (या षड्विध सन्निकर्ष), ६. सविकल्पक-प्रामाण्य-विषयक मतभेद।

२० अनुमान; प्रमाण-लक्षण

चार्वाक के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय अनुमान प्रमाण को स्वीकार करते हैं। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण की सत्ता स्वीकार करता है। वह अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। उसने विविध युक्तियों से अनुमान के प्रामाण्य का खण्डन किया है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा उन युक्तियों का निराकरण करते हुए अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। दोनों पक्ष की युक्तियों का अनेक ग्रन्थों में विवेचन किया गया है। सर्वदर्शनसंग्रह आदि में उनका संकलित रूप उपलब्ध होता है। संक्षेप में अनुमान को प्रमाण मानने के लिये प्रबल युक्ति यह है कि यदि अनुमान

[अनुमानम्]

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । येन हि अनुमीयते तदनुमानम् । लिङ्गपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । तच्च धूमादिज्ञानमनुमितिं प्रति करणत्वात् । अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः । तत्करणं धूमादिज्ञानम् ।

को प्रमाण न माना जायेगा तो संसार का समस्त व्यवहार नष्ट हो जायेगा। अनुमान के विना तो प्रत्यक्ष का भी प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता अतः प्रत्यक्षाश्रित जो लोकव्यवहार है वह भी भली-भाँति न बन सकेगा। इसलिये अनुमान प्रमाण को स्वीकार करना अनिवार्य है।

न्यायशास्त्र का तो अनुमान मुख्य विषय है । वात्स्यायन ने बतलाया है कि अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष तथा आगम के आश्रित होता है। वह अन्वीक्षा कहलाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा आगम से ईक्षित (प्रदर्शित) अर्थ का अन्वीक्षण करता है। न्यायशास्त्र अन्वीक्षा (=अनुमान) द्वारा ही प्रवृत्त होता है; अर्थात् अर्थों की परीक्षा करता है इसलिये आन्वीक्षिकी कहलाता है। जो अनुमान प्रत्यक्ष तथा आगम के विरुद्ध होता है, वह न्याय नहीं, न्यायाभास होता है (न्या० भा० १.१.१)।

न्यायशास्त्र में प्रमाण-विभाग करते हुए प्रत्यक्ष के पश्चात् अनुमान को रक्खा गया है अतः प्रत्यक्ष का विवेचन करने के पश्चात् अनुमान का निरूपण करते हैं—

लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है। जिससे अनुमिति की जाती हैं, वह अनुमान कहलाता है। लिङ्गपरामर्श से अनुमिति की जाती है अतः लिङ्गपरामर्श अनुमान है। और धूम आदि का ज्ञान ही वह (लिङ्गपरामर्श) है; क्योंकि वह अनुमिति के प्रति करण है। अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति हैं उसका करण धूम आदि का ज्ञान है।

अनुमान शब्द का प्रयोग दो अर्थों में देखा जाता है, एक तो अनुमानप्रमाण के लिये; जैसे 'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' में किया गया है। दूसरे, अनुमान प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान (प्रमा) के लिये; जैसे 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधम् अनुमानम्' (न्या० सू० १·१·५) में किया गया है। वहाँ अनुमान शब्द का अर्थ है अनुमिति अर्थात् अनुमान प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान (द्र०, मितेन लिङ्गेन अर्थस्य पश्चान् मानमनुमानम्, 'न्या० भा० १·१·३; अनुमानमनुमितिः, न्या० वृ० १·१३)। फिर भी मुख्य रूप से अनुमान प्रमाण के लिये ही अनुमान शब्द का प्रयोग किया जाता है, अनुमान से उत्पन्न प्रमा के लिये अनुमिति' शब्द का।

अनुमान प्रमाण के वाचक अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति है, अनुमीयतेऽनेनेति (=जिससे अनुमिति की जाती है)। इसे ही तर्कभाषाकार ने इन शब्दों में दिखलाया है—येन हि अनुमीयते तद् अनुमानम्। 'अनु' उपसर्ग पूर्वक√मा धातु से करण अर्थ में ल्युट् (=अन) प्रत्यय होकर अनुमान शब्द निष्पन्न होता है। 'अनु' का अर्थ है पश्चात्, मान का अर्थ है ज्ञान या प्रमाण। यह प्रमाण प्रत्यक्ष या आगम के पश्चात् प्रवृत्त होता है इसलिये इसका नाम अनुमान है (प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्, न्या० भा०

किं पुनर्लिङ्गं कश्च तस्य परामर्शः ?

उच्यते । व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम् । यथा धूमोऽग्नेर्लिङ्गम् । तथाहि यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः । तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति अतो व्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिङ्गम् ।

१·१·१) यहाँ 'अनुमीयते' का अर्थ है अनुमिति की जाती है । अतः अनुमान प्रमाण का फल अनुमिति है, अनुमिति प्रमा है। वह फल जिस साधन से निष्पन्न होता है वह अनुमान है । लिङ्गपरामर्श से ही अनुमिति होती है अतः लिङ्गपरामर्श को ही अनुमान (=अनुमिति का साधन) कहा गया है। इस लिङ्गपरामर्श की व्याख्या आगे की जायेगी ।

अनुमिति तथा अनुमिति के करण (=अनुमान) का उदाहरण है, जैसे कोई व्यक्ति पर्वत में धूम को देखता है । इस धूम-ज्ञान से उसे यह ज्ञान हो जाता है कि पर्वत में अग्नि है । यहाँ पर्वत में अग्नि का ज्ञान ही अनुमिति कहलाता है। उसका करण है धूमज्ञान, वही लिङ्गपरामर्श है, अनुमान है। अनुमान की प्रक्रिया बतलाते हुए लिङ्गपरामर्श का स्वरूप आगे स्पष्ट किया जा रहा है ।

टिप्पणी--तच्च = और वह, यहाँ 'तद्' (वह) शब्द लिङ्गपरामर्श के लिये आया है किन्तु धूमादिज्ञानम्' की दृष्टि से यहाँ नपुं० लिङ्ग कर दिया गया है; जैसे 'शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य' इत्यादि प्रयोगों में ।

(क) लिङ्गपरामर्श तथा व्याप्ति का निरूपण

लिङ्गपरामर्श को अनुमान कहा गया है । लिङ्गपरामर्श शब्द में आये हुए लिङ्ग शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

फिर लिङ्ग किसे कहा गया है और परामर्श क्या है ?

बतलाते हैं व्याप्ति के बल से अर्थ का बोध कराने वाला लिङ्ग कहलाता है, जैसे धूम अग्नि का लिङ्ग है । क्योंकि—जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकार साहचर्य का नियम व्याप्ति कहलाता है, उस व्याप्ति के निश्चित हो जाने पर ही धूम अग्नि का बोध कराता है इसलिये व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने के कारण धूम अग्नि का लिङ्ग है ।

लिङ्ग शब्द की व्युत्पति है—लीनमर्थं गमयति इति जो लीन (परोक्ष) अर्थ का बोध कराता है। लिङ्ग का लक्षण है—व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम् । व्याप्ति के सामर्थ्य से अर्थ का ज्ञापक लिङ्ग है यहाँ व्याप्ति के सामर्थ्य का अभिप्राय है व्याप्ति का निश्चय (=ग्रहण) तथा स्मरण । फलतः व्याप्ति का ग्रहण तथा स्मरण होने पर जो परोक्ष अर्थ का बोध कराता है वह लिङ्ग कहलाता है । इस लिङ्ग को हेतु भी कहते हैं । यह परोक्ष अर्थ का ज्ञापक हेतु होता है, जैसे पर्वत आदि में धूम परोक्ष अग्नि का ज्ञापक होता है, यह धूम अग्नि का लिङ्ग है । किन्तु धूम तभी अग्नि का बोध कराता है जब हम धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति का निश्चय कर लेते हैं और उसका स्मरण करते हैं ।

तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः । तथहि--प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वह्नि पश्यति । तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति, यत्र धूमस्तत्राग्निरिति ।

जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकार के साहचर्य-नियम को व्याप्ति कहते हैं । साहचर्य का अर्थ है साथ-साथ रहना । धूम और अग्नि साथ-साथ रहते हैं अतः वे दोनों सहचर हैं उनका साथ-साथ रहना साहचर्य है (सहचरयोः भावः साहचर्यम्) । साहचर्य नियम का अर्थ है—नियम से साथ ही रहना, धूम कभी भी अग्नि के विना नहीं रहता, इस प्रकार का नियम । इसे व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध भी कहा जाता है । जो किसी का अविनाभावी है, उसके विना नहीं रहता (विना न भवति) वह व्याप्त कहलाता है । जैसे धूम कहीं भी अग्नि के विना नहीं रहता अतः धूम व्याप्त है, अग्नि उसकी व्यापक है । उन दोनों का नियतसाहचर्य है—व्याप्ति है। इस प्रकार की व्याप्ति के सामर्थ्य से अर्थात् व्याप्ति के निश्चय (ग्रहण) एवं स्मरण द्वारा धूम अग्नि का ज्ञापक होता है अतः वह अग्नि का लिङ्ग कहलाता है । इस प्रकार जो व्याप्ति के बल से किसी अर्थ का ज्ञापक होता है, वह लिङ्ग कहलाता है ।

लिङ्गपरामर्श में 'लिङ्ग' शब्द की व्याख्या करके लिङ्गपरामर्श का स्वरूप बतलाते हैं—

उस (लिङ्ग) का तृतीय ज्ञान परामर्श कहा जाता है । जैसे कि प्रथम तो पाकशाला (=महानस=रसोईघर) आदि में (कोई व्यक्ति) बार-बार धूम को देखता हुआ अग्नि को देखता है । इस बार-बार दर्शन (भूयोदर्शन) में धूम और अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चय करता है कि 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, ।

लिङ्गपरामर्श को अनुमान कहा गया है। व्याप्ति के बल से अर्थ का ज्ञापक लिङ्ग कहलाता है । उस लिङ्ग का तृतीय ज्ञान परामर्श है । यहाँ तृतीय ज्ञान कहने से यह विदित होता है कि अनुमान की प्रक्रिया में लिङ्ग का ज्ञान तीन बार हुआ करता है । उस तीन वार के ज्ञान का विस्तृत विवेचन अभी आगे किया जा रहा है । संक्षेप में पाकशाला आदि में बार-बार धूम तथा अग्नि को साथ-साथ देखकर (भूयः सहचारदर्शन) धूम और अग्नि की व्याप्ति का निश्चय करना यह प्रथम लिङ्ग दर्शन है । फिर पर्वत आदि में धूम को देखना, द्वितीय लिङ्ग दर्शन है । इसके पश्चात् हमें यह स्मरण होता है कि धूम और अग्नि की व्याप्ति है (या धूम अग्नि का व्याप्त अथवा व्याप्य है) । तब पर्वत आदि में ही पुनः तृतीय लिङ्ग ज्ञान होता है कि 'अग्नि से व्याप्त धूम पर्वत में है ।' इस तृतीय लिङ्ग ज्ञान को लिङ्गपरामर्श कहा जाता है । इसका अर्थ है व्याप्ति-स्मरण के साथ लिङ्ग-दर्शन ।

इस तीन बार के लिङ्गज्ञान में प्रथम के द्वारा व्याप्ति का निश्चय होता है । व्याप्ति का अर्थ है दो वस्तुओं का स्वाभाविक सम्बन्ध, जैसे धूम और अग्नि का

यद्यपि यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वमपीति भूयो दर्शनं समान-मवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोर्न स्वाभाविकः सम्बन्धः किन्त्वौपाधिक एव शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधेर्विद्यमानत्वात् ।

तथाहि-श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं किन्तु शाकाद्यन्नपरिणतिभेद एव प्रयोजकः । प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते ।

स्वाभाविक सम्बन्ध है । धूम कभी भी अग्नि के बिना नहीं रहता । न्या०-वै० के अनुसार इस व्याप्ति का ग्रहण (=निश्चय) भूयः सहचारदर्शन (बार-बार साथ देखना) से होता है । जैसे पाकशाला आदि में बार-बार धूम और अग्नि का साहचर्य देखकर इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चय हो जाता है—"जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है (यत्र धूमः तत्राग्निः) ।"

इस पर यह शङ्का हो सकती है कि भूयः सहचार दर्शन से धूम और अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का निश्चय हो जाता है, यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर, 'अयं श्यामो मैत्रीतनयत्वात्' इस प्रकार का अनुमान भी होने लगेगा। इस शङ्का को प्रस्तुत करते हुए समाधान करते हैं—

(ख) उपाधि का निरूपण

यद्यपि जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व (मैत्री का पुत्र होना) है वहाँ-वहाँ श्यामत्व भी है, इस प्रकार का भूयोदर्शन समान रूप से अवगत होता है तथापि मैत्रीतनयत्व तथा श्यामत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं अपितु औपाधिक सम्बन्ध ही है, यहाँ शाक आदि खाद्य (पदार्थ) का परिपाक ही उपाधि रूप में विद्यमान है । क्योंकि (पुत्रों की) श्यामता में मैत्री का पुत्र होना निमित्त नहीं है; किन्तु शाक आदि खाद्य का परिपाक-विशेष ही इसमें निमित्त है । और, जो निमित्त या प्रयोजक है वह उपाधि कहलाता है ।

यहाँ 'यद्यपि···समानम्' इस वाक्य में शङ्का प्रस्तुत की गई है । आशय यह है कि किसी ने मैत्री नामक महिला के ७ पुत्र देखे जो सब ही श्याम वर्ण के थे । जब उसने सुना कि मैत्री के अष्टम पुत्र का जन्म हुआ है तो उसने बिना देखे ही कह दिया 'यह पुत्र श्याम है मैत्री का पुत्र होने से' उसका यह कथन वस्तुतः ठीक नहीं था; क्योंकि यह अष्टम पुत्र गौर वर्ण का था । इससे यह सिद्ध होता है कि भूयः सहचार दर्शन से स्वाभाविक सम्बन्ध (=व्याप्ति) का निश्चय नहीं होता ।

'तथापि···इत्युच्यते' में सिद्धान्त ने यह समाधान किया है कि केवल भूयो-दर्शन से स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चय नहीं होता अपि तु भूयोदर्शन के साथ-साथ वहाँ उपाधि के अभाव का निश्चय भी होना चाहिये । 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्' इसे स्वाभाविक सम्बन्ध मानने में यही आपत्ति है कि यहाँ उपाधि के अभाव का निश्चय नहीं होता । उपाधि कहते हैं प्रयोजक या निमित्त को । यहाँ मैत्री-पुत्रों की श्यामता का वास्तविक निमित्त तो यह है कि मैत्री ने पहिले सभी पुत्रों के गर्भ-काल में शाक (हरे शाक) आदि अधिक खाये, उनसे ही वे श्यामवर्ण के हो गये ।

न च धूमाग्न्योः सम्बन्धे कश्चिदुपाधिरस्ति। अस्ति चेत्, योग्योऽयोग्यो वा। अयोग्यस्य शङ्कितुमशक्यत्वात् योग्यस्य चानुपलभ्यमानत्वात्। यत्रोपाधिरस्ति तत्रोपलभ्यते। यथाग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। हिंसात्वस्य चाधर्मसाधनत्वेन सह सम्बन्धे निषिद्धत्वमुपाधिः। मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः।

मैत्री का पुत्र होना उनकी श्यामता का निमित्त नहीं है। अतः मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व के सम्बन्ध में शाकपाकजन्यत्व उपाधि का ग्रहण हो रहा है–उपाधि के अभाव का निश्चय नहीं। इसलिये यह स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं। यदि इसे स्वाभाविक सम्बन्ध बनाना चाहें तो उपाधि से विशिष्ट हेतु का प्रयोग करना होगा। जैसा कि अमुकः श्यामः शाकपाकजन्यत्वे सति मैत्रीतनयत्वात्।

टिप्पणी—'उपाधि' शब्द का अर्थ है निमित्त, प्रयोजक। इसकी व्युत्पत्ति हैं उप समीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्मम् इत्युपाधिः (न्या० को०), जो अपने धर्म को समीपवर्ती में संक्रान्त कर देता है वह उपाधि है, जिस प्रकार जपाकुसुम समीप स्थित स्फटिक मणि में अपनी लालिमा को संक्रान्त कर देता है तथा स्फटिक लाल है', इस प्रकार के व्यवहार का प्रयोजक होता है, वह जपाकुसुम स्फटिक में भासित होने वाली लालिमा की उपाधि कहलाता है, उसी प्रकार यह उपाधि अपनी व्याप्ति को अन्य में संक्रान्त कर देती है। उदाहरणार्थ व्याप्ति यह है, 'यत्र शाकपाकजन्यत्वं तत्र श्यामत्वम्' किन्तु कह दिया जाता है 'यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र श्यामत्वम्'। वस्तुतः यहाँ 'शाकपाकजन्यत्व' में व्याप्ति है किन्तु उस व्याप्ति का 'मैत्रीतनयत्व' में संक्रमण कर लिया जाता है। अतः यहाँ शाकपाकजन्य उपाधि है। तार्किक शब्दावली में उपाधि का लक्षण है साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधि (द्र०, आगे व्याप्यत्वासिद्धि०)। प्रस्तुत अनुमान में साध्य है श्यामत्व तथा साधन है मैत्रीतनयत्व। यहाँ 'शाकपाकजन्यत्व' उपाधि है। यह उपाधि साध्य की व्यापक है। जहाँ-जहाँ श्यामत्त्व है वहाँ-वहाँ शाकपाकजन्यत्व है। यह उपाधि साधन की अव्यापक है। जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व है वहाँ-वहाँ श्यामत्व नहीं; क्योंकि पक्षभूत मैत्रीपुत्र ही गौरवर्ण है। इस प्रकार शाकपाकजन्यत्व में उपाधि का लक्षण घटित होता है।

उपाधि का स्वरूप बतलाकर यह दिखलाते हैं कि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है:—

धूम और अग्नि के सम्बन्ध में तो कोई उपाधि है ही नहीं। यदि (कहो कि कोई उपाधि) है तो (प्रश्न है कि) वह (प्रत्यक्ष के) योग्य है अथवा अयोग्य। यदि वह (प्रत्यक्ष के) अयोग्य है तब तो उसकी शङ्का भी नहीं की जा सकती। यदि वह (प्रत्यक्ष के) योग्य है तो ठीक नहीं; क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। जहाँ उपाधि होती है, वहाँ उपलब्ध हुआ करती है; जैसे (१) अग्नि के धूम के साथ सम्बन्ध में आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है, (२) हिंसात्व के अधर्मसाधनत्व के साथ सम्बन्ध में निषिद्धत्व उपाधि है तथा (३) मैत्रीतनयत्व के श्यामत्व के साथ सम्बन्ध में शाकादि खाद्य का परिपाकविशेष उपाधि है।

प्रश्न यह है कि धूम तथा अग्नि के सम्बन्ध में भी कोई उपाधि नहीं है, इसका निश्चय कैसे होगा। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है—उपाधि दो प्रकार की होती है प्रत्यक्ष के योग्य तथा प्रत्यक्ष के अयोग्य। यदि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष के अयोग्य कोई उपाधि है तो उसके होने में क्या प्रमाण है? वह तो शशशृङ्ग के समान है अतः विचार का भी विषय नहीं हो सकती। इस प्रकार शङ्का का अवसर ही नहीं है। यदि वह उपाधि प्रत्यक्ष के योग्य है तो जिस प्रकार प्रत्यक्ष-योग्य घट आदि की उपलब्धि होती है उसी प्रकार उस उपाधि की भी उपलब्धि होनी चाहिये। जो योग्य वस्तु विद्यमान होती है वह अवश्य उपलब्ध हुआ करती है। यदि योग्य होते हुए भी वह उपाधि उपलब्ध नहीं होती तो उसके अभाव का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार धूम तथा अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है।

यहाँ योग्य उपाधि के तीन उदाहरण दिये गये हैं—(१) जहाँ अग्नि है वहाँ धूम है (यत्र अग्निः तत्र धूमः) इस प्रकार के अग्नि तथा धूम के सम्बन्ध में 'आर्द्रेन्धन-संयोग' (गीले इन्धन का संयोग) उपाधि है। जहाँ अग्नि के साथ आर्द्रेन्धनसंयोग होता है वहाँ धूम होता है, केवल अग्नि के होने से धूम नहीं होता है। फलतः आर्द्रेन्धन संयोग ही धूम का प्रयोजक है, अग्नि नहीं। प्रयोजक ही उपाधि कहलाता है। इस आर्द्रेन्धनसंयोग में उपाधि का लक्षण भी घटित हो जाता है। **साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः** अर्थात् जो धर्म साध्य का व्यापक होकर साधन का व्यापक नहीं होता वह उपाधि कहलाता है यह उपाधि का लक्षण है। यत्र अग्निः तत्र धूमः, इस व्याप्ति में साध्य धूम है तथा साधन अग्नि है। यहाँ जो आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है, वह साध्य (धूम) का व्यापक है। हम कह सकते हैं। जहाँ-जहाँ अग्नि से धूम होता है, वहाँ-वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग होता है। दूसरी ओर यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग साधन (अग्नि) का व्यापक नहीं है। 'जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग होता है, ऐसी व्याप्ति नहीं है। तपे हुये लोहे के गोले (तप्त अयोगोलक) में अग्नि तो है किन्तु आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं। इस प्रकार आर्द्रेन्धनसंयोग नामक जो धर्म है, वह साध्यव्यापक तथा साधनाव्यापक है। अतः वह उपाधि है।

इसी प्रकार (२) हिंसात्व तथा अधर्मसाधनत्व के सम्बन्ध में निषिद्धत्व उपाधि है। अनुमान का प्रयोग है—याज्ञिकी हिंसा अधर्म का साधन है, हिंसा होने से, अन्य हिंसा के समान (याज्ञिकी हिंसा अधर्मसाधनम् हिंसात्वात् अन्यहिंसावत्)। यहाँ जो-जो हिंसा है वह-वह अधर्म का साधन है, इस प्रकार की व्याप्ति होगी। किन्तु केवल हिंसा होने से ही हिंसा अधर्म का साधन नहीं होती ; किन्तु वह अधर्म का साधन इसलिये होती है, क्योंकि शास्त्र द्वारा उसका निषेध किया गया है। वस्तुतः मीमांसा शास्त्र की दृष्टि से जो शास्त्र द्वारा विहित है वह धर्म का साधन है जो शास्त्र द्वारा निषिद्ध है वह अधर्म का साधन है। क्योंकि याज्ञिकी हिंसा शास्त्रविहित है अतः वह अधर्म क

न चेह धूमस्याग्निसाहचर्ये कश्चिदुपाधिरस्ति। यद्यभविष्यत्तदाऽद्रक्ष्यत, ततो दर्शनाभावान्नास्ति इति तर्कसहकारिणानुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवो- पाध्यभावोऽवधार्यते। तथा च[1] सत्युपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन भूयो- दर्शनजनितसंस्कारसहकृतेन[2] साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरव- धार्यते। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। स्वाभाविक- श्च सम्बन्धो व्याप्तिः।

साधन नहीं है। इस प्रकार निषिद्धत्व अधर्मसाधनत्व का प्रयोजक है, हिंसात्व नहीं। अतः निषिद्धत्व उपाधि है। इसमें उपाधि का लक्षण भी घटित हो जाता है। ऊपर की व्याप्ति में 'अधर्मसाधनत्व' साध्य है तथा 'हिंसात्व' साधन है। जहाँ-जहाँ अधर्म- साधनत्व होता है वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व होता है; अतः निषिद्धत्व साध्य का व्यापक है। किन्तु जहाँ-जहाँ हिंसात्व है वहाँ-वहाँ सर्वत्र ही निषिद्धत्व नहीं होता; क्योंकि याज्ञिकी हिंसा में भी हिंसात्व तो है किन्तु वह निषिद्ध नहीं मानी जाती। इस प्रकार निषिद्धत्व साधन का अव्यापक है। अतः यह उपाधि है।

इसी प्रकार (३) मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व के सम्बन्ध में 'शाकपाकजन्यत्व उपाधि है (द्र०, ऊपर पृ० ८१)

टिप्पणी—यहाँ उपाधि के तीन उदाहरण देने का विशेष अभिप्राय है। सम्भवतः प्रथम उदाहरण लौकिक प्रत्यक्ष से उपलब्ध होने वाली उपाधि का दिया गया है। द्वितीय उदाहरण में उपाधि शास्त्रगम्य है। ये दोनों **निश्चितोपाधि** के उदाहरण हैं। तृतीय उदाहरण में **शङ्कितोपाधि** है। यहाँ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शाकपाकजन्यत्व जो उपाधि है वह मैत्रीतनयत्व (साधन) की अव्यापक है। यह भी सम्भव है कि पक्षभूत मैत्री के पुत्र में भी शाकपाकजन्यत्व हो किन्तु किसी अन्य निमित्त से वहाँ श्यामता ही रही हो। अतः यह शङ्कितोपाधि है (मि०, चि०)।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि जहाँ उपाधि होती है, वहाँ वह उपलब्ध होती है। उपाधि के होने से कोई सम्बन्ध औपाधिक होता है, स्वाभाविक नहीं। अब यह बतलाते हैं कि उपाधि के अभाव का निश्चय होने पर ही भूयः सहचारदर्शन से स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चय होता है।

यहाँ धूम के अग्नि के साथ साहचर्य में कोई उपाधि नहीं है। यदि होती तो दिखलाई देती। क्योंकि दिखलाई नहीं देती इसलिये नहीं है। इस प्रकार के तर्क के साथ (उपाधि) की अनुपलब्धि से प्रत्यक्ष के द्वारा ही उपाधि के अभाव का निश्चय कर लिया जाता है। इस प्रकार (क) उपाधि के अभाव के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से युक्त तथा (ख) भूयोदर्शन से उत्पन्न संस्कार से युक्त साहचर्य के ग्राहक प्रत्यक्ष के द्वारा ही धूम और अग्नि की व्याप्ति निश्चित हो जाती है। इसलिये धूम और अग्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक ही है औपाधिक नहीं। और, स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति कहलाता है।

१. 'च उपा०' इति पाठा०। २. भूयो···कृतेन' इति क्वचिन्नास्ति।

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम् । पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद् द्वितीयम् । ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा 'यत्र धूमस्तत्राग्निरिति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति अस्त्यत्र पर्वते वह्निना व्याप्तो धूम इति । तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम् ।

धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है, इसका निश्चय भी प्रत्यक्ष द्वारा हो जाता है (प्रत्यक्षेण एव उपाध्यभावः अवधार्यते) । जैसा कि आगे बतलाया जायेगा न्या०-वै० के अनुसार अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा ही हो जाता है । किन्तु वहाँ प्रत्यक्ष के दो सहकारी हुआ करते हैं एक तो अनुपलब्धि, दूसरा अनुकूल तर्क । धूम और अग्नि के सम्बन्ध में किसी उपाधि की उपलब्धि नहीं हो रही है. यही अनुपलब्धि है । किञ्च, यदि यहाँ कोई उपलब्धि-योग्य उपाधि होती तो अवश्य उपलब्ध होती, यह अनुकूल तर्क है । इन दोनों से युक्त प्रत्यक्ष द्वारा उपाधि के अभाव का निश्चय हो जाता है (तर्कसहकारिणा अनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेण) ।

तथा 'च' इत्यादि में यह स्पष्ट किया गया है कि **"भूयोदर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धम् अवधारयति"** (पृ० ८०) । इस ऊपर के कथन का अभिप्राय यह है कि धूम तथा अग्नि के साहचर्य ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का निश्चय होता है; किन्तु उस प्रत्यक्ष में दो पूर्वानुभवों के संस्कार अवश्य सहायक होते हैं । (क) एक तो जिस प्रत्यक्ष द्वारा उपाधि के अभाव का निश्चय हो चुकता है उस प्रत्यक्ष अनुभव का संस्कार विद्यमान होता है । (ख) दूसरे, जो बार-बार महानस आदि में धूम और अग्नि का प्रत्यक्ष (भूयोदर्शन) किया है, उसका संस्कार भी विद्यमान होता है । इन दोनों संस्कारों से युक्त जो धूम और अग्नि के साहचर्य का ग्राहक प्रत्यक्ष है उसके द्वारा ही धूम और अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चय होता है ।

इस प्रकार धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है अतः यह औपाधिक सम्बन्ध नहीं, अपितु स्वाभाविक सम्बन्ध है । स्वाभाविक सम्बन्ध को ही साहचर्य नियम या व्याप्ति कहते हैं ।

(ग) अनुमिति में लिङ्गपरामर्श की अनिवार्यता

व्याप्ति ग्रहण का क्रम बतलाकर प्रथम तथा द्वितीय लिङ्गज्ञान का निर्देश करते हुए तृतीय लिङ्गज्ञान (लिङ्गपरामर्श) का स्वरूप बतलाते हैं—

तब इस रीति (न्याय) से प्रत्यक्ष (द्वारा) धूम अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण करते समय पाकशाला (महानस) में जो धूम-ज्ञान होता है वह प्रथम (लिङ्ग-ज्ञान) है । पर्वत आदि पक्ष में जो धूमज्ञान है वह द्वितीय (लिङ्गज्ञान है) । उसके पश्चात् (ततः) पूर्व निश्चित धूम और अग्नि की व्याप्ति का "जहाँ धूम होता है. वहाँ अग्नि होती है", इस प्रकार स्मरण करके उसी पर्वत में फिर धूम का इस प्रकार का परामर्श करता है कि "यहाँ पर्वत पर अग्नि से व्याप्त धूम है ।" वह धूमज्ञान तृतीय (लिङ्गज्ञान) है

१. 'यत्र···रिति' इति क्वचिन्नास्ति ।

एतच्चावश्यमभ्युपेतव्यम् । अन्यथा यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येव स्यात् । इह तु कथमग्निना भवितव्यम् । तस्मादिहापि धूमोऽस्ति, इति ज्ञानमन्वेषितव्यम् । अयमेव लिङ्गपरामर्शः । अनुमितिं प्रति करणत्वाच्चानुमानम् । तस्मात् अस्यत्र पर्वतेऽग्निरित्यनुमितिज्ञानमुत्पद्यते ।

किञ्च, इस तृतीय ज्ञान को अवश्य स्वीकार करना होगा । नहीं तो "जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है", केवल यही (सामान्य ज्ञान) होगा, यहाँ (पर्वत में) तो अग्नि कैसे (सिद्ध) होगी ? इसलिये "यहाँ (पर्वत में) भी (अग्नि से व्याप्त) धूम है", इस प्रकार का ज्ञान अवश्य मानना होगा । यही लिङ्गपरामर्श कहलाता है क्योंकि यह अनुमिति के प्रति करण है, अतः यही अनुमान है । इससे ही "इस पर्वत में अग्नि है" इस प्रकार की अनुमिति (प्रमा) उत्पन्न होती है ।

यहाँ 'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' इस अनुमान के लक्षण का उपसंहार किया गया है । इस लक्षण में लिङ्गपरामर्श का अर्थ है तृतीय लिङ्गज्ञान; जैसा कि ऊपर कहा गया है 'तस्य तृतीयं ज्ञानं लिङ्गपरामर्शः । संक्षेप में यह तृतीय लिङ्गज्ञान इस प्रकार होता है । प्रथमतः उपाध्यभाव के निश्चय के साथ धूम तथा अग्नि के बार-बार सहचारदर्शन से दोनों की व्याप्ति का निश्चय हो जाता है, यह प्रथम लिङ्ग-ज्ञान है । फिर व्याप्ति-निश्चय के पश्चात् पर्वत में धूम का दर्शन होता है, यह द्वितीय लिङ्गज्ञान है । तब व्याप्ति का स्मरण करने के पश्चात् "अग्नि से व्याप्त धूम पर्वत में है" जो इस प्रकार का ज्ञान होता है, वह तृतीय लिङ्गज्ञान (लिङ्गपरा-मर्श) है ।

किन्तु प्रश्न यह है, जैसा न्यायकन्दलीकार श्रीधर ने कहा है (चि०), कि पृथक्‌शः होने वाले लिङ्गदर्शन तथा व्याप्ति-स्मरण से ही अग्नि आदि साध्य का ज्ञान (अनुमिति) हो जाता है, इस तृतीय लिङ्गज्ञान के रूप में विशिष्ट ज्ञान की क्या आवश्यकता है । इसके उत्तर में कहा गया है--एतच्च ···अन्वेषितव्यम् द्र०) अनुवाद) । भाव यह है कि यह तृतीय ज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान न माना जाये और पृथक्-पृथक् व्याप्ति-निश्चय पर्वत में धूम दर्शन (द्वितीय लिङ्गज्ञान) तथा व्याप्तिस्मरण को स्वीकार किया जाये तो इनके द्वारा केवल इस प्रकार का सामान्य ज्ञान ही हुआ करेगा—"जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है ।" अनुमान के द्वारा जो इस प्रकार की अनुमिति अभीष्ट है कि यहाँ पर्वत में अग्नि है", वह न हुआ करेगी । वह अनुमिति तो तभी सम्भव है जब हमें इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान होता है कि "अग्नि का व्याप्त धूम पर्वत में है ।" फलतः अनुमेय (साध्य) की अनियत देश में प्रतीति न हो जाये अपि तु नियत देश में प्रतीति हुआ करे, इसके लिये तृतीय लिङ्गज्ञान को स्वीकार करना चाहिये । यह तृतीय लिङ्गज्ञान ही लिङ्गपरामर्श कह-लाता है । इससे 'यहाँ पर्वत में अग्नि है' इस प्रकार की अनुमिति होती है । अतः यह अनुमिति का करण है और, अनुमिति का करण ही अनुमान कहलाता है । अतः लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है ।

ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तन्नाग्निमनुमापयति ?

सत्यम् । व्याप्तेरगृहीतत्वात् । गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात्

अथ व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालं महानस एवाग्निरनुमीयताम् ।

मैवम् । अग्नेर्दृष्टत्वेन संदेहस्यानुदयात् । सन्दिग्धश्चार्थोऽनुमीयते । यथोक्तं भाष्यकृता 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु संदिग्धे' ।

अथ पर्वतगतमात्रस्य पुंसो यद्धूमज्ञानं, तत् कथं नाग्निमनुमापयति ? अस्ति चात्राग्निसंदेहः । साधकबाधकप्रमाणाभावेन संशयस्य न्यायप्राप्तत्वात् ।

सत्यम् । अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्तिस्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात् । धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो

तृतीय लिङ्गज्ञान (लिङ्गपरामर्श) से ही अनुमिति की उत्पत्ति होती है उसके बिना नहीं यह दिखलाते हुए 'लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है' इस स्थापना को पुष्ट करते है :—

(शङ्का) महानस में जो प्रथम धूमज्ञान होता है वह अग्नि का अनुमान क्यों नहीं करा देता ?

(समाधान) ठीक है, व्याप्ति का ग्रहण न होने से (प्रथम धूमज्ञान अग्नि का अनुमान नहीं करा सकता), क्योंकि व्याप्ति का ग्रहण होने पर ही अनुमिति की उत्पत्ति हुआ करती है ।

(शङ्का) तब व्याप्ति का निश्चय होने के अनन्तर महानस में ही अग्नि का अनुमान हो जाना चाहिये ।

(समाधान) ऐसा भी नहीं है, क्योंकि वहाँ अग्नि का प्रत्यक्ष होने के कारण सन्देह का उदय ही नहीं होता । और, जिसमें सन्देह हो (सन्दिग्ध) उस अर्थ का ही अनुमान हुआ करता है । जैसा कि भाष्यकार (वात्स्यायन) ने कहा है—न तो अज्ञात (अनुपलब्ध) अर्थ में न ही निश्चित अर्थ में अनुमान (न्याय) प्रवृत्त होता है, किन्तु सन्दिग्ध अर्थ में (ही प्रवृत्त होता है) (न्याय० भा० १. १. १.)

(शङ्का) अच्छा तो पर्वत पर पहुँचते ही मनुष्य का जो (व्याप्ति-निश्चय के पश्चात् तथा व्याप्ति-स्मरण से पूर्व का) धूमज्ञान (अर्थात् द्वितीय लिङ्गज्ञान) है वह क्यों अग्नि का अनुमान नहीं कराता ? यहाँ अग्नि का सन्देह भी है, क्योंकि साधक तथा बाधक प्रमाण के न होने से यहाँ संशय होना युक्तियुक्त ही है ।

(समाधान) ठीक है । व्याप्ति का ग्रहण न करने वाले मनुष्य के समान व्याप्ति का ग्रहण करके भूल जाने वाले मनुष्य को भी अनुमिति नहीं होती अतः व्याप्ति का स्मरण भी अनुमिति के प्रति हेतु होता है (फलतः व्याप्ति-स्मरण से पूर्व

---

१. 'सन्देहाभावात्'—इति पाठा० ।

व्याप्तिं स्मरति। यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इति। तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिस्मृतौ 'भूतायां यद्धूमज्ञानं तत् तृतीयं धूमवांश्चायम्' इति। तदेवाग्निमनुमापयति नान्यत्। तदेवानुमानम्। स एव लिङ्ग-परामर्शः। तेन व्यवस्थितमेतद्—लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति।

जो द्वितीय धूमज्ञान है वह अग्नि का अनुमान नहीं करा सकता)। किञ्च' धूमज्ञान से जिसका संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है वह (व्यक्ति) इस प्रकार व्याप्ति का स्मरण करता है—जो धूमवान् होता है वह अग्निमान् होता है, जैसे महानस। इसलिये (तेन) (पर्वत में द्वितीय) धूमज्ञान होने के अनन्तर (व्याप्ति का स्मरण होने पर जो 'यह (पर्वत) भी धूमवान् है' इस प्रकार का धूमज्ञान होता है वह तृतीय लिङ्गज्ञान) है। वही अग्नि की अनुमिति कराता है, अन्य (कोई) नहीं, अतः वही अनुमान है वही लिङ्गपरामर्श है। इस प्रकार (तेन) यह निश्चित है कि लिङ्गपरामर्श ही अनुमान होता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में यह प्रतिपादित किया गया है कि अनुमिति की उत्पत्ति के लिये तृतीय लिङ्गज्ञान अनिवार्य है। इसी सन्दर्भ में अनुमिति-प्रक्रिया के आवश्यक अङ्ग भी यहाँ दिखलाये गये हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—(१) व्याप्ति-ग्रहण, (२) साध्यसन्देह (=पक्षता), (३) व्याप्ति-स्मरण, (४) हेतु की पक्ष में स्थिति (पक्षधर्मता)।

(१) महानस आदि में जो व्याप्ति-ग्रहण से पहिले धूमज्ञान (प्रथम लिङ्गज्ञान) होता है वह अग्नि का अनुमान नहीं करा सकता; क्योंकि उस समय तक व्याप्ति का निश्चय नहीं होता। (२) व्याप्ति के निश्चय के पश्चात् जो महानस में धूमज्ञान होता है, वह भी अग्नि का अनुमान नहीं करा सकता, क्योंकि महानस में अग्नि का सन्देह नहीं है और, अनुमान वहीं हुआ करता है जहाँ साध्य की सत्ता में सन्देह होता है (द्र० न्यायभाष्य का वचन, मूल तथा अनुवाद)। (३) जब कोई व्यक्ति व्याप्ति निश्चय के पश्चात् पर्वत पर पहुँचता है और वह धूम का दर्शन (द्वितीय लिङ्गज्ञान) करता है तब भी उसे अग्नि की अनुमिति नहीं होती। यह ठीक है कि अग्नि की सत्ता का साधक या उसका निषेध करने वाला (बाधक) कोई प्रमाण वहाँ नहीं है, अतः वहाँ साध्य का सन्देह विद्यमान है तथा व्याप्ति का निश्चय भी हो चुका है। फिर भी व्याप्ति का स्मरण न होने के कारण उसे अनुमिति नहीं हुआ करती। कारण, व्याप्ति-स्मरण को भी अनुमिति का निमित्त माना जाता है। क्यों? यदि कोई व्यक्ति व्याप्ति का ग्रहण करने के पश्चात् उसे भूल जाता है। तो उसे अनुमिति नहीं हुआ करती। (४) व्याप्ति-स्मरण के अनन्तर जब पर्वत में इस प्रकार का ज्ञान (तृतीय लिङ्गज्ञान) होता है कि "अग्नि से व्याप्त धूम इस पर्वत में विद्यमान है" तभी अनुमिति की उत्पत्ति होती है यह तृतीय लिङ्गज्ञान ही लिङ्गपरामर्श कहलाता है, यही अनुमान है।

उर्युक्त सभी अङ्गों को दो रूपों में संकलित कर लिया गया है—व्याप्ति

१ 'जातायाम्' इति पाठा०।

तथा पक्षधर्मता । इसी से उत्तरकालीन न्या०-वै० में **'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः'** यह परामर्श का लक्षण किया गया है । यहाँ व्याप्ति' शब्द से व्याप्ति-ग्रहण तथा व्याप्ति-स्मरण दोनों का संग्रह हो जाता है 'पक्षधर्मता' का अर्थ है व्याप्त अर्थात् धूम आदि का पक्ष में होना । जिस स्थल में साध्य का सन्देह होता है वह पक्ष कहलाता है (**सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः**) । पक्ष का भाव पक्षता कहलाती है (**साध्यसंशयरूपा पक्षता**) फलतः पक्षधर्मता में 'पक्षता का भी संग्रह हो जाता है ।

टिप्पणी—(i) **पर्वतगतमात्रस्य**—यहाँ 'मात्र' शब्द व्याप्ति-स्मरण की व्यावृत्ति के लिये दिया गया है । **नानुपलब्धे** (न्या० भा० १.१.१) न्यायभाष्य में पाठ यह है–नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किं तर्हि संशयितेऽर्थे । **तेन व्यवस्थितमेतत्-तेन**=क्योंकि प्रथम तथा द्वितीय लिङ्गज्ञान अनुमिति के करण नहीं हो सकते इस-लिये । **लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति**—जब हम करण का यह लक्षण मानते हैं कि जिसके होने पर अविलम्ब से फलोत्पत्ति हो जाती है वह करण है (**फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्**) तभी लिङ्गपरामर्श को अनुमिति का करण (=अनुमान) कहना सङ्गत है; क्योंकि उसके अनन्तर ही अनुमिति (प्रमा) हो जाया करती है । किन्तु जब **'व्यापार-वत्कारणं करणम्'** यह करण का लक्षण अभीष्ट है तब तो व्याप्तिज्ञान को करण मानना होगा । लिङ्गपरामर्श उसका व्यापार होगा तथा अनुमिति फल (मि०, PIL. p. 190) ।

(ii) नैयायिक का मन्तव्य है कि अनुमान के प्रत्येक स्थल पर परामर्श अनि-वार्यतः हुआ करता है उसे ही अनुमिति का करण मानना चाहिये । यह परामर्श एक विशिष्ट ज्ञान है जो व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान के विशेषणविशेष्य-भाव संसर्ग से उत्पन्न होता है (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः) ।

भाट्टमीमांसक तथा वेदान्ती इस विशिष्ट ज्ञान (परामर्श) को अनुमिति के लिये अनिवार्य नहीं मानते । उनके विचार में अनुमिति के कुछ स्थलों पर अनुमिति से पूर्व परामर्श हो जाता है; किन्तु सर्वत्र ही ऐसा नहीं होता । बहुधा केवल व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मता-ज्ञान के पृथक्-पृथक् होने पर ही अनुमिति हो जाती है । वहाँ व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञान नहीं होता । ऐसे स्थलों पर नैयायिक को भी वैशिष्टय रहित व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान को अनुमिति का कारण मानना होगा । इस प्रकार नैयायिक को दो प्रकार की अनुमिति के सन्दर्भ में दो प्रकार के कार्य-कारण-भाव स्वीकार करने होंगे । अतः लाघव इसी में है कि वैशिष्टय रहित व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान को ही अनुमिति का करण माना जाये परामर्श नामक विशिष्ट ज्ञान को नहीं ।

इसके विपरीत नैयायिक का कथन है कि सर्वत्र (अनुमिति में) लिङ्गपरामर्श को ही करण मानना चाहिये । जहाँ हमें वैशिष्टय रहित व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मता-ज्ञान से ही अनुमिति की उत्पत्ति प्रतीत होती है वहाँ भी मध्य में परामर्श रूप विशिष्ट-ज्ञान अवश्य हुआ करता है । किन्तु हमारा मन अनुमिति पर इतनी त्वरित गति से चला जाता है कि हमें उस मध्य में स्थित परामर्श का अनुभव नही होता (मि०, PIL. p. 194–195) :

२१. अनुमान के भेद

अनुमान के भेद-प्रदर्शन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतः उपलब्ध साहित्य में सर्वप्रथम गौतम के न्यायसूत्र में अनुमान के तीन भेद दृष्टिगोचर होते हैं– **अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च** (न्या० सू० १.१.५)। सांख्यकारिका में भी अनुमान के तीन भेद किये गये हैं—**त्रिविधमनुमानमाख्यातम्** (सां० का० ५)। यद्यपि वहाँ यह स्पष्ट नहीं बतलाया गया कि ईश्वरकृष्ण को अनुमान के कौन से तीन भेद अभिमत रहे तथापि वहीं आगे (सा० का० ७) सामान्यतो दृष्ट-अनुमान का नामतः उल्लेख किया गया है तथा टीकाकारों ने भी वैसी व्याख्या की है उससे यह प्रतीत होता है कि ईश्वरकृष्ण को भी गौतम द्वारा कथित अनुमान के तीन भेद ही अभीष्ट रहे होंगे। इसी प्रकार चरक के सूत्रस्थान (२१.२२) में भी अनुमान के तीन भेद किये गये हैं।

दूसरी ओर अनुमान के दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं **दृष्ट तथा सामान्यतो दृष्ट**। प्रशस्तपाद भाष्य में कहा गया है—**तत्तु द्विविधम् दृष्टं-सामान्यतो दृष्टं च** (पृ० १५६) इसी प्रकार मीमांसा सूत्रों के शाबर भाष्य (१.१.५) में भी यत्किञ्चित् शब्द-भेद से अनुमान के ये दो ही प्रकार दिखलाये गये हैं।

एक अन्य परम्परा के अनुसार अनुमान के दो भेद स्वर्थानुमान तथा परार्थानुमान भी हैं। यद्यपि बौद्धों के उपायहृदयम् (पृ० १३) नामक एक प्राचीन ग्रन्थ में अनुमान के तीन भेद माने गये हैं तथापि बौद्धन्याय के प्रमुख ग्रन्थों में स्वार्थ तथा परार्थ दो भेदों का उल्लेख किया गया है। प्रो० कीथ तथा कतिपय अन्य विद्वानों का विचार है कि सर्वप्रथम दिङ्नाग (५ शती) ने अनुमान के स्वार्थ तथा परार्थ ये दो भेद किये थे (Indian logic and atomism. P. 106–108)। किन्तु दूसरे विद्वानों का मत है इससे पूर्व ही प्रशस्तपाद भाष्य में इन दो भेदों का उल्लेख किया जा चुका था—पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम् (प्रश०)। उसी के आधार पर दिङ्नाग ने इन भेदों का स्पष्टीकरण किया। किञ्च, न्यायसूत्र के अनुशीलन से यह भी प्रतीत होता है कि सम्भवतः गौतम को भी वे दोनों भेद विदित रहे होंगे (मि०, P I L. P. 217)।

इसमें सन्देह नहीं कि दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति ने अनुमान के दो भेदों का विशद विवेचन किया है। किन्तु न्याय-सम्प्रदाय में उनके पश्चात् भी त्रिविध अनुमान की परम्परा प्रचलित रही। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में त्रिविध अनुमान का विवेचन किया है। उन्होंने सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी पहिले अनुमान के दो भेद (वीत तथा अवीत) करके उनके न्यायसूत्रोक्त तीन भेद दिखलाये हैं (सां० त० का० ५) उत्तरवर्ती न्या०-वै० के ग्रन्थों में इस त्रिविध अनुमान का विवेचन छोड़कर प्रायः स्वार्थ तथा परार्थ दो प्रकार के अनुमान का ही निरूपण किया गया है। विशेषकर न्या०-वै० के प्रकरणग्रन्थों में यही अनुमान-भेद स्वीकार किया गया है। इसी

तच्चानुमानं द्विविधम्, स्वार्थं परार्थं चेति। स्वार्थं स्वप्रतिपत्तिहेतुः। तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहां धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। ततोऽत्रापि धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते तस्मादत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते। तत्स्वार्थानुमानम्।

परम्परा का अनुसरण करते हुए तर्कभाषाकार ने दो प्रकार का अनुमान दिखलाया है। उनमें से यहाँ प्रथमतः स्वार्थानुमान का निरूपण करते हैं—

(१) स्वार्थानुमान—

वह अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। अपने ज्ञान (=प्रतिपत्ति) का निमित्त (जो अनुमान है वह) स्वार्थानुमान है। जैसे कि कोई व्यक्ति) स्वयं ही पाकशाला आदि में विशिष्ट (टि०) प्रत्यक्ष से धूम और अग्नि की व्याप्ति का निश्चय करके, पर्वत के समीप जाकर उस (पर्वत) में स्थित अग्नि के विषय में सन्देह करता है। किञ्च, पर्वत में स्थित, मूल से सम्बद्ध (अविच्छिन्नं मूलं यस्याः ताम्) मेघों का स्पर्श करने वाली धूम रेखा को देखता है। तब धूम-दर्शन से उसका (व्याप्तिविषयक) संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है तथा वह "जहाँ धम होता है वहाँ अग्नि होती है" इस व्याप्ति का स्मरण करता है तदनन्तर (ततः) यहाँ (पर्वत में) भी धूम है, इस प्रकार परामर्श करता है (प्रतिपद्यते)। उस (लिङ्ग-परामर्श) से "यहाँ पर्वत में अग्नि भी है" इस प्रकार स्वयं ही समझ लेता है। अतः वह स्वार्थानुमान है।

विशिष्टेन प्रत्यक्षेण—जिस प्रत्यक्ष में उपाधि के अभावज्ञान का संस्कार तथा भूयोदर्शन का संस्कार सहायक होता है ऐसा साहचर्यग्राहक प्रत्यक्ष ही यहाँ विशिष्ट प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षेण व्याप्तिं गृहीत्वा—इसके द्वारा प्रथम लिङ्गज्ञान का स्वरूप दिखलाया गया है। अग्नौ सन्दिहानः—अग्नि के विषय में सन्देह करता हुआ इसके द्वारा सन्देह दिखलाते हुए पक्ष का स्वरूप दिखलाया गया है (सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः)। अविच्छिन्नमूलाम्—जिसका मूल विच्छिन्न (कटा) नहीं है। अर्थात् जो मूल में अग्नि से जुड़ी हुई है, यह धूमलेखा का विशेषण है। अभिप्राय यह है कि यदि कहीं ऊपर ही ऊपर धूमरेखा उड़ती देखी जाती है तो वहाँ उससे अग्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह सम्भव है कि अग्नि वहाँ से कुछ दूर रही हो तथा धूम उड़कर उस स्थान के ऊपर दृष्टिगोचर होने लगा हो। धूमलेखां पश्यन्—इसके द्वारा द्वितीय लिङ्गज्ञान दिखलाया गया है। व्याप्तिं स्मरति—इससे व्याप्ति-स्मरण का उल्लेख किया गया है। धूमोऽस्ति=वह्निव्याप्तो धूमोऽस्ति=वह्निव्याप्यधूमवान् अयम्। तृतीय लिङ्गज्ञान या परामर्श का स्वरूप है।

परार्थानुमान् का निरूपण करते हुए कहा गया है—

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात् यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः, तथाचायं, तस्मात्तथा, इति।

अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पञ्चरूपोपपन्नाल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते तेनैतत् परार्थानुमानम्।

(२) परार्थानुमान

जब कोई स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को उसका बोध कराने के लिये पाँच अवयव वाले अनुमान वाक्य का प्रयोग करता है, वह परार्थानुमान है; जैसे 'यह पर्वत अग्निमान् है' (प्रतिज्ञा); 'धूमवान् होने से' (हेतु); जो जो धूमवान् होता है, वह वह अग्निमान् होता है, जैसे 'पाकशाला' (उदाहरण); उसी प्रकार (अर्थात् वह्निव्याप्य-धूमवान्) यह (पर्वत) भी है' (उपनय); इसीलिये यह (पर्वत) भी वैसा अर्थात् अग्निमान् है' (निगमन)। इस प्रतिज्ञा आदि से युक्त वाक्य के द्वारा प्रतिपादित (पक्षधर्मत्व आदि) पाँच रूपों से युक्त लिङ्ग (हेतु) से दूसरा (व्यक्ति) भी अग्नि को जान लेता है। अतः यह परार्थानुमान है।

टिप्पणी (i) पञ्चावयवम्—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन तथा निगमन–ये पाँच अवयव हैं जिसके। ये अनुमानवाक्य के पाँच अवयव माने जाते हैं यहाँ तर्कभाषा में पाँचों का व्यावहारिक रूप दिखलाया गया है। उपनय तथा निगमन के संक्षिप्त रूप ही यहाँ दिखलाये गये हैं। तथा चायं (उपनय) का स्पष्ट रूप है—'वह्निव्याप्यधूमवांश्चायम्'। इसी प्रकार तस्मात्तथा (निगमन) का स्पष्ट रूप है—'तस्मात् पर्वतोऽग्निमान्'। पञ्चरूपोपपन्नात् लिङ्गात्—पाँचों रूपों से युक्त लिङ्ग से; लिङ्ग के पाँच रूप हैं–१. पक्षद्धर्मत्व, २. सपक्षसत्त्व, ३. विपक्षव्यावृत्ति, ४. अबाधित–विषयत्व, ५. असत्प्रतिपक्षत्व। इनका निरूपण आगे किया जायेगा।

(ii) पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते—न्या०-वै० सम्प्रदाय में जो अनुमानवाक्य के पाँच अवयव माने गये हैं न्याय तथा वैशेषिक के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार उनके नामों में थोड़ा अन्तर है। न्याय सूत्र के अनुसार उनके नाम हैं—प्रतिज्ञा, हेतु; उदाहरण, उपनयन तथा निगमन (प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः, न्या० सू० १.१.३२) वैशेषिक के अनुसार उनके नाम है—प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान तथा प्रत्याम्नाय (अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः, प्रशस्त०)।

इन अवयवों की संख्या के विषय में तार्किकों का विवाद रहा है। वात्स्यायन से पूर्व कोई प्राचीन नैयायिक दश अवयव मानते रहे। वात्स्यायन ने बतलाया है—'दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते जिज्ञासा, संशयः शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनं संशयव्युदास इति; (न्या० भा० १·१·३२)। न्यायभाष्य में यह भी कहा गया है कि ये साधनवाक्य के दस अवयव नहीं होते अपि तु प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव ही होते हैं।

अत्र पर्वतस्याग्निमत्त्वं साध्यं धूमवत्त्वं हेतुः। स चान्वयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेतेण च व्याप्तिमत्त्वात्[1]। तथा हि यत्र तत्र धूमवत्त्वं तत्राग्निमत्त्वं यथा महानसे इत्यन्वयव्याप्तिः। महानसे धूमाग्न्योरन्यसद्भावात्[2]। एवं यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदे, इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः। महाह्रदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य[3] सद्भावदर्शनात्।

अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का भी अवयवों की संख्या के विषय में मतभेद है। माठरवृत्ति (सां का० ५) में प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त इन तीन अवयवों का निर्देश है। भाट्टमीमांसक भी तीन अवयव ही स्वीकार करते हैं (पार्थसारथिमिश्र, न्यायरत्नाकर, श्लो० वा० अनुमान श्लो० ५४)। प्रभाकर के अनुयायी शालिकनाथ ने भी तीन अवयव माने हैं (प्रकरणपञ्चिका)। किन्हीं के अनुसार हेतु, उदाहरण तथा उपनय—ये तीन अवयव हैं (न्या० को०)। न्यायकोश में बौद्धों के मतानुसार उदाहरण तथा उपनय—ये दो अवयव बतलाये गये हैं (न्या० को० पृ० ८९)। सामान्यतः बौद्धन्याय में हेतु तथा दृष्टान्त दो अवयव माने जाते रहे (न्या० बि० ३·१२२)। धर्मकीर्ति ने हेतु के अन्तर्गत ही दृष्टान्त को भी मानकर केवल हेतु को ही एक अवयव माना है (न्या० बि०, ३·१२२)। जैन आचार्य अपनी अनेकान्तवादी दृष्टि के अनुसार विषय-भेद से अनुमानवाक्य के अवयवों की संख्या भी भिन्न-भिन्न बतलाते हैं।

२२. तीन प्रकार के हेतु (अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी);

(१) अन्वय-व्यतिरेकी हेतु

ऊपर धूम को अग्नि का लिङ्ग या हेतु कहा गया है। यह हेतु तीन प्रकार का होता है—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी। 'पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यादि अनुमान में धूमवत्त्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी है, यह दिखलाते हैं—

यहाँ (पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्) पर्वत का अग्मिान् होना (=अग्निमत्त्व =अग्नि) साध्य है, धूमवान् होना (धूमवत्त्व=धूम) हेतु है। और वह हेतु अन्वय तथा व्यतिरेक (दोनों) से व्याप्तियुक्त होने के कारण अन्वयव्यतिरेकी है। जसे कि जहाँ-जहाँ धूमवत्त्व (=धूम) होता है, वहाँ-वहाँ अग्निमत्त्व (=अग्नि) होता है, जैसे महानस में; यह अन्वयव्याप्ति है। क्योंकि महानस में धूम तथा अग्नि दोनों का सद्भाव है। इसी प्रकार जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे जलाशय में, यह व्यतिरेक व्याप्ति है; क्योंकि जलाशय में धूम तथा अग्नि दोनों के अभाव (व्यतिरेक) का होना देखा जाता है।

हेतु के जो अन्वयव्यतिरेकी इत्यादि तीन भेद हैं उनका आधार दो प्रकार की व्याप्ति है—अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति। जहाँ दोनों प्रकार की व्याप्ति बन सकती है वह हेतु अन्वय-व्यतिरेकी कहलाता है। अथवा कहिये, जिस हेतु के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक से व्याप्ति (साहचर्यनियम=अविनाभाव) का निश्चय किया जाता है वह अन्वय व्यतिरेकी हेतु होता है (अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्त्वात्)। 'पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्' यहाँ अग्निमत्त्व=अग्नि साध्य है, धूमवत्त्व=धूम

१. 'व्याप्तेः' इति पाठा०। २. 'सद्भावदर्शनात्' इति पाठा०।
३. 'सद्भाव्' इति क्वचिन्नास्ति।

व्यतिरेकव्याप्तेस्त्वयं क्रमः। अन्वयव्याप्तौ यद् व्याप्यं तदभावोऽत्र-व्यापकः। यच्च व्यापकं तदभावोऽत्र व्याप्य इति। तदुक्तम्—

साधन या हेतु है। यह हेतु अन्वय-व्यतिरेकी है; क्योंकि इसमें दोनों प्रकार की व्याप्ति है। अन्वय का अर्थ है—तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्=एक के होने पर दूसरे का होना जहाँ हेतु (साधन) तथा साध्य की व्याप्ति दिखलाई जाती है; अर्थात् यह दिखलाया जाता है कि साधन के होने पर साध्य की सत्ता होती है, वह अन्वयव्याप्ति है। इसमें साधन व्याप्त होता है तथा साध्य व्यापक होता है। व्यापक का अर्थ है अधिक देश में रहने वाला (अधिकदेशवृत्तित्वं व्यापकत्वम्) और व्याप्य का अर्थ है न्यून देश में रहने वाला (न्यूनदेशवृत्तित्वं व्याप्यत्वम्)। गणित के अङ्कों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि व्याप्य सौ स्थानों पर है तो व्यापक सौ से अधिक स्थानों पर होता है। व्याप्य तथा व्यापक के इस आपेक्षिक सम्बन्ध को ऐसे दो छोटे-बड़े वृत्तों द्वारा दिखलाया जा सकता है जिनमें से एक-दूसरे के भीतर होता है, जैसे—

धूम और अग्नि की व्याप्ति में साधन या व्याप्य है धूम तथा साध्य या व्यापक है अग्नि। यहाँ जो अग्नि (व्यापक) है वह धूम (व्याप्य) की अपेक्षा अधिक देश में रहता है, क्योंकि जहाँ धूम होता है वहाँ तो अग्नि होती ही है, उसके अतिरिक्त तप्त अयोगोलक (लोहे का गोला) में भी अग्नि विद्यमान होती है; किन्तु वहाँ धूम नहीं होता। इस प्रकार धूम तथा अग्नि का व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध है, इन दोनों की अन्वयव्याप्ति है। दो भाव पदार्थों की व्याप्ति ही अन्वय-व्याप्ति कहलाती है। इस अन्वयव्याप्ति का स्वरूप 'यत्र तत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वं यथा महानसे' इस वाक्य द्वारा दिखलाया गया है।

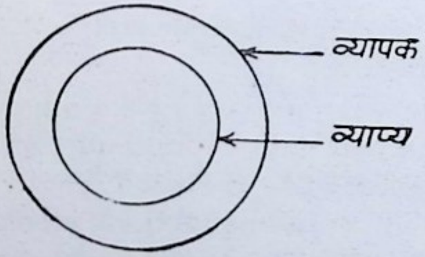

धूम तथा अग्नि में व्यतिरेकव्याप्ति भी है। व्यतिरेक का अर्थ है अभाव अतः एक के न होने पर दूसरे का न होना (तदसत्त्वे तदसत्त्वम्), साध्य के अभाव में साधन का अभाव ही व्यतिरेक व्याप्ति है। इसका स्वरूप है 'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति; जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ धूम का अभाव है। व्यतिरेक व्याप्ति के प्रयोग की रीति अन्वय व्याप्ति से भिन्न है अतः ग्रन्थकार व्यतिरेक व्याप्ति के प्रयोग की रीति बतलाते हैं।

व्यतिरेक व्याप्ति (के प्रयोग) का तो यह क्रम है। अन्वय व्याप्ति में जो व्याप्य होता है, उसका अभाव यहां (व्यतिरेक व्याप्ति में) व्यापक होता है और (अन्वय व्याप्ति में) जो व्यापक होता है, उसका अभाव यहां (व्यतिरेक व्याप्ति में) व्याप्त होता है। जैसा कि कहा गया है (कुमारिलभट्ट, श्लो० वा० अनु० १२१-१२३)।

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते ।
तयोरभावयोरतस्माद् विपरीतः प्रतीयते ॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते ।
[1]तदभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः ॥
व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम् ।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः ॥

जैसे दो भाव पदार्थों का व्याप्य-व्यापक-भाव माना जाता है उनके अभावों का उससे विपरीत (व्याप्य-व्यापक-भाव) माना जाता है ।

अन्वय व्याप्ति में साधन (धूम आदि) व्याप्य माना जाता है तथा साध्य (अग्नि आदि) व्यापक । व्यतिरेक व्याप्ति में (अन्यथा = अन्य प्रकार से) उस (साध्य) का अभाव व्याप्य होता है तथा साधन का अभाव (साधनात्ययः) व्यापक होता है ।

(अनुमान के प्रयोग में) पहिले व्याप्य का कथन तथा उसके पश्चात् व्यापक का कथन करना चाहिये । इस प्रकार परीक्षा की गई व्याप्ति ठीक प्रकार से स्पष्ट होती है ।

दो भाव पदार्थों के समान ही उनके अभावों की भी व्याप्ति मानी जाती है । किन्तु वहाँ व्याप्य तथा व्यापक का क्रम उलट जाता है । जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है कि अन्वय व्याप्ति में साधन व्याप्य होता है, साध्य व्यापक होता है, जैसे धूम और अग्नि की व्याप्ति में धूम (साधन) व्याप्य है, अग्नि (साध्य) व्यापक है । व्यतिरेक व्याप्ति में इसके विपरीत होता है । वहाँ साध्य का अभाव (तदभावः = साध्याभावः) व्याप्य होता है और साधन का अभाव (साधनात्ययः = साधनाभावः) व्यापक होता है । यही बात यहाँ पहिली दो कारिकाओं में स्पष्ट की गई है । व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण है—'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति ।' इसमें अन्वय व्याप्ति का क्रम उलट गया है । वहाँ धूम साधन है, अग्नि साध्य है । किन्तु इस व्यतिरेक व्याप्ति में—

अग्नि का अभाव (अग्निर्नास्ति) = साध्यभाव—व्याप्य है ।
धूम का अभाव (धूमोऽपि नास्ति) = साधनाभाव—व्यापक है ।

व्याप्ति-प्रदर्शन में व्याप्य तथा व्यापक को रखने का भी एक क्रम होता है । यहाँ व्याप्य को पहले रक्खा जाता है व्यापक को उसके पश्चात्; जैसे अन्वय व्याप्ति में यत्र धूमः (व्याप्य) तत्राग्निः (व्यापक), यह क्रम होता है । व्यतिरेक व्याप्ति में यत्राग्निर्नास्ति (व्याप्य) तत्र धमोऽपि नास्ति (व्यापक), यह क्रम होता है । इन तीनों कारिकाओं में बतलाये गये प्रकार से यदि अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति का प्रदर्शन किया जाता है तो वह भली-भांति (तत्त्वतः) स्पष्ट हो जाता है ।

उपर्युक्त प्रकार से धूम हेतु में अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति दोनों हैं,

१ 'साध्या०' इति पाठा० ।

तदेवं धूमवत्त्वे हेतावन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिरस्ति। यत्तु वाक्ये केवलमन्वयव्याप्तेरेव प्रदर्शनं तदेकेनापि चरितार्थत्वात् तत्राप्यन्वयस्यावक्रत्वात्[1] प्रदर्शनम्। ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्। न तु व्यतिरेकव्याप्तेरभावात्।

तदेवं धूमवत्त्वं हेतुरन्वयव्यतिरेकी। एवमन्येऽप्यनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणो द्रष्टव्याः। [2]यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवत्। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्। यत्रानित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावो यथा गगने।

अतः यह अन्वय-व्यतिरेकी हेतु है, यह बतलाते हुए प्रस्तुत सन्दर्भ का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार धूमवत्त्व (= धूम) हेतु में अन्वय तथा व्यतिरेक (दोनों प्रकार) से व्याप्ति है। (अनुमान—) वाक्य में जो केवल अन्वय व्याप्ति का ही प्रदर्शन किया गया है वह तो इसलिये कि एक से ही निर्वाह हो जाता है। उन (दोनों) में भी सरल (अवक्र) होने के कारण अन्वय व्याप्ति का ही प्रदर्शन किया जाना है; क्योंकि सरल मार्ग से ही सिद्ध हो जाने वाले प्रयोजन (अर्थ) को वक्र (मार्ग) से सिद्ध करना उचित नहीं है। ऐसा नहीं कि यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति का अभाव ही है। इस प्रकार धूमवत्त्व हेतु अन्वय-व्यतिरेकी है।

इसी प्रकार अनित्यत्व आदि के साध्य होने पर जो कृतकत्व आदि अन्य हेतु हैं उन्हें भी अन्वय-व्यतिरेकी जानना चाहिये। जैसे 'शब्द अनित्य है, कृतक (कार्य) होने से, घट के समान।' जहाँ कृतकत्व होता है, वहाँ अनित्यत्व भी होता है (अन्वय) जहाँ अनित्यत्व का अभाव होता है, वहाँ कृतकत्व का अभाव होता है, जैसे आकाश में (व्यतिरेक)।

ऊपर दिखलाया गया है कि धूमवत्त्व हेतु में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति है। इस पर प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो जो ऊपर "पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसः" इत्यादि अनुमान का प्रयोग दिखलाया गया है, उसमें अन्वय व्याप्ति ही क्यों दिखलाई गई है, व्यतिरेक व्याप्ति भी क्यों नहीं दिखलाई गई? इसका उत्तर है—एकेनाऽपि चरितार्थत्वात् क्योंकि एक व्याप्ति से ही प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है, काम चल जाता है अतः केवल अन्वय व्याप्ति ही दिखलाई है। किन्तु अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि एक ही से काम चल जाता है तो व्यतिरेक व्याप्ति ही दिखला देते; अन्वय व्याप्ति ही क्यों दिखलाई है। उसके उत्तर में कहा गया है तत्रापि····· योगात्; अर्थात् अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति में अन्वय व्याप्ति का प्रयोग सरल है अतः उसे ही यहाँ दिखलाया गया है। यही युक्तिसङ्गत भी है। कारण, यदि कोई प्रयोजन

---

१. 'अन्वयस्यावश्यकत्वात्' इति पाठा०।
२. 'यथा······गगने' इति क्वचिन्नास्ति।

कश्चिद्धेतुः केवलव्यतिरेकी। तद्यथा, सात्मकत्वे साध्ये प्राणादिमत्त्वं हेतुः। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्। यत् सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमन्न भवति, यथा घटः। न चेदं जीवच्छरीरं तथा तस्मान्न तथेति। अत्र हि जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वं साध्यं, प्राणादिमत्त्वं हेतुः। स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्याप्तेरभावात्। तथाहि यत् प्राणा-

---

सुगम मार्ग से सिद्ध हो सकता है तो उसे टेढ़े मार्ग से सिद्ध करना युक्तियुक्त नहीं माना जाता। इस प्रकार धूमवत्त्व हेतु में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति है अतः अन्वयव्यतिरेकी हेतु है।

इस हेतु के समान वे सभी हेतु अन्वयव्यतिरेकी होते हैं, जहाँ अन्वय तथा व्यतिरेकी दोनों प्रकार की व्याप्ति हुआ करती है उदाहरणार्थ 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्' (=शब्द अनित्य है, कृतक होने से, घट के समान)। यहाँ शब्द में अनित्यता की सिद्धि करनी है अतः अनित्यत्व साध्य है। इसकी सिद्धि के लिये हेतु दिया गया है 'कृतकत्व' अर्थात् कार्यत्व। यह 'कृतकत्व' अन्वयव्यतिरेकी हेतु है इसमें अन्वय व्याप्ति इस प्रकार है—'यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्'; जो भी कार्य पदार्थ होते हैं, वे अनित्य होते हैं। घट आदि इसके उदाहरण हैं। घट आदि जो कार्य पदार्थ हैं, कारणों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, वे सभी अनित्य देखे जाते हैं। इस अन्वय व्याप्ति में साधन (व्याप्य) है कृतकत्व और साध्य (व्यापक) है अनित्यत्व।

व्यतिरेक व्याप्ति में इसके विपरीत होगा। वहाँ साध्याभाव=अनित्यत्वाभाव ही साधन (व्याप्य) होगा तथा साधनाभाव=कृतकत्वाभाव ही साध्य (व्यापक) होगा। व्याप्ति-प्रदर्शन में व्याप्य को पहले रखना होता है तथा व्यापक को उसके पश्चात् अतः यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति है—यत्र अनित्यत्वाभावः तत्र कृतकत्वाभावः। इसका उदाहरण है—गगन (आकाश)। अनित्यत्वाभाव का अर्थ है नित्यत्व (द्वौ नञौ प्रकृतार्थं बोधयतः)। अतः इस व्याप्ति का अर्थ है तो नित्य पदार्थ हैं वे कृतक (=कारणजन्य) नहीं होते, जैसे आकाश नित्य है वह कारणों से उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार अनित्यत्व की सिद्धि के लिये दिया गया कृतकत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी है।

(२) केवलव्यतिरेकी हेतु

कोई हेतु केवलव्यतिरेकी होता है जैसे कि सात्मकत्व (=आत्मा से युक्त होना) के साध्य होने पर प्राणादिमत्त्व (प्राण आदि से युक्त होना) हेतु है। (अनुमान प्रयोग है) जैसे जीवित शरीर सात्मक है (प्रतिज्ञा); क्योंकि वह प्राण आदि से युक्त है (हेतु); जो सात्मक नहीं होता वह प्राण आदि से युक्त नहीं होता; जैसे घट (उदाहरण); और यह जीवित शरीर वैसा (अर्थात् प्राणादिमत्त्व के अभाव वाला नहीं है (उपनय); इसलिये यह वैसा (अर्थात् सात्मकत्व के अभाव वाला) भी नहीं है (निगमन)। यहाँ जीवित शरीर का सात्मक होना साध्य है, उसका प्राणादिमान् होना हेतु है। वह हेतु केवलव्यतिरेकी है; क्योंकि यहाँ अन्वय व्याप्ति का अभाव है। जैसे

दिमत् तत् सात्मकं यथा अमुक इति दृष्टान्तो नास्ति। जीवच्छरीरं सर्वं पक्ष एव।

कि 'जो प्राणादिमान् है, वह सात्मक है, यथा अमुक, इस प्रकार का दृष्टान्त नहीं है। सब जीवित शरीर पक्ष (के अन्तर्गत) ही हैं।

जिस हेतु के साथ केवल व्यतिरेक व्याप्ति होती है, अन्वय व्याप्ति नहीं होती, वह हेतु केवल व्यतिरेकी कहलाता है। इसका उदाहरण है, जीवच्छरीरं सात्मकम् इत्यादि। जो कोई (चार्वाक आदि) देह से अतिरिक्त आत्मा को नहीं मानता उसके प्रति आत्मा की सिद्धि करने के लिये यह अनुमान प्रस्तुत किया गया है। इसमें 'जीवत् शरीरम्' पक्ष है, उसमें सात्मकत्व की सिद्धि करनी है। यहाँ जीवत् (= जीवित) विशेषण इसलिये दिया गया है कि मृत शरीर में न प्राणादिमत्त्व होता है न ही सात्मकत्व। यहाँ 'सात्मकत्व' साध्य है। 'सात्मकत्व' का अर्थ है आत्मा से युक्त होना। फलतः 'जीवित शरीर में आत्मा होती है' यह सिद्ध करना है। 'प्राणादिमत्त्व' हेतु है। प्राणादिमत्त्व अर्थात् प्राण आदि से युक्त होना। यहां आदि शब्द से अपान, निमेष, उन्मेष, मनोगति आदि लिये जाते हैं। इस प्रकार न्या०-वै० की चार्वाक के प्रति स्थापना यह है कि जीवित शरीरों में आत्मा होती है; क्योंकि इनमें प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष आदि देखे जाते हैं। इसके लिये व्यतिरेक व्याप्ति दी गई है, जिसे ग्रन्थ में इस प्रकार दिखलाया गया है 'यत् सात्मकं नास्ति तत् प्राणादिमन्न भवति यथा घटः (=यत्र सात्मकत्वाभावः, तत्र प्राणादिमत्त्वाभावः) यहाँ घट आदि उदाहरण हैं। घट आदि में सात्मकत्व (साध्य) का अभाव होने पर प्राणादिमत्त्व (साधन) का अभाव देखा जाता है अतः वह व्यतिरेकी उदाहरण है।

प्राणादिमत्त्व हेतु की सात्मकत्व के साथ अन्वय व्याप्ति नहीं दिखलाई जा सकती। उस अन्वयव्याप्ति का स्वरूप होगा 'यत्र प्राणादिमत्त्वं तत्र सात्मकत्वम्' (जहाँ प्राणादिमत्त्व है, वहाँ सात्मकत्व है)। यह व्याप्ति तभी निश्चित की जा सकेगी जब इसका कोई उदाहरण होगा। वह उदाहरण मनुष्य, पशु पक्षी आदि कोई जीवित शरीर ही हो सकता है; किन्तु वह होता नहीं। क्योंकि? अन्वय व्याप्ति में उदाहरण वह हुआ करता है जहाँ साध्य का होना निश्चित होता है, जैसे धूम से अग्नि का अनुमान करने में महानस अन्वयी उदाहरण है। वह प्रकृत में उदाहरण ऐसा होना चाहिये जहाँ प्राणादिमत्त्व के होने से सात्मकत्व होता हो। वह उदाहरण मिलता नहीं। क्यों? पूर्वपक्षी (चार्वाक) के मत में सभी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के जीवित शरीर प्राणादिमान् होते हुए भी सात्मक नहीं होते। अतः उन सभी में साध्य (सात्मकत्व) का सन्देह है और वे सभी पक्ष (सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः) के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार यहाँ अन्वयव्याप्ति नहीं बनती। केवल व्यतिरेकव्याप्ति ही बनती है अतः यह केवलव्यतिरेकी हेतु है।

लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः। यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम्। विवादपदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यं, गन्धवत्त्वात्। यन्न पृथिवीति व्यवह्रियते तन्न गन्धवत् यथापः।

प्रमाणलक्षणं वा। यथा प्रमाकरणत्वम्। तथाहि, प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात् यत्प्रमाणमिति न व्यवह्रियते तन्न प्रमाकरणं यथा प्रत्यक्षाभासादि। न पुनस्तथेदं, तस्मान्न तथेति। न पुनरत्र यत्प्रमाकरणं तत्प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं यथाऽमुक इत्यन्वयदृष्टान्तोऽस्ति, प्रमाणमात्रस्य पक्षीकृतत्वात्।

केवलव्यतिरेकी हेतु के सन्दर्भ में दिखलाते हैं कि सभी लक्षण केवलव्यतिरेकी हेतु होते हैं—

लक्षण भी केवलव्यतिरेकी हेतु होता है जैसे पृथिवी का लक्षण है गन्धवती होना (गन्धवत्त्व)। (उसका हेतु के रूप में प्रयोग होगा) विवादास्पद (वस्तु) को 'पृथिवी ऐसा (कहकर) व्यवहार करना चाहिये; क्योंकि वह गन्ध वाली है। जहाँ 'पृथिवी' इस प्रकार का व्यवहार नहीं किया जाता वह (वस्तु) गन्ध वाली नहीं होती जैसे जल।

अथवा जैसे प्रमाण का लक्षण है प्रमाकरणत्व। जैसे कि प्रत्यक्ष आदि में यह प्रमाण है' इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये; क्योंकि ये प्रमा के करण है। जहाँ 'यह प्रमाण है' इस प्रकार का व्यवहार नहीं किया जाता, वह प्रमाण का करण नहीं होता; जैसे प्रत्यक्षाभास आदि। किन्तु यह वैसा (=जहाँ यह प्रमाण है, इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता) नहीं है, इसलिये यह वैसा (=प्रमाकरणत्व के अभाव वाला) भी नहीं है। किन्तु यहाँ पर जो प्रमाकरण है उसमें यह प्रमाण है इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, जैसे अमुक,' इस प्रकार का अन्वय दृष्टान्त नहीं है; क्योंकि प्रमाण मात्र को ही पक्ष बना लिया गया है।

ऊपर कहा गया है कि असाधारण धर्म लक्षण कहलाता है। तर्कभाषा की शब्दावली में लक्ष्य तथा लक्षण को साध्य एवं साधन के रूप में रक्खा जा सकता है इसलिये लक्षण भी एक प्रकार का हेतु होता है। यह लक्षण केवलव्यतिरेकी हेतु ही हो सकता है। कारण, सभी लक्ष्य पदार्थ पक्ष के अन्तर्गत आ जाते हैं और कोई भी ऐसा पदार्थ शेष नहीं रहता, जहाँ अन्वय व्याप्ति का उदाहरण दिखलाया जा सके। उदाहरणार्थ पृथिवी का लक्षण है 'गन्धवती पृथिवी' (—गन्धवत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम्)। इसका अनुमान का प्रयोग होगा 'विवादपदं······यथापः"। यहाँ सभी पार्थिव पदार्थ विवदास्पद हैं—सभी में 'पृथिवी है' इस प्रकार का व्यवहार साध्य है अथवा सर्वत्र यह सिद्ध करना है कि इन्हें पृथिवी नाम से कहना चाहिये। फलतः पार्थिव परमाणु से लेकर भूमण्डल पर्यन्त सभी पक्ष के अन्यर्गत आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसा कोई पदार्थ नहीं मिलता जहाँ यह दिखलाया जा सके कि जैसे अमुक पदार्थ में

अत्र च व्यवहारः साध्यो न तु प्रमाणत्वं तस्य प्रमाकरणत्वाद्धेतोरभेदेन साध्याभेददोषप्रसङ्गात् । तदेवं केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः ।

गन्धवत्त्व होने के कारण 'पृथिवी' इस शब्द का व्यवहार होता है (यत्र-यत्र गन्धवत्त्वं तत्र-तत्र पृथिवीति व्यवहारः, यथाऽमुकः) । इस प्रकार यहाँ अन्वय व्याप्ति नहीं बनती और यह केवलव्यतिरेकी हेतु है ।

दूसरा उदाहरण है प्रमाण का लक्षण । प्रमाण का लक्षण है—प्रमाकरणत्व । इसका अनुमान प्रयोग 'प्रत्यक्षादिकं—तथेति' ग्रन्थ में दिखलाया गया है । यहाँ अन्वय व्याप्ति का रूप होता 'यत् प्रमाकरणं तत् प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं यथाऽमुकः' । किन्तु इस अन्वय व्याप्ति का कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं मिल सकता, जहाँ यह दिखलाया जा सके कि यहाँ प्रमाकरणत्व हेतु के होने से प्रमाण शब्द का व्यवहार हुआ करता है । क्यों ? प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में से ही कोई इसका दृष्टान्त हो सकता है किन्तु वे तो सभी पक्ष के अन्तर्गत हैं । अतः यहाँ अन्वय व्याप्ति नहीं बन सकती और यह केवलव्यतिरेकी हेतु है ।

टिप्पणी—लक्षणमपि—चिन्नंभट्ट का कथन है कि वरदराज ने 'तार्किकरक्षा, नामक ग्रन्थ में लक्षण को व्यतिरेकी हेतु बतलाया है । उसी का यहाँ अनुसरण किया गया है ।

अभी बतलाया गया है कि लक्षण केवलव्यतिरेकी हेतु होता है । इस विषय में दो उदाहरण दिये गये हैं एक पृथिवी के लक्षण का, दूसरा प्रमाण के लक्षण का । यहाँ दोनों के अनुमान-प्रयोगों में 'विवदास्पदं पृथिवीति व्यवहतव्यम्, प्रत्यक्षदिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम् ऐसा कहा गया है । इस पर प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार 'पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यादि में कहा जाता है उसी प्रकार यहाँ भी 'प्रत्यक्षादिकं प्रमाणं प्रमाकरणत्वात् (प्रत्यक्ष' आदि प्रमाण हैं, प्रमा का कारण होने से) ऐसा कहना चाहिये था । इसके उत्तर में कहते हैं—

यहाँ व्यवहार साध्य है, प्रमाणत्व नहीं; क्योंकि उस (प्रमाणत्व) का प्रमाकरणत्व रूप हेतु से अभेद होने के कारण साध्याभेद दोष होने लगेगा । इस प्रकार केवल व्यतिरेकी हेतु दिखला दिये ।

अभिप्राय यह है कि 'प्रत्यक्षादि प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात्' इत्यादि लक्षणविषयक अनुमान-प्रयोगों में 'पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यादि अनुमान-प्रयोगों से कुछ अन्तर है । 'पर्वतोऽग्निमान् इत्यादि में तो पर्वत में अग्नि की सत्ता सिद्ध करनी होती है । वहाँ अग्नि साध्य है । किन्तु 'प्रत्यक्षादि प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम्' में प्रमाणत्व साध्य नहीं है । वहाँ तो 'यह प्रमाण है इस प्रकार का व्यवहार सिद्ध करना है; अर्थात् यह सिद्ध करना है कि प्रत्यक्ष आदि को प्रमाण शब्द से कहना चाहिये । यदि वहाँ प्रमाणत्व को साध्य माना जाये तो साध्य तथा हेतु दोनों में कोई भेद न रहेगा, दोनों एक ही हो जायेंगे । कैसे ? वहाँ साध्य होगा प्रमाणत्व

कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी । यथा 'शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् यत्प्रमेयं तदभिधेयं यथा घटः । तथा चायं तस्मात्तथेति । अत्र शब्दस्याभिधेयत्वं साध्यं प्रमेयत्वं हेतुः । स च केवलान्वय्येव । यदभिधेयं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति यथामुक इति व्यतिरेकदृष्टान्ताभावात् । सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्त स च प्रमेयश्चाभिधेयश्चेति ।

और प्रमाणत्व का अर्थ है प्रमाकरणत्व । अथ च, यहां हेतु भी प्रमाकरणत्व ही है । तब अनुमान-वाक्य का अर्थ होगा 'प्रत्यक्षादि प्रमाकरणं (=प्रमाणम्) प्रमाकरणत्वात्' इस प्रकार साध्य तथा हेतु का अभेद होगा । किन्तु यह ठीक नहीं । साध्य तो वह होता है, जो असिद्ध है, जिसे अभी सिद्ध करना है । और, हेतु तो अपने रूप में सिद्ध होकर साध्य की सिद्धि करने में समर्थ हुआ करता है । इसलिये साध्याभेद (=साध्यावैशिष्टय=साध्य तथा हेतु का अभेद) दोष माना जाता है । फलतः 'प्रत्यक्षादि प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम्' इत्यादि में व्यवहार ही साध्य होता है । इसी प्रकार जहां भी लक्षण को केवलव्यतिरेकी हेतु के रूप में प्रदर्शित किया जाता वहाँ व्यवहार ही साध्य हुआ करता है ।

(३) केवलान्वयी हेतु

कोई अन्य हेतु केवलान्वयी होता है । जैसे "शब्द अभिधेय है, प्रमेय होने से, जो प्रमेय होता है, वह अभिधेय होता है, जैसे घट, और यह (शब्द) भी उसी प्रकार का (=प्रमेय) होता है; इसलिये यह भी वैसा (अभिधेय) है' । यहाँ शब्द का अभिधेय होना (=अभिधेयत्व) साध्य है, प्रमेय होना (=प्रमेयत्व) हेतु है । और, वह हेतु केवलान्वयी ही है; क्योंकि जो अभिधेय नहीं होता, वह प्रमेय भी नहीं होता जैसे अमुक; इस प्रकार का व्यतिरेक दृष्टान्त यहाँ नहीं है । सर्वत्र प्रामाणिक अर्थ ही दृष्टान्त होता है और वह प्रमेय भी होता है अभिधेय भी ।

केवलान्वयी वह हेतु है, जिसमें केवल अन्वयव्याप्ति ही होती है, व्यतिरेक व्याप्ति नहीं । व्यतिरेक व्याप्ति इसलिये नहीं होती, क्योंकि उसके लिये कोई दृष्टान्त ही नहीं मिलता । उदाहरणार्थ 'शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्' यहाँ शब्द का अभिधेयत्व साध्य है । अभिधेय का अर्थ है अभिधा का विषय अर्थात् शब्द का वाच्य अथवा शब्द से कहा जाने योग्य होना । इसमें प्रमेयत्व हेतु दिया गया है । प्रमेय का अर्थ है प्रमा (=यथार्थ अनुभव) का विषय । घट में प्रमेयत्व होने से अभिधेयत्व भी देखा जाता है । अतः घट अन्वयी उदाहरण है । प्रमेयत्व और अभिधेयत्व में व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बनती । क्यों ? यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति का यह रूप माना जा सकता है—'यद् अभिधेयं न भवति तत् प्रमेयमपि न भवति=यत्राभिधेयत्वाभावः तत्र प्रमेयत्वाभावः ।' किन्तु इसका कोई दृष्टान्त नहीं मिल सकता । कारण, किसी प्रमाण-सिद्ध (=प्रामाणिक) अर्थ को ही दृष्टान्त बनाया जा सकता है । शशशृङ्ग जैसे अप्रामाणिक अर्थ को तो दृष्टान्त बनाया नहीं जा सकता और प्रमाणसिद्ध का अर्थ है प्रमा का विषय अर्थात्

१. विशेषोऽभिधेयः, इति पाठा० । २. विशेषस्या०, इति पाठा० ।

एतेषां च अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकि हेतूनां त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकि स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, न त्वेकेनापि रूपेण हीनः। तानि पञ्चरूपाणि पक्षसत्त्वं, सपक्षसत्त्वं, विपक्ष-व्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वं, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति।

एतानि तु पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वादौ अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ विद्यन्ते। तथाहि, धूमवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मं। पर्वते तस्य विद्यमानत्वात्। एवं सपक्षे सत्त्वम्, सपक्षे महानसे सद् विद्यत इत्यर्थः। एवं विपक्षान्महाह्रदात् व्यावृत्ति-स्तत्र नास्तीत्यर्थः।

एवमबाधितविषयं च धूमवत्त्वम्। तथाहि, धूमवत्त्वस्य हेतोर्विषयः

प्रमेय। ऐसा पदार्थ अवश्य ही शब्द का वाच्य भी होता है—अभिधेय होता है; क्योंकि प्रमेय अर्थ को किसी शब्द द्वारा ही प्रकट किया जाता है। यद्यपि यह संभव है कि किसी प्रमाता या वक्ता की दृष्टि से कुछ पदार्थ अप्रमेय या अनभिधेय हो जायें तथापि समस्त प्रमाताओं (प्रमातृमात्र) तथा समस्त वक्ताओं (अभिधातृमात्र) की दृष्टि से तो सभी पदार्थ प्रमेय तथा अभिधेय हैं। अतः जहाँ अभिधेयत्व के अभाव में प्रमेयत्व का अभाव दिखलाया जा सके ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिल सकता और व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बन सकती। इसलिये यह केवलान्वयी हेतु है।

२३. हेतु की पञ्चरूपोपपन्नता (पाँच रूपों से युक्त होना)

परार्थानुमान के सन्दर्भ में कहा गया है 'अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादिताव् हञ्चरूपोपपन्नात् लिङ्गात् परोप्यग्निं प्रतिपद्यते' उससे विदित होता है कि हेतु पाँच रूपों में युक्त होता है। हेतु के उन पाँच रूपों का निरूपण करते हैं—

इन अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तीनों हेतुओं में जो हेतु अन्वयव्यतिरेकी है, वह पाँच रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है एक भी रूप से रहित होकर नहीं। वे पांच रूप है—१. पक्षसत्त्व (=हेतु का पक्ष में होना), २. सपक्षसत्त्व (=सपक्ष में होना), ३. विपक्षव्यावृत्ति या विपक्षा-सत्त्व (=विपक्ष में न होना), ४. अबाधितविषयत्व (साध्य का बाधित न होना) और ५. असत्प्रतिपक्षत्व (प्रतिपक्षी हेतु न होना)।

ये पाँचों रूप ही धूमवत्त्व इत्यादि अन्वय-व्यतिरेकी हेतु में विद्यमान होते हैं जैसे कि—१. धूमवत्त्व पक्ष अर्थात् पर्वत का धर्म है; क्योंकि यह पर्वत में विद्यमान है। २. इसी प्रकार (धूमवत्त्व) की सपक्ष में सत्ता भी है, सपक्ष जो महानस है उसमें वह सद्=विद्यमान है, यह अर्थ है। ३. इसी प्रकार विपक्ष जो जलाशय है उससे व्यावृत्ति भी है; वहाँ (धूमवत्त्व) नहीं है, यह अभिप्राय है।

४ इसी प्रकार धूमवत्त्व हेतु अबाधितविषयक भी है; क्योंकि धूमवत्त्व हेतु

साध्यधर्मस्तच्चाग्निमत्त्वम्, तत्केनापि प्रमाणेन न बाधितं न खण्डित-मित्यर्थः।

एवमसत्प्रतिपक्षत्वम् असन् प्रतिपक्षो यस्येत्यसत्प्रतिपक्षं धूमवत्त्वं हेतुः। तथाहि, साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। स च धूमवत्त्वे हेतौ नास्त्येवानुपलम्भाम्।

तदेवं पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वे हेतौ विद्यन्ते। तेनैतद् धूमवत्त्वमग्निम-त्त्वस्य गमकम्, अग्निमत्त्वस्य साधकम्।

का विषय अर्थात् साध्य धर्म है, अग्निमत्त्व। वह किसी भी प्रमाण से बाधित या खण्डित नहीं होता।

५. इसी प्रकार (यहाँ) असत्प्रतिपक्षत्व भी है। नहीं (=असन्) प्रतिपक्ष जिसका ऐसा असत्प्रतिपक्ष धूमवत्त्व हेतु है। जैसे कि साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु (=हेत्वन्तरम्) प्रतिपक्ष कहलाता है और वह धूमवत्त्व हेतु में नहीं है; क्योंकि वह उपलब्ध नहीं होता (यदि होता तो उपलब्ध होता)।

इस प्रकार धूमवत्त्व हेतु में पाँचों रूप विद्यमान हैं। इसलिये यह धूमवत्त्व (हेतु) अग्निमत्त्व का ज्ञापक अर्थात् अग्निमत्त्व का साधक (हेतु) है।

इस सन्दर्भ में मूलवाक्य है—यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी सः पञ्चरूपापन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते' (द्र० अनुवाद)। भाव यह है कि अन्वय व्यतिरेकी हेतु पाँच रूपों से युक्त होकर ही सद् हेतु होता है। यदि एक रूप भी कम होता है तो वह असद् हेतु या हेत्वाभास हो जाता है, यह आगे बतलाया जायेगा। हेतु के इन पाँच रूपों में से प्रथम है पक्षसत्त्व या पक्षधर्मत्व; अर्थात् हेतु की पक्ष में सत्ता होनी चाहिये। पक्ष आदि का परिभाषिक रूप आगे बतलाया जायेगा। संक्षेप में पक्ष उसे कहते हैं, जहाँ किसी साध्य की सिद्धि करनी होती है। धूमवत्त्व हेतु में पर्वत ही पक्ष है; क्योंकि पर्वत में अग्नि (साध्य) की सिद्धि करनी है धूमवत्त्व (=धूम) पर्वत में विद्यमान है। अतः इस (धूमवत्त्व) में पक्षसत्त्व है, अथवा कहिये कि यह पक्ष का धर्म है। हेतु का द्वितीय रूप है सपक्षसत्त्व या सपक्ष में हेतु का होना। सपक्ष वह कहलाता है, जिसमें साध्य (अग्नि आदि) के होने का निश्चय होता है। प्रस्तुत अनुमान में महानस सपक्ष है, क्योंकि वहाँ अग्नि के होने का निश्चय है। इस सपक्ष में धूमवत्त्व हेतु विद्यमान है अतः इस हेतु में सपक्षसत्त्व है। हेतु का तृतीय रूप है—विपक्षाद् व्यावृत्तिः—विपक्ष में हेतु का अभाव। विपक्ष यह कहलाता है, जहाँ साध्य का न होना निश्चित होता है। प्रस्तुत अनुमान में जलाशय (महा-ह्रद) विपक्ष है; वहाँ अग्नि का अभाव निश्चित ही है। उस विपक्ष में धूमवत्त्व हेतु नहीं रहता। अतः धूमवत्त्व हेतु विपक्ष से व्यावृत्त है। हेतु का चतुर्थ रूप है अबाधि-तविषयत्व। यहाँ विषय का अर्थ है साध्य। जिसका साध्य किसी अन्य प्रमाण से बाधित हो जाता है; वह बाधितविषय (बाधितो विषयो यस्य) कहलाता है। उदाहर-

णार्थ किसी ने अनुमान का प्रयोग दिया—अग्निरनुष्णः कृतकत्वात् (अग्नि अनुष्ण है, कृतक होने से)। यहाँ अग्नि में अनुष्णत्व साध्य है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से स्पर्श द्वारा अग्नि का उष्णत्व सिद्ध होता है। अतः यहाँ साध्य (अनुष्णत्व) अन्य प्रमाण (प्रत्यक्ष) से बाधित रहा है। इसलिये इस साध्य की सिद्धि के लिये जो 'कृतकत्व' (कार्य होना) हेतु दिया गया है वह बाधितविषयक है। जो बाधितविषय नहीं होता वह अबाधितविषय हेतु होगा; अर्थात् ऐसा हेतु जिसका विषय किसी अन्य प्रमाण से बाधित नही होता। धूमवत्त्व हेतु का विषय (=साध्य) जो पर्वत में अग्निमत्त्व है वह किसी प्रमाण से बाधित नहीं हो रहा। अतः यह हेतु अबाधित है या कहिये कि इस हेतु में अबाधितविषयत्व है। हेतु का पञ्चम रूप है असत्प्रतिपक्षत्व। साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला हेतु प्रतिपक्ष कहलाता है; जैसे किसी ने हेतु-प्रयोग दिया 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्'। यहाँ अनित्यता साध्य है। इसके विपरीत है नित्यता। इसको सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु है—शब्दो नित्योऽनित्य धर्मरहितत्वात्' यहाँ दोनों हेतु एक-दूसरे के विपरीत अर्थ को सिद्ध करते हैं. दोनों के प्रतिपक्ष विद्यमान हैं। अतः दोनों को सत्प्रतिपक्ष (सन् प्रतिपक्षो यस्य) कहा जा सकता है। जिसका प्रतिपक्ष अर्थात् विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु नहीं होता है, वह असत्प्रतिपक्ष हेतु होता है। धूमवत्त्व हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु नहीं है, अतः यह असत्प्रतिपक्ष है, अथवा कहिये कि इस हेतु में असत्प्रतिपक्षत्व है। इस प्रकार धूमवत्त्व हेतु उपर्युक्त पांचों रूपों से युक्त है, अतः यह अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ है तथा सद् हेतु है।

टिप्पणी—पञ्चरूपोपन्न एव—किन धर्मों के होने से कोई हेतु सद् हेतु कहलाता है, यह विचार करके तार्किकों ने हेतु के रूपों का निश्चय किया है। किन्तु भारतीय तर्कशास्त्र में प्रथमतः इस प्रकार का विवेचन किसने किया था, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। वैदिक दर्शनों में इस विषय में संभवतः प्राचीनतम विवेचन, प्रशस्तपाद भाष्य में उपलब्ध होता है। वहाँ हेतु के तीन रूप बतलाये गये हैं:—

यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥

अर्थात् जो अनुमेय (=साध्य) से सम्बद्ध है, साध्य से युक्त में (तदन्विते) अर्थात् सपक्ष में प्रसिद्ध है तथा साध्य के अभाव में (विपक्ष में) नहीं है, वह लिङ्ग अनुमापक होता है। इस कथन से हेतु के तीन रूप माने जा सकते हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व। इन तीनों का बौद्ध न्याय में स्पष्ट रूप से विवेचन किया गया है। धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु में हेतु की त्रिरूपता इस प्रकार बतलाई गई है—**त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्** (न्यायबिन्दु २–५)। इससे पूर्व दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय आदि में लिङ्ग की त्रिरूपता का निरूपण किया था। विद्वानों का इस विषय में मतभेद है कि हेतु की त्रिरूपता का

अग्नेः पक्षधर्मत्वं हेतोः पक्षधर्मताबलात् सिद्धयति । तथाहि, अनुमानस्य द्वे अङ्गे, व्याप्तिः पक्षधर्मता च । तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यस्य सिद्धिः । पक्षधर्मताबलात्तु साध्यस्य पक्षसम्बन्धित्वं सिद्धयति ।

सर्वप्रथम प्रतिपादन किसने किया । श्चेरबात्स्की का विचार है कि लिङ्ग-त्रैरूप्य के मन्तव्य के विषय में वैशेषिक पर बौद्धों का प्रभाव पड़ा है (बु० लॉ १ पृ० २४)। दूसरे विद्वान् प्रशस्तपाद भाष्य के निरूपण को ही प्राचीनतर मानते हैं । किञ्च, प्रशस्तपाद भाष्य में इस मन्तव्य को काश्यप के नाम से उद्धृत किया गया है । इससे यह भी प्रतीत होता है कि सभवतः वैशेषिक सम्प्रदाय में पहले से ही यह मन्तव्य प्रचलित था । अस्तु । यह विषय अभी विचारणीय ही है । इनके अतिरिक्त सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में भी लिङ्ग के त्रैरूप्य का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार वैशैषिक, बौद्ध तथा सांख्य सम्प्रदाय में हेतु के तीन रूप माने गये हैं ।

न्याय सम्प्रदाय में इन तीन रूपों में दो रूपऔर जोड़ दिये गये हैं—अबाधित-–विषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व । इस प्रकार यहाँ हेतु की पञ्चरूपता स्वीकार की गई है । इस मन्तव्य के प्रवर्तक कौन थे, यह कहना कठिन है । सम्भवतः प्रथमतः उद्योतकराचार्य ने हेतु की पञ्चरूपता का निरूपण किया था । वाचस्पति मिश्र तथा जयन्तभट्ट ने इसका विशद विवेचन किया है । तर्कभाषाकार ने उसी परम्परा का अनुसरण किया है ।

ऊपर कहा गया है कि धूमवत्त्व हेतु अग्निमत्त्व का साधक है । इस पर शङ्का यह है कि यहाँ धूमवत्त्व हेतु द्वारा अग्नि सामान्य की सिद्धि होती है । अथवा अग्निविशेष अर्थात् पर्वतनिष्ठ अग्नि की । यदि प्रथम विकल्प को मानें तो ठीक नहीं; क्योंकि 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है' इस व्याप्तिज्ञान से ही सामान्य अग्नि की सिद्धि हो चुकी है, अतः सिद्धसाधन दोष हो जायेगा अर्थात् सिद्ध हुई बात को ही यह अनुमान फिर से सिद्ध करेगा, यह व्यर्थ होगा । यदि मानें कि इस अनुमान से अग्निविशेष की सिद्धि होती है तो भी ठीक नहीं; क्योंकि अग्निविशेष (=पर्वतनिष्ठ अग्नि आदि) के साथ धूम का कहीं साहचर्य नहीं देखा गया; जब पर्वतनिष्ठ अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति का ग्रहण ही नहीं होता, फिर उससे पर्वतनिष्ठ अग्नि की सिद्धि कैसे होगी ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है—

अग्नि का पक्ष (पर्वत) में होना (पक्षधर्मत्वम्=पर्वतादिनिष्ठत्वम्) तो हेतु (धूम आदि) की पक्षधर्मता (पर्वत आदि पक्ष में होना) के सामर्थ्य से सिद्ध होता है । क्योंकि अनुमान के दो अङ्ग हैं व्याप्ति तथा पक्षधर्मता । उनमें से व्याप्ति के द्वारा साध्यसामान्य (अग्निसामान्य) आदि की सिद्धि होती है । पक्षधर्मता के सामर्थ्य से तो साध्य (अग्नि आदि) का पक्षसम्बन्धी होना (पर्वत आदि में होना) रूप विशेष की सिद्धि हो जाती है । पर्वत के धर्म (=पर्वत में विद्यमान) धूम (=धूमवत्त्व) से अग्नि भी पर्वतसम्बन्धी (पर्वत में विद्यमान) ही अनुमित होती है । अन्यथा (=यदि

पर्वतधर्मेण, धूमवत्त्वेन वह्निरपि पर्वतसम्बद्ध एवानुमीयते । अन्यथा साध्यसामान्यस्य व्याप्तिग्रहादेव सिद्धेः कृतमनुमानेन ।

यस्त्वन्योऽप्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः स सर्वः पञ्चरूपोपपन्न एव सद्धेतुः । अन्यथा हेत्वाभासः, अहेतुरिति यावत् ।

पक्षधर्मता के सामर्थ्य से अग्निविशेष की सिद्धि न हुआ करे तो) अग्निसामान्य की सिद्धि तो व्याप्ति-निश्चय से हो चुकी है, फिर अनुमान व्यर्थ ही है ।

समाधान का अभिप्राय यह है कि अनुमान से अग्निसामान्य तथा पर्वतनिष्ठ अग्निविशेष दोनों की ही सिद्धि हो जाती है अतः उपर्युक्त शङ्का का अवकाश नहीं । भाव यह है:—अनुमान का अर्थ है व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान (लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्, व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः) । फलतः अनुमान के दो अङ्ग हैं व्याप्ति तथा पक्षधर्मता व्याप्ति का स्वरूप है—जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है । इस व्याप्ति के द्वारा धूमसामान्य के होने पर अग्निसामान्य का होना सिद्ध होता है । पक्षधर्मता का अर्थ है—साधन का पक्ष में होना । पक्ष वह कहलाता है, जिसमें साध्य की सिद्धि करनी होती है । यहाँ पर्वत में अग्नि की सिद्धि करनी है अतः पर्वत पक्ष है । पर्वत में धूम का विद्यमान होना ही धूम की पक्षधर्मता है, जिसका स्वरूप है—"वह्निव्याप्त धूम पर्वत में है" इसके द्वारा 'पर्वत में अग्नि है' इस प्रकार की अनुमिति हो जाती है । इस प्रकार धूमसामान्य की अग्निसामान्य के साथ व्याप्ति होने पर भी पक्षधर्मता के सामर्थ्य से पर्वत में विद्यमान अग्नि का अनुमान हो जाता है । इसमें अनुमान के पक्षधर्मता अङ्ग द्वारा अग्निविशेष की सिद्धि हो जाया करती है । यदि पक्षधर्मता के सामर्थ्य से अग्नि-विशेष की सिद्धि न मानी जाये तो लिङ्गपरामर्श रूप अनुमान की कोई आवश्यकता ही न रहेगी; क्योंकि जब व्याप्ति का निश्चय हो जाता है उसी समय धूम के होने पर अग्नि होती है' इस रूप में अग्निसामान्य की सिद्धि हो जाया करती है ।

टिप्पणी—(i) यहाँ शङ्का के सन्दर्भ में चिन्नंभट्ट ने निम्न कारिका भी उद्धृत की है—

विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात् ।
तद्द्वयानुपपन्नत्वादनुमानकथा पुनः (कुतः) ॥

उन्होंने समाधान के सन्दर्भ में भूषणकार को भी उद्धृत किया है ।

(ii) बौद्धन्याय के अनुसार अनुमान का विषय अग्निसामान्य है, अग्निविशेष नहीं—**अन्यत् सामान्यलक्षणम्, सोऽनुमानस्य विषयः**, न्यायबिन्दु १·१६,१७।

ऊपर कही गई पञ्चरूपोपपन्नता अन्वय, व्यतिरेकी हेतुओं में ही होती है, अन्य हेतु तो चार रूपों से युक्त (चतूरूपोपपन्न) होते हैं, यह बतलाते हैं—

जो अन्य भी अन्वयव्यतिरेकी हेतु होता है, वह सभी पाँच रूपों से युक्त होते हुए ही सद् हेतु हुआ करता है । यदि वह पांच रूपों में से एक से भी हीन होता है

केवलान्वयी चतूरूपोपन्न एव स्वसाध्यं साधयति । तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति, विपक्षाभावात् ।

केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपपन्न एव । तस्य हि सपक्षे सत्त्वं नास्ति । सपक्षाभावात् ।

(=अन्यथा) तो वह हेत्वाभास अर्थात् अहेतु होता है । केवलान्वयी हेतु चार रूपों से युक्त होते हुए ही अपने साध्य को सिद्ध कर देता है। उसकी विपक्ष से व्यावृत्ति (विपक्ष में अभाव) नहीं होता; क्योंकि वहाँ विपक्ष ही नहीं होता। केवलव्यतिरेकी भी चार रूपों से युक्त होता है । उसकी सपक्ष में सत्ता नहीं होती; क्योंकि वहाँ सपक्ष ही नहीं होता ।

ऊपर तीन प्रकार के हेतु बतलाये गये हैं—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी । उनमें अन्वय-व्यतिरेकी हेतु पाँच रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है । अतः वह पाँच रूपों से युक्त होते हुए ही सद् हेतु होता है । वे पाँच रूप हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व । अग्निमत्त्व की सिद्धि के लिये दिया गया धूमवत्त्व हेतु पञ्चरूपोपपन्न है अतः वह सद् हेतु है, यह दिखाया जा चुका है । यदि कोई अन्वय-व्यतिरेकी हेतु इन पाँच रूपों में से एक से भी हीन होता है तो वह सद् हेतु नहीं रहता । वह साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता । इसलिये अहेतु हो जाया करता है। ऐसे दोषयुक्त हेतु को तर्कशास्त्र की भाषा में हेत्वाभास कहा जाता है ।

दूसरा जो केवलान्वयी हेतु है, वह चार रूपों से युक्त होता है । क्योंकि वहाँ कोई विपक्ष नहीं होता अतः विपक्ष-व्यावृत्ति नामक हेतु का रूप वहाँ नहीं हुआ करता। उदाहरणार्थ 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्', यह केवलान्वयी हेतु है। यहाँ, घट पक्ष है, सभी अभिधेय (शब्द के वाच्य) पदार्थ सपक्ष हैं । इनमें प्रमेयत्व हेतु रहता है । अतः यहाँ पक्षसत्त्व एवं सपक्षसत्त्व दो हेतुरूप विद्यमान हैं । इसके साध्य (अभिधेयत्व) का किसी प्रमाण से बाध नहीं होता अतः यहाँ अबाधितविषयत्व भी है। किञ्च, साध्य के अभाव का साधक कोई दूसरा हेतु भी नहीं है. अतः यहाँ असत्प्रतिपक्षत्व भी है । इस प्रकार 'प्रमेयत्व' रूप जो केवलान्वयी हेतु है, उसमें हेतु के चार रूप विद्यमान हैं। किन्तु यहाँ विपक्ष से व्यावृत्ति नहीं है । यहाँ विपक्ष वह हो सकता है जहाँ अभिधेयत्व के अभाव का निश्चय हो (निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः) । किन्तु ऐसा कोई पदार्थ सम्भव ही नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थ अभिधेय हो सकते है । जब यहाँ कोई विपक्ष ही नहीं है तो विपक्षाद् व्यावृत्तिः (विपक्ष में न होना) कैसे बन सकता है ? अतः केवलान्वयी हेतु चार रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य की सिद्धि कर देता है ।

केवलव्यतिरेकी हेतु भी चार रूपों से युक्त हुआ करता है । उसमें कोई सपक्ष नहीं होता अतः सपक्षसत्त्व नामक हेतु का रूप भी वहाँ नहीं होता, जैसे 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात् । यहाँ 'प्राणादिमत्त्व' (प्राण आदि से युक्त होना) केवल-

के पुन: पक्ष-सपक्ष-विपक्षा: ? उच्यते । सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्ष: यथा धमानुमाने पर्वत: पक्ष: । सपक्षस्तु निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी यथा महानसो धूमानुमाने । विपक्षस्तु निश्चितसाध्याभाववान् धर्मी यथा तत्रैव महाह्लद इति ।

व्यतिरेकी हेतु है । यह हेतु जीवित शरीरों में रहता है अत: इसमें पक्षसत्त्व है । जीवित शरीरों से अन्यत्र प्राणादिमत्त्व नहीं है । अत: इसमें विपक्षासत्त्व है । इसके साध्य (सात्मकत्व) का किसी प्रमाण से बाध नहीं होता अत: इसमें अबाधितविषयत्व भी है । किञ्च, इसके साध्य के अभाव का साधक कोई दूसरा हेतु नहीं है अत: इसमें असत्प्रतिपक्षत्व भी है । इस प्रकार हेतु में अन्य सभी रूप हैं, केवल सपक्षसत्त्व नहीं है । यहाँ सपक्ष वह होता जो सात्मक तो होता किन्तु जीवित शरीर से भिन्न होता । किन्तु ऐसा कोई दृष्टान्त है नहीं, क्योंकि जो भी सात्मक हैं उन सब का जीवित शरीरों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, वे सब पक्ष के अन्तर्गत हो जाते हैं । अत: यहाँ कोई भी सपक्ष नहीं है । इसलिये सपक्षसत्त्व जो हेतु का रूप होता है, वह यहाँ नहीं बन सकता । और, केवलव्यतिरेकी हेतु चार रूपों से युक्त होता है ।

केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतु उपर्युक्त चार-चार रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य की सिद्धि कर सकते हैं । यदि ये अपने चारों रूपों में से किसी एक से भी हीन होते हैं तो साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते तथा सद् हेतु नहीं होते अपितु अहेतु या हेत्वाभास हो जाया करते हैं ।

हेतु के पांच रूपों का निरूपण करते हुए पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष का निर्देश किया गया है । उनका स्वरूप बतलाते हैं—

फिर पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष कौन (कहे जाते) है ?

बतलाते हैं । जिसमें साध्यधर्म संदिग्ध होता है वह धर्मी पक्ष (कहलाता) है, जैसे धूम से (अग्नि के) अनुमान में पर्वत पक्ष है । सपक्ष तो वह धर्मी (कहलाता) है, जिसमें साध्यधर्म निश्चित होता है जैसे धूम से (अग्नि के) अनुमान में महानस है । विपक्ष वह धर्मी (कहलाता) है, जिसमें साध्य का अभाव निश्चित होता है, जैसे वहीं (धूम से अग्नि के अनुमान में ही) महाह्लद है ।

पक्ष का लक्षण है सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी । जिसमें कोई धर्म (धूम आदि) रहता है उसे धर्मी कहते हैं । किन्तु सभी धर्मी पक्ष नहीं कहलाते अपितु जिसमें साध्य धर्म का सन्देह होता है (सन्दिग्धसाध्यधर्मा) वही पक्ष कहलाता है । जैसे जब धूम से पर्वत में अग्नि का अनुमान करना होता है तो वहाँ पर्वत पक्ष है । वहाँ साध्य धर्म है अग्नि । उसका पर्वत में होना सन्दिग्ध है । यदि पक्ष के लक्षण में 'सन्दिग्ध' शब्द न देते और 'साध्यधर्मा धर्मी' इतना ही लक्षण करते तो इस लक्षण की सपक्ष में भी अतिव्याप्ति हो जाती; क्योंकि साध्य धर्म (अग्नि) उसमें भी रहता है । सपक्ष वह धर्मी होता है; जिसमें साध्य धर्म निश्चित होता है (निश्चितसाध्यधर्मा) ।

तदेवमन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः ।

अतोऽन्ये हेत्वाभासाः । ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव ।

धूम से अग्नि के अनुमान में महानस सपक्ष है, क्योंकि वहाँ साध्य (अग्नि) का होना प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित है । सपक्ष के लक्षण में 'निश्चित' शब्द इसलिये दिया गया है जिससे कि इस लक्षण की पक्ष में अतिव्याप्ति न हो जाये । साध्य धर्म तो पक्ष में भी रहता है, किन्तु वहाँ उसका होना निश्चित नहीं है अपि तु सन्दिग्ध है । विपक्ष वह कहलाता है, जिसमें साध्य का अभाव निश्चित होता है (निश्चितसाध्याभाववान्) । अभाव किसी का धर्म नहीं होता इसलिये यहाँ लक्षण में 'धर्म' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया । धूम से अग्नि के अनुमान में महाह्रद (जलाशय) विपक्ष है; क्योंकि वहाँ अग्नि का अभाव निश्चित है ।

अभी ऊपर के ग्रन्थ-सन्दर्भ में जो तीन प्रकार के हेतुओं का विवेचन किया गया है, उस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी (तीनों प्रकार के हेतु) दिखलाये गये हैं ।

२४. हेत्वाभास

असद् हेतु को हेत्वाभास कहते हैं । वह वस्तुतः हेतु नहीं होता (अहेतुरिति यावत्); किन्तु हेतु के समान भासित होता है । हेत्वाभास शब्द के दो अर्थ किये जाते हैं—१. हेतु का दोष; इस अर्थ में शब्द की व्युत्पत्ति है **आभासते इत्याभासः हेतोराभासः हेत्वाभासः** । फलतः जिसके ज्ञान से अनुमिति के कारण अथवा साक्षात् अनुमिति का ही प्रतिबन्ध हो जाता है वह हेत्वाभास अथवा हेतुदोष कहलाता है । इसके अनुसार आगे कहे जाने वाले असिद्धत्व आदि दोष ही हेत्वाभास कहलाते हैं । २. दुष्ट हेतु इस अर्थ में शब्द की व्युत्पत्ति है **'हेतुवद् आभासते इति हेत्वाभासः** जो हेतु के समान भासित होता है, वस्तुतः दोषयुक्त होने के कारण हेतु नहीं होता वह हेत्वाभास कहलाता है । इस अर्थ के अनुसार जिसमें असिद्धत्व आदि दोष होते हैं वे दोषयुक्त (असिद्ध आदि) हेतु ही हेत्वाभास हैं ।

तर्कभाषाकार ने तो हेत्वाभास प्रकरण में (द्र० आगे) हेत्वाभास का लक्षण यह किया है—जो पक्षधर्मत्व आदि आवश्यक हेतु रूपों में से किसी एक से भी हीन होता है, किञ्च कतिपय हेतु धर्मों के योग से हेतु सा भासित होता है वह हेत्वाभास है । प्रस्तुत सन्दर्भ में हेत्वाभास का लक्षण न दिखलाकर ग्रन्थकार उसके प्रकार दिखलाते हैं—

इस (तीन प्रकार के सद् हेतु) से भिन्न हेत्वाभास होते हैं और वे १. असिद्ध, २. विरुद्ध ३. अनैकान्तिक, ४. प्रकरणसम, और ५. कालात्ययापदिष्ट भेद से पांच प्रकार के ही हैं ।

अतोऽन्ये (इनसे भिन्न) इस शब्द के द्वारा तर्कभाषाकार ने अपने अभिमत हेत्वाभास के स्वरूप को सूचित कर दिया है। भाव यह है कि अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी जो तीन प्रकार के सद् हेतु कहे गये हैं, उनमें से प्रथम पाँचों रूपों से युक्त होता हुआ सद् हेतु होता है, द्वितीय तथा तृतीय दोनों चार-चार रूपों से युक्त होकर सद् हेतु होते हैं। इनसे भिन्न; अर्थात् आवश्यक हेतु-रूपों में से एक से भी हीन हेतु हेत्वाभास कहलाता है।

यह हेत्वाभास पाँच प्रकार का होता है—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और कालत्ययापदिष्ट। ये ही पाँच हेत्वाभास होते हैं। इनसे कम या अधिक नहीं। यह निर्धारण करने के लिये 'पञ्चैव' यह पद दिया गया है।

टिप्पणी—हेत्वाभास की संख्या के विषय में तार्किकों का विवाद है, उस विवाद का निराकरण करने के लिये 'पाँच ही हेत्वाभास हैं' ऐसा कहा गया है। चिन्नंभट ने दिखलाया है कि कुछ तार्किक सभी हेत्वाभासों का असिद्धि में अन्तर्भाव करके एक ही हेत्वाभास मानते रहे। न्यायकोश में भी एक ही हेतुदोष मानने वाले मत का उल्लेख किया गया है किन्तु 'यह मत किसका है' यह नहीं बतलाया गया। वैशेषिक के अनुसार हेत्वाभास तीन प्रकार का है विरुद्ध, असिद्ध तथा सन्दिग्ध। वैशेषिक में हेतु के तीन रूप माने गये हैं उनमें से किसी एक के अभाव में हेत्वाभास हो जाता है अतः उसके अनुसार तीन ही हेत्वाभास हैं। जैसे कि कहा गया है—

> अनुमेयेन संबद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
> तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥
> विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा।
> विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्॥ (प्रशस्त०)

प्रशस्तपाद भाष्य में यह भी बतलाया गया है कि कुछ आचार्य अनध्यवसित नाम का एक और हेत्वाभास मानते थे।

बौद्धन्याय में भी तीन प्रकार का हेत्वाभास माना गया है—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक (न्यायबिन्दु परि० ३–५५ तथा आगे)। बौद्धन्याय के अनुसार हेतु के तीन रूप होते हैं उनमें से एक रूप के भी अभाव में हेत्वाभास हो जाता है (तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः, न्यायबिन्दु ३ ५५)।

न्याय सम्प्रदाय के आचार्यों ने हेतु की पञ्चरूपता स्वीकार की है। अतः एक-एक रूप की हीनता के आधार पर पाँच हेत्वाभास माने हैं। गौतम के न्यायसूत्रों में भी पाँच हेत्वाभासों का ही निर्देश किया गया है (न्यायसूत्र १. २.४)। किन्तु न्यायसूत्र में हेत्वाभासों के जो नाम दिये गये हैं कालान्तर में उसमें कुछ अन्तर हो गया है, कहीं-कहीं उनके लक्षण में भी अन्तर हुआ है। व्याख्याकारों का यह भी कथन है कि 'अनध्यवसित' नामक हेत्वाभास का सव्यभिचार में ही अन्तर्भाव हो जाता है (चि०)। इस प्रकार ५ ही हेत्वाभास हैं।

१९ तत्र लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्धः। तत्रासिद्धस्त्रिविधः। आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

आश्रयासिद्धो यथा गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव।

स्वरूपासिद्धो यथा, अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वात् घटवत्। अत्र चाक्षुषत्वं हेतुः, स च शब्दे नास्त्येव तस्य श्रावणत्वात्।

(१९) असिद्ध हेत्वाभास

उसमें लिङ्ग (ज्ञापक) के रूप में निश्चित न होने वाला हेतु असिद्ध (हेत्वाभास) कहलाता है। वह असिद्ध तीन प्रकार का होता है—(क) आश्रयासिद्ध, (ख) स्वरूपासिद्ध और (ग) व्याप्यत्वासिद्ध।

(क) आश्रयासिद्ध यह है; जैसे आकाशकमल सुगन्धित होता है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह कमल (अथवा उसमें कमलत्व) है (हेतु), सरोवर में उत्पन्न कमल के समान (उदाहरण)। यहाँ आकाशकमल आश्रय है और वह होता ही नहीं।

(ख) स्वरूपासिद्ध यह है; जैसे शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह चाक्षुष (चक्षु से ग्राह्य) है (हेतु), घट के समान (उदाहरण)। यहाँ चाक्षुषत्व (चक्षु से ग्राह्य होना) हेतु है और वह शब्द में नहीं हैं क्योंकि शब्द तो श्रोत्र से ग्राह्य (=श्रावण) होता है।

प्रथम हेत्वाभास असिद्ध नामक है। असिद्ध वह हेतु है जो अनुमापक (लिङ्ग) के रूप में निश्चित न किया गया हो। जैसे कि ऊपर कहा गया है, पर्वत में अग्नि से व्याप्त धूम है' इस प्रकार का व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान ही परामर्श है, वही अनुमापक हुआ करता है। उसके लिये तीन बातें आवश्यक हैं—पक्ष, पक्षधर्मता तथा व्याप्ति। इनके अभाव में तीन प्रकार का असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है—(क) आश्रयासिद्ध, (ख) स्वरूपासिद्ध तथा (ग) व्याप्यत्वासिद्ध। (क) जिस हेतु के पक्ष (आश्रय) का ही अभाव होता है, वह आश्रयासिद्ध कहलाता है (यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः) जैसे 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्'। यहाँ गगनारविन्द (=आकाशकमल) में सुरभित्व (=सुगन्ध) सिद्ध करना है। अतः गगनारविन्द ही पक्ष है जो हेतु का आश्रय होगा। किन्तु वह असिद्ध है, वह होता ही नहीं। अतः यहाँ 'अरविन्दत्वात्' (कमल होने से) इस हेतु का आश्रय ही असिद्ध है और यह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है। (ख) हेतु पक्ष का धर्म नहीं होता, वह पक्ष में स्थित ही नहीं रहता (यो हेतुराश्रये नावगम्यते) तो स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। यहाँ हेतु स्वरूपतः ही असिद्ध होता है। जैसे 'शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्' यहाँ शब्द में अनित्यत्व सिद्ध करना है। शब्द पक्ष है। चाक्षुषत्व=चक्षु-ग्राह्य होना हेतु है। यह हेतु पक्ष में नहीं रहता पक्ष का धर्म नहीं,; क्योंकि शब्द का चक्षु द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता, उसका ग्रहण तो श्रोत्रेन्द्रिय से होता है—वह श्रवण का विषय (श्रवण-ग्राह्य) है।

व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविधः। एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्। अपरस्तूपाधिसद्भावात्। तत्र प्रथमो यथा, शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरपटलं तथा च शब्दादिरिति। न च सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणमस्ति। सोपाधिकतया सत्त्वस्य[1] व्याप्यत्वासिद्धौ उच्यमानायां क्षणिकत्वमन्यप्रयुक्तमित्यभ्युपगतं स्यात्।

जहाँ हेतु में व्याप्ति का अभाव होता है; अर्थात् हेतु व्याप्य नहीं होता—उसमें व्याप्यत्व नहीं रहता वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध है जो असिद्ध हेत्वाभास का तृतीय भेद हुआ करता है। उसके भेद तथा उदाहरण आगे दिखलाते हैं—

(ग) व्याप्यत्वासिद्ध तो दो प्रकार का होता है (१) एक तो व्याप्ति-ग्राहक प्रमाण के न होने से और दूसरा (२) उपाधि के होने से। उनमें (१) प्रथम यह है, जैसे शब्द क्षणिक है (प्रतिज्ञा); क्योंकि वह सत् है (हेतु), जो सत् होता है वह क्षणिक होता है जैसे मेघपटल (उदाहरण), उसी प्रकार शब्द आदि भी हैं (उपनय)। किन्तु सत्त्व और क्षणिक की व्याप्ति का निश्चय कराने वाला कोई प्रमाण नहीं है। यदि (यहाँ) सोपाधिक होने से 'सत्त्व' (हेतु) को व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाये तो दूसरे निमित्त से किया गया (प्रयुक्त) क्षणिकत्व (शब्द में) है, यह स्वीकार करना पड़ेगा (जो कि अभीष्ट नहीं)।

व्याप्यत्वासिद्ध वहाँ होता है जहाँ हेतु में व्याप्ति नहीं जानी जाती (यत्र हेतोर्व्याप्तिर्नावगम्यते, तर्कभाषा, हेत्वाभास) यह दो प्रकार का होता है—(१) जहाँ कोई व्याप्ति का ग्राहक-प्रमाण नहीं होता और जहाँ (२) हेतु में कोई उपाधि होती है। (१) प्रथम भेद का उदाहरण है 'शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्' आदि। यहाँ अनुमान वाक्य के जो अवयव दिखलाये गये हैं वे न्याय के मतानुसार हैं। वस्तुतः यह बौद्ध का अनुमान-प्रयोग है और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध-न्याय के अनुसार अनुमान वाक्य के दो ही अवयव होते हैं हेतु और दृष्टान्त अतः यहाँ भी दो अवयव दिखलाना ही उचित है। अस्तु।

बौद्ध का मन्तव्य है कि प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। जो वस्तु पहले क्षण है वह दूसरे क्षण नहीं रहती। वस्तु प्रत्येक क्षण उत्पन्न एवं नष्ट होती रहती है। बौद्ध दर्शन में सत्ता (सत्त्व) हेतु से क्षणिकता की सिद्धि की गई है। वहाँ सत्ता का अर्थ है—अर्थक्रियाकारिता; अर्थात् वस्तु का योग्य कार्य करना, जैसे जल लाना आदि घट की अर्थक्रिया है अथवा अङ्कुरोत्पादन आदि बीज-की अर्थक्रिया है। यह सत्ता अक्षणिक (स्थिर) वस्तु में नहीं हो सकती। अतः सत्ता (सत्त्व) होने से वस्तु की क्षणिकता सिद्ध होती है और 'यत् सत् क्षणिकम्' यह व्याप्ति होती है। इसमें हेतु है सत्त्व और साध्य है क्षणिकत्व।

इस पर नैयायिक का कथन है कि सत्त्व की क्षणिकता के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती; क्योंकि इस व्याप्ति का निश्चय कराने वाला कोई प्रमाण नहीं है। किसी

---

१. त्वस्य, इति पाठा०।

द्वितीयो यथा क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्य-

प्रमाण द्वारा भी क्षणिकत्व तथा सत्त्व का नियत साहचर्य (व्याप्ति) गृहीत नहीं होता। इसके विपरीत स्थिर वस्तुओं की ही सत्ता देखी जाती है अतएव यहाँ सत्त्व व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है, हेतु नहीं।

इस पर शङ्का यह हो सकती है 'सत्त्वात्' इस हेतु को सोपाधिक होने से ही व्याप्यत्वासिद्ध मान लेना चाहिये इसे व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से व्याप्यत्वासिद्ध क्यों माना गया है। इसके समाधान के लिये कहा गया है—**सोपाधिकतया**··· स्यात्।

भाव यह है कि जहाँ उपाधि के होने से (उपाधिसद्भावात्) किसी हेतु को असिद्ध माना जाता है, वहाँ साध्य धर्म का अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाता है और उसमें यह दिखलाया जाता है कि वह साध्य धर्म दिये गये हेतु के निमित्त से नहीं, अपि तु अन्य निमित्त से हुआ करता है (अन्यप्रयुक्त)। जैसे 'अयोगोलकः धूमवान् अग्निमत्त्वात्' यहाँ 'अग्निमत्त्व' हेतु सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्ध है। यहाँ साध्य धर्म धूम है। वह धूम अयोगोलक में तो नहीं है किन्तु उसका अस्तित्व तो है ही। हाँ, वह धूम अग्नि के निमित्त से नहीं, अपि तु आर्द्रेन्धन के निमित्त से हुआ करता है, अन्यप्रयुक्त है।

इस प्रकार यदि 'सत्त्वात्' हेतु को भी सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्ध माना जायेगा तो वहाँ भी क्षणिकत्व का अस्तित्व स्वीकार करके यह दिखलाना होगा कि क्षणिकत्व जो साध्य धर्म है वह सत्त्व हेतु से नहीं होता, अपि तु किसी अन्यनिमित्त से (अन्यप्रयुक्त) होता है। किन्तु नैयायिक को यह अभीष्ट नहीं है। वह बौद्ध द्वारा प्रतिपादित क्षणिकत्व को स्वीकार ही नहीं करता। बौद्ध के अनुसार क्षणिकत्व का अर्थ है एक क्षण में ही वस्तु की उत्पत्ति तथा विनाश हो जाना। इसके विपरीत नैयायिक के मत में शब्द आदि आशुतर विनाशी तो हैं, किन्तु एक ही क्षण में उनकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। वह तो आशुतर-विनाशी पदार्थों का भी क्षणत्रय से सम्बन्ध मानता है। वे पदार्थ भी प्रथम क्षण में उत्पन्न होते हैं, दूसरे क्षण में स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण में नष्ट हुआ करते हैं। इस प्रकार नैयायिक की दृष्टि से क्षणिकत्व का कहीं अस्तित्व ही नहीं है वह सत्त्व के निमित्त से नहीं है तथा किसी अन्य निमित्त से भी नहीं है। यदि वह अन्य निमित्त से (अन्यप्रयुक्त) हुआ करता तो 'सत्त्वात्' हेतु सोपाधिक हो सकता था। इस प्रकार 'सत्त्वात् हेतु उपाधि के सद्भाव से व्याप्यत्वासिद्ध नहीं है, अपि तु व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से ही यह व्याप्यत्वासिद्ध है। और, इसलिये व्याप्यत्वासिद्ध के उपर्युक्त दो भेद माने गये हैं।

(१) दूसरे प्रकार के व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण देते हैं—

द्वितीय (व्याप्यत्वासिद्ध) यह है; जैसे यज्ञ में होने वाली हिंसा अधर्म का

हिंसावत् । अत्र ह्यधर्मसाधनत्वे हिंसात्वं न प्रयोजकं किन्तु निषिद्धत्वमेव प्रयोजकम्, उपाधिरिति यावत् । तथा हि 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक' उपाधिरित्युपाधिलक्षणम् । तच्चास्ति निषिद्धत्वे। निषिद्धत्वं हि साध्यस्याधर्मसाधनत्वस्य व्यापकम् । यतो यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमपीति । एवं साधनं हिंसात्वं न 'व्याप्नोति निषिद्धत्वम् । न हि यत्र तत्र हिसात्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वम्', यागीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात् । तदेवं निषिद्धत्वस्योपाधेः सद्भावादन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि हिंसात्वं व्याप्यत्वासिद्धमेव ।

साधन है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह हिंसा है (हेतु), जैसे यज्ञ से बाहर की हिंसा (उदाहरण) । यहाँ अधर्मसाधनत्व में हिंसात्व निमित्त नहीं है; किन्तु (शास्त्र द्वारा) निषिद्धत्व ही प्रयोजक है; अर्थात् वह उपाधि है । क्योंकि साध्य का व्यापक होने पर भी साधन का व्यापक न होने वाला (धर्म) उपाधि (कहलाता) है, यह उपाधि का लक्षण है और वह निषिद्धत्व में है । निषिद्धत्व साध्यभूत अधर्मसाधनत्व का व्यापक है; क्योंकि जहाँ जहाँ अधर्मसाधनत्व है वहाँ-वहाँ अवश्य निषिद्धत्व भी होता है । इसी प्रकार निषिद्धत्व साधनभूत हिंसात्व का व्यापक नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ हिंसात्व है, वहाँ अवश्य ही निषिद्धत्व नहीं है; जैसे यज्ञ की पशु-हिंसा में निषिद्धत्व नहीं है । इस प्रकार निषिद्धत्व रूप उपाधि होने के कारण अन्य (अर्थात् निषिद्धत्व) से प्रयुक्त व्याप्ति पर आश्रित (उपजीवी) जो हिंसात्व हेतु है, वह व्याप्यत्वासिद्ध ही है ।

जहाँ उपाधि के होने से कोई हेतु असिद्ध हो जाता है वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास का दूसरा प्रकार होता है । उपाधि के विषय में ऊपर (पृ० ८२) भी बतलाया जा चुका है । उपाधि वह कहलाती है जो साध्य का व्यापक हो किन्तु साधन का व्यापक न हो । क्रत्वन्तर्वर्त्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं हिंसात्वात्; इस अनुमान में 'अधर्मसाधनत्व' साध्य है तथा 'हिंसात्व' साधन है । यहाँ 'निषिद्धत्व उपाधि है । यह उपाधि साध्य की व्यापक है, क्योंकि जहाँ-जहाँ अधर्मसाधनत्व होता है वहाँ वहाँ निषिद्धत्व भी होता है, यह व्याप्ति है । यह उपाधि साधन की व्यापक नहीं; क्योंकि जहाँ-जहाँ हिंसात्व होता है वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व नहीं होता; जैसे यज्ञ की हिंसा में भी हिंसात्व तो है किन्तु उसका शास्त्र में निषेध नहीं किया गया अतः निषिद्धत्व नहीं है। इस प्रकार निषिद्धत्व में उपाधि का लक्षण घटित होता है ।

उपाधि शब्द का जो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है (उप समीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्मम् इति उपाधिः, न्या० को०) वह भी निषिद्धत्व में विद्यमान है। कैसे? अधर्मसाधनत्व का प्रयोजक है निषिद्धत्व; अर्थात् निषिद्ध होने से कोई कार्य अधर्म का साधन है । इस प्रकार अधर्मसाधनत्व की निषिद्धत्व के साथ व्याप्ति है किन्तु इस व्याप्ति का हिंसात्व में आरोप कर लिया जाता है। इसलिये हेतुरूप में जो हिंसात्व दिया

---

१. यज्ञी०, इति पाठा० ।

२ साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत्। अत्र कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तम्। यत्कृतकं तदनित्यमेव, न नित्यमित्यतो विरुद्धं कृतकत्वमिति।

३ सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स द्विविधः, साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकश्चेति। तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः। यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् व्योमवत्। अत्र हि प्रमेयत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्य—

गया है वह अन्यप्रयुक्त अर्थात् निषिद्धत्वप्रयुक्त व्याप्ति पर आश्रित है। वस्तुतः वह व्याप्य नहीं है, या कहिये कि वह व्याप्य रूप में असिद्ध है अतः यहाँ व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास है।

टिप्पणी—चिन्नं भट्ट (पृ० १३४) ने इस सन्दर्भ में निम्न कारिका उद्धृत की है, यथाहुराचार्याः—

अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा॥ (श्लो० वा०)

(२) विरुद्ध हेत्वाभास

साध्य के अभाव (=विपर्यय) से व्याप्त हेतु विरुद्ध (हेत्वाभास) कहलाता है। वह इस प्रकार है; शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा); क्योंकि वह कृतक (जन्य) है (हेतु); जैसे आत्मा (उदाहरण)। यहाँ कृतकत्व (हेतु) साध्यभूत नित्यत्व के अभावरूप अनित्यत्व से व्याप्त है। जो कृतक (जन्य) होता है, वह अनित्य होता है नित्य नहीं। इसलिये वहाँ कृतकत्व (हेत्वाभास) है।

विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण है 'साध्यविपर्ययव्याप्तः'। विपर्यय=विपरीत=अभाव। साध्यविपर्यय=साध्याभाव। अतः जो साध्याभाव से व्याप्त होता है वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है; जैसे 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्'। यहाँ नित्यत्व साध्य है कृतकत्व हेतु है। कृतक का अर्थ है कार्य, जन्य, उत्पन्न होने वाला। वस्तुतः व्याप्ति यह है जो कृतक होता है वह अनित्य होता है। अनित्य का अर्थ है नित्यत्व का अभाव (=साध्याभाव)। अतः यहाँ जो कृतकत्व हेतु है वह साध्याभाव से व्याप्त है तथा यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

(३) अनैकान्तिक हेत्वाभास

सव्यभिचार हेतु अनैकान्तिक (हेत्वाभास) कहलाता है। वह दो प्रकार का है (क) साधारण अनैकान्तिक और (ख) असाधारण अनैकान्तिक। (क) उनमें से पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष में रहने वाला साधारण अनैकान्तिक है; जैसे शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह प्रमेय है (हेतु), आकाश के समान (उदाहरण)। यहाँ प्रमेयत्व हेतु है जो नित्य (पक्ष या सपक्ष) एवं अनित्य (विपक्ष) दोनों में रहता है। (ख) जो सपक्ष तथा विपक्ष (दोनों) से व्यावृत्त होकर केवल पक्ष में ही रहता है वह असाधारण

वृत्ति[1]। सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्ष एव वर्तते सोऽसाधारणानैकान्तिकः। स यथा भूर्नित्या गन्धवत्त्वात् गन्धवत्त्वं हि सपक्षान्नित्याद् विपक्षाच्चानित्याद् व्यावृत्तं भूमात्रवृत्ति।

अनैकान्तिक (हेत्वाभास) है। जैसे भूमि नित्य है। (प्रतिज्ञा), क्योंकि यह गन्ध वाली है (हेतु)। यहाँ गन्धत्त्व (हेतु दिया गया) है वह सपक्ष = नित्य से तथा विपक्ष = अनित्य से व्यावृत्त है केवल पृथिवी में रहता है।

व्यभिचार का अर्थ है अव्यवस्था, औचित्य का अतिक्रमण, नियमपूर्वक न रहना। जो हेतु साध्य के साथ व्यवस्थित रूप में नहीं रहता, वह सव्यभिचार कहलाता है, उसका नाम अनैकान्तिक हेत्वाभास है। हेतु का साध्य से व्यभिचार दो प्रकार से हो सकता है—(क) कहीं तो हेतु अपने उचित स्थल पर रहने के साथ-साथ उससे भिन्न स्थल पर भी रहता है, वहाँ साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। भाव यह है—हेतु की पञ्चरूपता के सन्दर्भ में बतलाया गया है कि सद् हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व होता है, अर्थात् सद्हेतु पक्ष में रहता है, सपक्ष में रहता है, किन्तु विपक्ष में नहीं रहता। जो हेतु पक्ष तथा सपक्ष में रहने के साथ-साथ विपक्ष में भी रहता है वह साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जाता है; जैसे 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् व्योमवत्' अनुमान के इस प्रयोग में नित्यत्व साध्य है, प्रमेयत्व हेतु है शब्द पक्ष है, व्योम सपक्ष है तथा जो घट आदि नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य हैं वे विपक्ष हैं। प्रमेयत्व हेतु इन सभी में विद्यमान है। जो घट आदि अनित्य हैं तथा विपक्ष हैं उनमें भी प्रमेयत्व रहता है। अतः यह साधारण अनैकान्तिक है।

(ख) कहीं हेतु उचित स्थल पर भी नहीं रहता, वहाँ वह असाधारण कहलाता है। यह आवश्यक है कि सद्हेतु पक्ष तथा सपक्ष में रहना चाहिये, विपक्ष में नहीं; किन्तु जो हेतु विपक्ष के समान ही सपक्ष में भी नहीं रहता वह असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है। जैसे 'भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्' यहाँ नित्यत्व साध्य है, 'गन्धवत्त्व' हेतु है, भूमि पक्ष है, आकाश आदि नित्य पदार्थ सपक्ष हैं तथा जल आदि अनित्य पदार्थ विपक्ष हैं यह तो उचित है कि गन्धवत्त्व हेतु अनित्य जल आदि (विपक्ष) में नहीं रहता। किन्तु यह दोष है कि नित्य आकाश आदि (सपक्ष) में भी नहीं रहता। यह तो केवल पक्ष (भूमि) में रहता है। अतः यहाँ असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

टिप्पणी (i) न्यायसूत्र में इस हेत्वाभास का नाम सव्यभिचार है तथा लक्षण 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' (न्या० सू० १·२·५) यह है। इस प्रकार इस हेत्वाभास के दोनों नाम हैं। इन नामों की व्युत्पत्ति में ही इसका लक्षण भी निहित है। (ii) 'अनैकान्तिक' शब्द की व्युत्पत्ति—'एकस्य साध्यस्य तदभावस्य वा योऽन्तः सहचारः अव्यभिचरितसहचारः एकान्तः तद्वान् ऐकान्तिकः, तदन्योऽनैकान्तिकः

१. स च नित्यानित्यवृत्तिः, इति पाठा०।

४ प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते। स यथा शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्। शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वादिति। अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते।

(न्या० सू० वृ० १. २. ६)। वात्स्यायन ने 'नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्' इस उदाहरण के प्रसङ्ग में 'अनैकान्तिक' शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है नित्यत्वमप्येकोऽन्तः अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः। एकस्मिन्नन्ते विद्यत इत्यैकान्तिकः। विपर्ययाद् अनैकान्तिक उभयान्तव्यापकत्वाद् इति (न्या० भा० १·२· ६)॥ (३) तर्कसंग्रह में [अनैकान्तिक के तीन भेद माने गये हैं—१. साधारण २. असाधारण तथा ३. अनुपसंहारी। जो हेतु अन्वयी तथा व्यतिरेकी दोनों प्रकार के उदाहरणों से रहित होता है वह अनुपसंहारी कहलाता है जैसे सर्वम् अनित्यं प्रमेयत्वात्'। यहाँ सब ही पक्ष के अन्तर्गत है। अतः न तो ऐसा उदाहरण ही दिखलाया जा सकता है कि 'जहाँ-जहाँ प्रमेयत्व है वहाँ-वहाँ अनित्यत्व है, जैसे 'अमुक' और, न ऐसा उदाहरण ही है कि 'जहाँ अनित्यत्व वहीं है वहाँ प्रमेयत्व भी नहीं है'। इसलिये यह अनुपसंहारी हेत्वाभास है।

(४) **प्रकरणसम** (सत्प्रतिपक्ष)

इस हेत्वाभास का न्यायसूत्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'प्रकरणसम' नाम दिया गया है। उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में 'सत्प्रतिपक्ष' नाम का ही प्रयोग किया गया है। 'सत्प्रतिपक्ष' नाम द्वारा इसका स्वरूप भी विदित हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रतिपक्ष का अर्थ है साध्य के विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु (साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते)। जिस हेतु का प्रतिपक्ष विद्यमान होता है वह सत्प्रतिपक्ष कहलाता है। फलतः जहाँ दो हेतु एक-दूसरे के विपरीत अर्थ को सिद्ध करते हैं वे दोनों सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहे जाते हैं।

प्रकरणसम तो वह (हेत्वाभास) है जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु विद्यमान होता है। वह इस प्रकार है; जैसे शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह नित्य के धर्म से रहित है (हेतु)। (इसके विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु है—) शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह अनित्य के धर्म से रहित है (हेतु)। यह (प्रकरणसम) ही सत्प्रतिपक्ष कहलाता है।

यहाँ प्रश्न यह है कि दोनों हेतु समान बल वाले (समबलो) होते हैं अथवा न्यूनाऽधिक बल वाले होते हैं। इनमें प्रथम पक्ष तो माना नहीं जा सकता। क्यों ? वस्तु का स्वरूप निश्चित होता है, एक होता है अतः विपरीत अर्थ के साधक दोनों हेतु उसके स्वरूप को नहीं बतला सकते। इसलिये दोनों का समान बल नहीं हो सकता दूसरा पक्ष भी नहीं बनता। यदि उन दोनों में से एक न्यून बल वाला है और दूसरा अधिक बाला है तो दुर्बल का प्रबल हेतु के द्वारा बाध हो जायेगा। फिर तो बाधित हेत्वाभास ही होगा सत्प्रतिपक्ष नहीं।

५ पक्षे प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इति चोच्यते। यथा अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्। अत्र हि कृतकत्वस्य हेतोः साध्यमनुष्णत्वं तदभावः प्रत्यक्षेणैवावधारितः, स्पार्शनप्रत्यक्षेणैवोष्णत्वोपलम्भात्।

इति व्याख्यातमनुमानम्।

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है—यद्यपि दोनों हेतु वस्तुतः समान आधार वाले नहीं होते तथापि उन्हें समान बल वाला समझ लिया जाता है। इसी आधार पर यह माना जाता है कि सत्प्रतिपक्ष में दोनों हेतु तुल्य बल वाले होते हैं तथा उनमें से कोई भी अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता। अतः दोनों ही एक-दूसरे के सत्प्रतिपक्ष कहलाते हैं।

(१) बाधित तथा (२) विरुद्ध से सत्प्रतिपक्ष का अन्तर—(१) बाधित हेत्वाभास में अन्य प्रबल प्रमाण द्वारा साध्याभाव का निश्चय हो जाया करता है; किन्तु सत्प्रतिपक्ष में दोनों में से कोई भी हेतु अपने साध्य का निश्चय कराने में समर्थ नहीं होता; अर्थात् वे दोनों तुल्यबल वाले समझे जाते हैं। (२) विरुद्ध नामक हेत्वाभास में किसी साध्य की सिद्धि के लिये दिया गया हेतु ही उस साध्य के अभाव को सिद्ध कर देता है; जैसे शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' यहाँ कृतकत्वात् हेतु ही नित्य के अभाव (=अनित्यत्व) को सिद्ध करता है; क्योंकि इसकी व्याप्ति अनित्यत्व के साथ है। दूसरी ओर सत्प्रतिपक्ष नें दूसरा हेतु साध्य के विपरीत अर्थ को सिद्ध करता है; जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'नित्यधर्मरहितत्वात्' इस हेतु के द्वारा शब्द में अनित्यता सिद्ध की जा रही है।

टिप्पणी—'प्रकरणसम' शब्द की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति दिखलाई गई है (द्र०, न्यायभाष्य तथा न्यायसूत्रवृत्ति (१.२.७)। किन्तु आगे चलकर इसके व्युपत्तिलभ्य अर्थ की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

(५) बाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट

पक्ष में (जिसके साध्य का अभाव अन्य प्रमाण से निश्चित कर दिया जाता है वह हेतु बाधितविषय तथा कालात्ययापदिष्ट कहलाता है। जैसे अग्नि अनुष्ण है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह जन्य (कृतक) है (हेतु), जैसे जल (उदाहरण)। यहाँ कृतकत्व हेतु का साध्य अनुष्णत्व है, उसका अभाव प्रत्यक्ष से ही निश्चित कर लिया गया है; क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष से (अग्नि में) उष्णता की उपलब्धि होती है।

बाधितविषय का अर्थ है जिसका साध्यधर्म किसी प्रमाण से बाधित हो (यस्य विषयः साध्यधर्मः प्रमाणान्तरेण बाधित; चि०)। यहाँ विषय का अर्थ है—साध्यधर्म। बाध का अर्थ है—विपरीत अर्थ का निश्चय होना। साध्य के विपरीत अर्थ का निश्चय किसी प्रबल प्रमाण द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार जिस हेतु के साध्य का अन्य प्रबल प्रमाण से बाध हो जाता है वह बाधितविषय हेत्वाभास है। न्यायसूत्र आदि

[उपमान]

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम् । यथा गवयमजानन्नपि नागरिको 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात्पुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो व्वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात् । गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानानन्तरमयमसौ गवयशब्दवाच्यः

प्राचीन ग्रन्थों में इसका नाम कालात्ययापदिष्ट है । इसका उदाहरण है 'अग्निः अनुष्णः, कृतकत्वात् जलवत्' । यहाँ अग्नि में अनुष्णत्व = उष्णता का अभाव साध्य है । अनुष्णत्व का अभाव है उष्णत्व । स्पार्शन प्रत्यक्ष से यह निश्चित है कि अग्नि उष्ण होती है, अनुष्ण नहीं । अतः यहाँ अग्नि में अनुष्णता की सिद्धि के लिये जो कृतकत्व हेतु दिया गया है उसका साध्य (अनुष्णता) बाधित हो जाता है और वह बाधितविषय हेत्वाभास है ।

बाधितविषय तथा सत्प्रतिपक्ष--(१) बाधितविषय में अन्य प्रमाण द्वारा साध्य के अभाव का निश्चय हो जाता है; किन्तु सत्प्रतिपक्ष में अन्य हेतु द्वारा साध्य के अभाव की सिद्धि की सम्भावना मात्र होती है । (२) बाधितविषय में अन्य प्रमाण प्रबल (अधिक बल वाला) होता है; किन्तु सत्प्रतिपक्ष में दोनों को समबल (समान बल वाला) समझा जाता है ।

इस प्रकार अनुमान की व्याख्या की गई है ।

२५. उपमान प्रमाण का निरूपण

ऊपर न्याय-सम्प्रदाय के अनुसार चार प्रमाण बतलाये गये हैं । उनमें तृतीय प्रमाण उपमान है । न्याय-सम्प्रदाय के अनुसार उपमान का क्या स्वरूप है और उसकी क्या प्रक्रिया है ? यह सब संक्षेप में यहाँ दिखलाया जा रहा है ।

(जैसी गाय वैसी नीलगाय इत्यादि) अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ गौ की समानता से युक्त पिण्ड (=शरीर, आकृति) का ज्ञान ही उपमान (प्रमाण) है । उदाहरणार्थ, नीलगाय (=गवय) को न जानने वाला भी कोई नगरवासी जब किसी वनवासी (=आरण्यक) से यह वाक्य सुनकर कि 'जैसी गाय वैसी नीलगाय' वन में जाता है और वहाँ इस वाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुए गौ की समानता से युक्त पिण्ड को देखता है; तब उस वाक्यार्थ के स्मरण के साथ गौ की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान ही उपमान प्रमाण (कहलाता) है; क्योंकि वह उपमिति (प्रमा) का करण है । इस गौ की समानता से युक्त पिण्ड-ज्ञान के पश्चात् 'यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है', इस प्रकार जो (गवय शब्द) तथा संज्ञी (गवय वस्तु, गोसदृश पिण्ड) के सम्बन्ध की प्रतीति होती है वह उपमिति कहलाती है । वही (उपमिति) (उपमान का) का फल है । यह उपमान पृथक् प्रमाण (=प्रमाणान्तर

पिण्ड इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिरुपमितिः। सैव फलम्। इदन्तु प्रत्यक्षानुमानासाध्यप्रमासाधकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानमस्ति।[1]

इति व्याख्यातमुपमानम्।

=अन्य प्रमाण) है; क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अनुमान (प्रमाण) से न हो सकने योग्य (असाध्य) प्रमा का साधन है।

इस प्रकार उपमान की व्याख्या की गई।

अतिदेश वाक्य का अर्थ है समानता आदि को बतलाने वाला वाक्य (अतिदिश्यते प्रतिपाद्यतेऽने न साधर्म्यादिः' इति अतिदेशः, चि०) अथवा वह वाक्य अतिदेश वाक्य कहलाता है, जिसके द्वारा एक पदार्थ के धर्म का दूसरे में सम्बन्ध दिखलाया जाता है (एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धः, अन्यधर्मस्यान्यत्रारोपणम्; सर्वलक्षणसंग्रह)। "यथा गौस्तथा गवयः (जैसी गाय वैसी नीलगाय), यह वाक्य गौ तथा गवय के सादृश्य को बतलाता है, अतः यह अतिदेश वाक्य है। यह वाक्य भी उपमान प्रमाण का अङ्ग होता है।

उपमान की प्रक्रिया यह है:—किसी नगरवासी ने गवय (नीलगाय) को नहीं देखा। उसे कोई वनवासी बतलाता है 'यथा गौस्तथा गवयः'। यहाँ अतिदेश वाक्य है जो गवय का गौ के साथ सादृश्य बतलाता है। इस वाक्य को सुनने के पश्चात् वह नगरवासी जंगल में जाता है और वहाँ गौ जैसे पशु को देखता है। उसे देखकर वनवासी के वाक्य के अर्थ का स्मरण करता है कि जैसी गाय वैसी नीलगाय। इसके अनन्तर उसे यह प्रतीति होती है कि इस पशुविशेष को नीलगाय (गवय) कहते हैं।

इस प्रक्रिया के तीन अङ्ग हैं (१) गोसदृश पशुविशेष का ज्ञान (अर्थात् उसे प्रत्यक्ष देखना), अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण और (३) यह गोसदृश पशु विशेष गवय कहलाता है या गवय शब्द का वाच्य है; इस प्रकार की प्रतीति।

तर्कभाषा में इन तीनों अङ्गों में से प्रथम तथा द्वितीय को उपमान प्रमाण के अन्तर्गत रक्खा है तथा तृतीय को उपमिति प्रमा बतलाया है। यहाँ प्रमाण का स्वरूप है:—वन में गोसदृश पशुविशेष को देखना (गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम्) तथा उसके साथ ही अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करना (अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतम्)। इस प्रमाण के द्वारा "इस पशुविशेष को नीलगाय कहते हैं" अथवा यह "पशुविशेष गवय शब्द का वाच्य है" इस प्रकार का यथार्थ अनुभव (=प्रमा) होता है। यही प्रमाण का फल है—उपमिति है।

इस उपमिति का स्वरूप है—**संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिः**। किसी वस्तु के नाम को संज्ञा कहते हैं। यहाँ गवय (नीलगाय) शब्द संज्ञा है। जिस वस्तु का नाम होता है, वह संज्ञी कहलाती है। यहाँ जो पशुविशेष (गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड) वन में देखा गया है वही संज्ञी है। इन दोनों का सम्बन्ध इस प्रकार जाना जाता है—इस पशु-

---

१. इदन्तु···अस्ति, इति क्वचिन्नास्ति।

विशेष को गवय कहते हैं (=पिण्डविशेष की गवय संज्ञा है) अथवा गवय शब्द इस पशुविशेष का वाचक है। यह संज्ञा (गवय) तथा संज्ञी (पशुविशेष) के सम्बन्ध की प्रतीति ही उपमान का फल है।

कुछ दार्शनिकसम्प्रदाय (द्र० टि०) उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं मानते। उनके मतानुसार उपमान का प्रत्यक्ष या अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उनके मत का निराकरण करने के लिये कहा गया है—इदन्तु इत्यादि।

भाव यह है—उपमान प्रमाण का नैयायिक ने जो फल माना है उसकी सिद्धि यदि प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा हो सकती तो प्रत्यक्ष या अनुमान में उपमान का अन्तर्भाव माना जा सकता था। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। क्यों? नैयायिक के अनुसार उपमान प्रमाण का फल है संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति। यह प्रतीति प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकती। यदि प्रत्यक्ष से ही ऐसी प्रमा हो जाती तो जिस व्यक्ति को 'यथा गौस्तथा गवयः' यह ज्ञान न होता; वह भी वन में गवय को देखकर यह जान लिया करता कि इस पशुविशेष को गवय कहते हैं, किन्तु ऐसा तो होता नहीं। किञ्च प्रत्यक्ष प्रमा तो इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से होती है। वह प्रमा अतिदेश वाक्य के अर्थ स्मरण की अपेक्षा नहीं रखती। अतः इस प्रमा को प्रत्यक्ष प्रमा नहीं कहा जा सकता। अनुमान द्वारा भी यह प्रमा नहीं हो सकती; क्योंकि यहाँ कोई अनुमापक हेतु नहीं होता। गोसदृशपिण्डज्ञान तथा अतिदेशवाक्य-स्मरण-को संज्ञा संज्ञिसम्बन्ध-प्रतीति का लिङ्ग नहीं माना जा सकता।

टिप्पणी—(i) न्यायसूत्र में उपमान का लक्षण है—'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्य-साधनमुपमानम् (१.१.६)। न्यायभाष्य में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः। कालान्तर में इसका स्वरूप परिष्कृत हुआ। वह परिष्कृत स्वरूप ही तर्कभाषा में दिखलाया गया है। (ii) उपमान का फल है संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धप्रतीति। उपमान को शक्तिग्रह का एक साधन माना गया है—शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च' इत्यादि (iii) उपमान के लक्षण में तर्कभाषाकार ने करण तथा व्यापार का पृथक् निर्देश नहीं किया। आगे इसे स्पष्ट किया गया। तदनुसार सादृश्यज्ञान ही उपमिति का करण है तथा अतिदेश-वाक्यार्थस्मरण उसका व्यापार (अवान्तरव्यापार) है–द्र०–संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः (तर्कसंग्रह)। (iv) मीमांसक के अनुसार उपमान का स्वरूप यह है—'यथा गौस्तथा गवयः' इस अतिदेश वाक्य को सुनने के पश्चात् कोई व्यक्ति वन में जाकर गाय के समान पशु को देखता है तो उसे अनुभव होता है कि इस पशु के सदृश मेरी गाय है। यहाँ गवय-दर्शन (गवय को देखना) ही ज्ञान का करण है अतः वह उपमान प्रमाण है। 'अनेन सदृशी मदीया गौः' (मेरी गाय इसके सदृश है) यह ज्ञान उपमान प्रमाण का फल (उपमिति) है (शास्त्रदीपिका, उपमान परि०)।

(v) **प्रमाणान्तरमुपमानम्**—(क) बौद्ध, (ख) वैशेषिक तथा (ग) सांख्य-

[शब्दः]

आप्तवाक्यं शब्द । आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः। अतएव गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इति पदानि न वाक्यम्, परस्पराकाङ्क्षाविरहात्। 'वह्निना सिञ्चेदिति न वाक्यं योग्यताविरहात्। न ह्यग्निसेकयोः परस्परान्वययोग्यतास्ति। तथा हि अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति करणत्वमग्नेः प्रतिपादितम्। न चाग्निः सेके करणीभवितुं योग्यः। तेन कार्यकारणभाव-

योग उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं मानते उनके मत का निराकरण करने के लिये ही यह कहा गया है। यद्यपि उपमान को पृथक् प्रमाण न मानने वालों में से किन्हीं ने उपमान का शब्द में भी अन्तर्भाव दिखलाया है तथापि यहाँ केवल यही कहा गया है कि उपमान का प्रत्यक्ष तथा अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। नैयायिक ने जो उपमान का फल बताया है, शब्द प्रमाण के द्वारा उसकी प्राप्ति की शङ्का ही नहीं हो सकती। केवल मीमांसक के उपमान के विषय में शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव की शङ्का हो सकती है।

(क) बौद्ध का कथन है—प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपमानं भिद्यते। (द्र० न्या० वा० तथा न्या० वा० ता० १.१.६)। (ख) वैशेषिक ने उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव करते हुए बतलाया है— आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयत्वप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव (प्रशस्त० पृ० ५३०)। 'यदपि गोसदृशस्य गवयशब्दवाच्यत्वज्ञानं तदप्यनुमानम् इत्यादि (न्यायकन्दली पृ० ५३३) (ग) सांख्यतत्त्वकौमुदी (कारिका ५) में उपमान के पृथक्-पृथक् लक्षणों के अनुसार इसका प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम में अन्तर्भाव दिखलाया गया है;

२६. शब्दप्रमाण का निरूपण

आप्त का वाक्य शब्द प्रमाण कहलाता है जैसा पदार्थ है वैसा (यथाभूत) ही उपदेश करने वाला पुरुष आप्त (कहा जाता) है।

प्रमाणों का निर्देश करते समय चतुर्थ प्रमाण शब्द कहा गया है अतः उपमान का निरूपण करके शब्द प्रमाण का निरूपण करते हैं।

(क) वाक्य का लक्षण

आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि (आसत्ति) वाले पदों का समूह वाक्य होता है। इसलिये गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती ये पद (—पदसमूह) वाक्य नहीं है; क्योंकि इनमें परस्पर आकाङ्क्षा का अभाव (विरह) है। 'अग्नि से सींचे' यह (पद समूह) भी वाक्य नहीं; क्योंकि यहाँ योग्यता नहीं है। अग्नि तथा सेचन (—सेक) में परस्पर अन्वय की योग्यता नहीं होती। अभिप्राय यह है (तथा हि) अग्निना (अग्नि से) इस तृतीया विभक्ति के द्वारा सेचनरूप कार्य के प्रति अग्नि का करणत्व (करण या साधन होना) बतलाया गया है; किन्तु अग्नि तो सेचन का साधन होने योग्य नहीं है। इस प्रकार कार्य-कारण-भाव रूप सम्बन्ध में अग्नि तथा सेचन की योग्यता न होने से 'अग्नि से सींचे' यह (पद-समूह) वाक्य नहीं है। इसी प्रकार एक-एक करके पहर-पहर में एक

लक्षणसम्बन्धेऽग्निसेकयोरयोग्यत्वादग्निना सिञ्चेदिति न वाक्यम्। एवमेकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चरितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न वाक्यम् सत्यामपि परस्पराकाङ्क्षायां सत्यामपि परस्परान्वययोग्यतायां परस्परसान्निध्याभावात्।

साथ उच्चारित न किये गये 'गाय को लाओ' इत्यादि पद (पद-समूह) वाक्य नहीं होते, क्योंकि वहाँ परस्पर आकाङ्क्षा होने पर भी तथा परस्पर अन्वय की योग्यता होने पर भी परस्पर सन्निधि (आसत्ति) का अभाव होता है।

'आप्तवाक्यं शब्दः' यह शब्द प्रमाण का लक्षण है। यहाँ 'शब्द' यह लक्ष्य पद है, 'आप्तवाक्यम्' यह लक्षण पद है। इसमें दो अंश है,' आप्त, तथा 'वाक्य'। इन दोनों का अर्थ आगे स्पष्ट किया जा रहा है। जो पदार्थ (=अर्थ) जैसा होता है (यथाभूत) उसको वैसा ही बतलाने वाला (—उपदेष्टा) व्यक्ति आप्त कहलाता है, यथाभूत अर्थ को बतलाने वाला साधारण जन हो अथवा कोई विशिष्ट पुरुष सभी आप्त कहलाते हैं। (ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्, न्या० भा० १. १. ७)। आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों का समूह वाक्य कहलाता है। इस प्रकार आप्त व्यक्ति द्वारा कहे गये आकाङ्क्षा आदि से युक्त पदों का समूह (=वाक्य) शब्द प्रमाण है, यह शब्द प्रमाण का लक्षण होता है।

इस लक्षण में 'पदानाम्' का विशेषण 'आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमताम्' दिया गया है। इसका प्रयोजन यह है—यदि 'पदानां समूहः वाक्यम्' (=पदों का समूह वाक्य है), इतना ही लक्षण किया जाता तो वाक्य का लक्षण पूर्ण न होता। क्यों? आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि इन तीनों में से एक का भी अभाव होने पर कोई पद-समूह किसी अर्थ का पूर्ण बोध नहीं करा सकता फिर वह वाक्य कैसे कहला सकेगा? वाक्य तो वह है जो किसी एक अर्थ का पूर्ण बोध कराता है।

यदि कहीं पदों में परस्पर आकाङ्क्षा न होगी तो पदसमूह वाक्य न हो सकेगा, जैसे गो, अश्व, पुरुष, हस्ती इत्यादि पदों का समूह तो है, किन्तु वाक्य नहीं; क्योंकि इन पदों में परस्पर आकाङ्क्षा नहीं है। आकाङ्क्षा का अर्थ है एक पद का दूसरे के बिना अन्वय-बोध न करा सकना। (पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम् आकाङ्क्षा—तर्कसंग्रह)। जैसे यदि केवल 'गाम्' (=गाय को) यह पद बोला जाये तो यह पद 'आनय' (=लाओ) इत्यादि पद के बिना किसी अन्वित अर्थ का बोध नहीं करा सकता। अतः यह कहा जाता है कि 'गाम्' पद की 'आनय' पद में आकाङ्क्षा है। क्रिया पद तथा कारक पद की परस्पर आकाङ्क्षा होती है तथा सम्बन्धी शब्दों की भी परस्पर आकाङ्क्षा हुआ करती है। जैसा कि अभी आगे स्पष्ट किया जायेगा, वस्तुतः यह आकाङ्क्षा मानव हृदय में होती है; किन्तु औपचारिक रूप से शब्दों में भी मान ली जाती है।

योग्यता के बिना भी कोई पद-समूह वाक्य नहीं बन सकता। योग्यता का

यानि तु साकाङ्क्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येवं वाक्यम् । यथा—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'-इत्यादि। यथा च—'नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति-इति। यथा च तान्येव-'गामानय'-इत्यादि पदान्यविलम्बितोच्चरितानि ।

अर्थ है पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में बाधा न होना (अर्थाबाधो योग्यता), जैसे 'जलेन सिञ्चति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'जल' पद के अर्थ (पदार्थ) में सींचने की योग्यता है; अतः यह वाक्य है। किन्तु 'अग्निना सिञ्चति' यह पद-समूह वाक्य नहीं; क्योंकि वहाँ अग्नि' शब्द से जो तृतीया विभक्ति (अग्निना) की गई है, वह करण कारक को सूचित करती है; अर्थात् अग्नि को सेचन का करण (=साधन) बतलाया गया है या कहिये कि सेचन कार्य के प्रति अग्नि को करण कहा गया है; किन्तु सेचन कार्य अग्नि से नहीं किया जा सकता अतः इनका कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध नहीं बनता। अग्नि में सेचन की योग्यता नहीं। फलतः योग्यता का अभाव होने से 'अग्निना सिञ्चति' इत्यादि पद-समूह वाक्य नहीं होता।

सन्निधि (आसत्ति) के बिना भी कोई पद-समूह वाक्य नहीं कहलाता। सन्निधि का अर्थ है पदों का अविलम्ब से उच्चारण किया जाना। यदि कोई व्यक्ति 'गाम्' (=गाय को) इस पद के उच्चारण के कई घण्टे या कई दिन पश्चात् 'आनय' (=लाओ) पद का उच्चारण करे तो इस पद-समूह से पूर्णतः अर्थ-बोध न होगा। यह ठीक है कि 'गाम्' तथा आनय' पदों में परस्पर आकाङ्क्षा है, इनमें परस्पर अन्वय की योग्यता भी है, किन्तु 'गाम्' पद का उच्चारण करने के पश्चात् विलम्ब से 'आनय' पद का उच्चारण किया गया है। इसलिये यहाँ पदों की सन्निधि नहीं है तथा इस पद-समूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ आकाङ्क्षा 'योग्यता तथा सन्निधि में से किसी एक का भी अभाव होता है उस पद-समूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता; अतः आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों का समूह ही वाक्य है, इस कथन का उपसंहार करते हुए वाक्य के उदाहरण दिखलाते हैं—

जो साकाङ्क्ष, (परस्पर अन्वय के) योग्य तथा सन्निधि से युक्त पद होते हैं वे ही वाक्य (कहलाते) हैं। जैसे 'स्वर्ग की कामना करने वाला ज्योतिष्टोम याग करे' इत्यादि, तथा. जैसे 'नदी-तट पर पाँच फल हैं' इत्यादि वाक्य हैं। और, जैसे वे दो (आकाङ्क्षा तथा योग्यता से विशिष्ट) 'गाम् आनय' (गाय को लाओ) इत्यादि अविलम्ब से उच्चारित पद (वाक्य) होते हैं।

आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि से विशिष्ट पदों का समूह वाक्य कहलाता है। यह वाक्य दो प्रकार का होता है वैदिक तथा लौकिक (वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च, तर्कसंग्रह)। वैदिक वाक्य का उदाहरण है 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'=स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम नामक याग करे। यहाँ 'याग' (यज्ञ)

नन्वत्रापि न पदानि साकाङ्क्षाणि किन्त्वर्थाः फलादीनामाधेयानां तीराद्याधाराकाङ्क्षितत्वात् । न च विचार्यमाणेऽर्था अपि साकाङ्क्षाः आकाङ्क्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात्,

---

साधन है, स्वर्ग साध्य है और स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति उसका अधिकारी है । यहाँ तीनों पद परस्पर आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त हैं अतः यह पद-समूह वाक्य है । लौकिक वाक्य का उदाहरण है 'नदीतीरे' इत्यादि । यहाँ भी पद-समूह आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त है अतः यह भी वाक्य है ।

अब प्रश्न यह है कि ऊपर जिन पद-समूहों को आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि में से किसी एक के अभाव में वाक्य नहीं माना गया, क्या वे भी किसी प्रकार वाक्य हो सकते हैं । इसके उत्तर में 'यथा च तान्येव' इत्यादि कहा गया है । अभिप्राय यह है कि 'गौः अश्वः' इत्यादि पद समूह में आकाङ्क्षा हो ही नहीं सकती । इसी प्रकार 'वह्निना सिञ्चेत्' इत्यादि में योग्यता भी नहीं हो सकती । फलतः ये दोनों पद-समूह वाक्य नहीं बन सकते । किन्तु 'गाम् आनय' इत्यादि पदों का यदि विलम्ब से उच्चारण न किया जाये तो उनमें सन्निधि हो सकती है अतः वह पद-समूह वाक्य बन सकता है । इसलिये यहाँ तान्येव—वे ही (पद) ऐसा कहा गया है । इसका अर्थ यह है, जो पद आकाङ्क्ष-योग्यता विशिष्ट तो हैं; किन्तु सन्निधि के अभाव में वाक्य नहीं कहलाते उनका यदि बिना विलम्ब के उच्चारण किया जाये तो वे वाक्य कहला सकते हैं ।

अभी कहा गया है 'यानि तु साकाङ्क्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि च पदानि तान्येव वाक्यम्' । इस कथन में आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि को पदों का धर्म बतलाया गया है । अब शङ्का तथा समाधान द्वारा इसकी परीक्षा करते हैं कि आकाङ्क्षा आदि पदों के धर्म किस प्रकार हो सकते हैं—

(शङ्का) यहाँ (उपर्युक्त उदाहरणों) में भी पद साकाङ्क्ष नहीं हैं, किन्तु अर्थ ही (अकाङ्क्षायुक्त हैं); क्योंकि फल आदि जो आधेय हैं; उनको तीर आदि आधार की आकाङ्क्षा है । किञ्च, विचार करने पर तो अर्थ भी आकाङ्क्षायुक्त नहीं होते; क्योंकि आकाङ्क्षा इच्छा के रूप में होती है तथा वह चेतन का धर्म है ।

इस शङ्का के दो अंश हैं—(१) शब्द साकाङ्क्ष नहीं होते अपि तु अर्थ साकाङ्क्ष होते हैं, (२) वस्तुतः अर्थ भी साकाङ्क्ष नहीं होते अपि तु आकाङ्क्षा तो चेतन (आत्मा) का धर्म है । अभिप्राय यह है कि ऊपर के सन्दर्भ में 'साकाङ्क्षाणि···पदानि' इत्यादि कथन द्वारा पदों को साकाङ्क्ष कहा गया है तथा 'नदीतीरे पञ्च फलानि इत्यादि कथन द्वारा पदों को साकाङ्क्ष कहा गया है तथा 'नदीतीरे पञ्च फलानि सन्ति' इत्यादि उदाहरणों में भी पदों को ही साकाङ्क्ष दिखलाया गया है किन्तु यह ठीक नहीं । क्यों ?

(१) कहीं भी पद साकाङ्क्ष नहीं होते अपि तु अर्थ साकाङ्क्ष हुआ करते हैं । उदाहरणार्थ नदीतीरे इत्यादि वाक्य में 'फल' शब्द को 'तीर' शब्द की आकाङ्क्षा नहीं है प्रत्युत फल शब्द का जो अर्थ (फल पदार्थ) है वह तीर शब्द के अर्थ में

सत्यम् । अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतर्यन्योन्यविषयाकाङ्क्षाजनकत्वेन साकाङ्क्षा इत्युच्यन्ते। तद्द्वारेण तत्प्रतिपादकानि पदान्यपि साकाङ्क्षाणीत्युपचर्यन्ते । यद्वा पदान्येवार्थान् प्रतिपाद्यार्थान्तरविषयाकाङ्क्षाजनकानीत्युपचारात् साकाङ्क्षाणि । एवमर्थाः साकाङ्क्षा परस्परान्वययोग्याः । तद्द्वारेण पदान्यपि परस्परान्वययोग्यानीत्युच्यन्ते ।

सन्निहितत्वं तु पदानामेकेनैव पुंसा अविलम्बेनोच्चरितत्वम् । तच्च साक्षादेव पदेषु सम्भवति नार्थद्वारा ।

साकाङ्क्ष है। यहाँ फल शब्द का जो अर्थ (फल पदार्थ) है वह आधेय है किसी आधार में रखने योग्य है—अतः वह किसी आधार की आकाङ्क्षा रखता है । वह आधार तीर पद का अर्थ (तट रूप पदार्थ) है । इस प्रकार फल पद का अर्थ तीर पद के अर्थ में साकाङ्क्ष है । इसी प्रकार तीर पद का अर्थ अपने सम्बन्धी नदी-पद के अर्थ में साकाङ्क्ष है । इससे प्रतीत होता है कि अर्थ साकाङ्क्ष होते हैं, पद नहीं । किञ्च, जब सूक्ष्मता से विचार किया जाता है तो यह विदित होता है कि अर्थ भी साकाङ्क्ष नहीं होते । कैसे ?

(२) आकाङ्क्षा चेतन का धर्म है । अर्थ (—पदार्थ) तो अचेतन हैं अतः पदार्थ साकाङ्क्ष नहीं होते । उदाहरणार्थ 'घटम् आनय' इत्यादि वाक्य का एक शब्द 'घटम्' (=घट को) किसी ने सुना तो श्रोता के मन में एक आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है कि घट को लाना है, ले जाना है या देखना है इत्यादि । इसी प्रकार जब केवल 'आनय' (=लाओ) यह पद सुना जाता है तो श्रोता के मन में यह आकाङ्क्षा होती कि किस पदार्थ को लाना है । इस प्रकार की जिज्ञासा ही आकाङ्क्षा कही जाती है । और यह आकाङ्क्षा न शब्दों में रहती है न ही अर्थों में रहती है अपि तु श्रोता के मन में हुआ करती है । वह चेतन प्राणी का धर्म है ।

इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है—

(समाधान) ठीक है (कि पद या अर्थ साक्षात् रूप से आकाङ्क्षायुक्त नहीं होते, किन्तु); अर्थ तो अपने (वाचक) पद को सुनने वाले (के हृदय) में एक दूसरे (पद) के प्रति आकाङ्क्षा उत्पन्न करते हैं अतः साकाङ्क्ष कहे जाते हैं । उन (अर्थों) के द्वारा उनके वाचक पद भी उपचार से साकाङ्क्ष कहलाते हैं । अथवा पद ही (अपने) अर्थों का प्रतिपादन करके अन्य अर्थ के विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न करते हैं । इसलिये उपचार से आकाङ्क्षायुक्त कहे जाते हैं ।

इस प्रकार जब आकाङ्क्षायुक्त अर्थ परस्पर अन्वय के योग्य होते हैं तो उन (अर्थों) के द्वारा पद भी (उपचार से) परस्पर अन्वय के योग्य कहलाते हैं ।

एक ही व्यक्ति द्वारा पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण किया जाना ही सन्निधि (=सन्निहितत्व) है । और, वह पदों में साक्षत् रूप से हो सकती अर्थ के द्वारा नहीं ।

इस सन्दर्भ में उपर्युक्त शङ्का का समाधान किया गया है । भाव यह है— यह शङ्का ठीक है कि शब्द आकाङ्क्षायुक्त (=आकाङ्क्षा के आधार) नहीं होते ।

वस्तुतः आकाङ्क्षा श्रोता में ही रहती है, अर्थात् आकाङ्क्षा का आधार चेतन ही है फिर भी औपचारिक रूप से पदों में भी आकाङ्क्षा रहा करती है । इस औपचारिकता के दो अभिप्राय हैं (१) जब घट अर्थ के प्रतिपादक (स्व=अर्थ, स्वपद=अर्थप्रतिपादक शब्द) घटम्' (=घट को) श्रोता सुनता है तो उसके अर्थ का बोध होने पर श्रोता के मन में 'आनय' (लाओं) इत्यादि पद के विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार एक अर्थ दूसरे अर्थ तथा पद के विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न किया करता है—अर्थ श्रोता के मन में आकाङ्क्षा का जनक होता है । इसलिये अर्थ को साकाङ्क्ष कह दिया जाता है । और पद आकाङ्क्षा-जनक अर्थ का प्रतिपादन करता है अतः उसे भी औपचारिक रूप से साकाङ्क्ष कह दिया जाता है। भाव यह है कि आकाङ्क्षा का आधार तो चेतन ही होता है; किन्तु उसका जनक तो अर्थ होता ही है । इसलिये जनकता-सम्बन्ध से अर्थ को साकाङ्क्ष कहा जाता है। और, पद उस अर्थ का वाचक होता है । इसलिये परम्परया जनकता सम्बन्ध से (उपचार से) पद को भी साकाङ्क्ष कहा जाता है । अथवा (२) परम्परया आकाङ्क्षा का जनक होने से नहीं, अपितु साक्षात् रूप में आकाङ्क्षा का जनक होने से ही पदों को साकाङ्क्ष कह दिया जाता है । पद ही किन्हीं अर्थों को बताकर अन्य अर्थो के विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न करते हैं अतः पद ही श्रोता के मन में आकाङ्क्षा के जनक हैं इसलिये पदों को जनकतासम्बन्ध से औपचारिक रूप में आकाङ्क्षायुक्त कह दिया जाता है । इस प्रकार पद अपने अर्थ का प्रतिपादन करके श्रोता के मन में अन्य पद के विषय में अथवा अन्य अर्थ के विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न किया करते हैं अतः औपचारिक रूप से आकाङ्क्षायुक्त कहे जाते हैं ।

एवमर्था······उच्यन्ते—इत्यादि में बतलाया गया है कि 'योग्यतावन्ति पदानि' इत्यादि प्रयोग भी औपचारिक ही समझना चाहिये । योग्यता का अभिप्राय है आकाङ्क्षायुक्त अर्थों में परस्पर अन्वित होने का सामर्थ्य । वस्तुतः यह योग्यता अर्थों में रहती है । एक-दूसरे के प्रति आकाङ्क्षायुक्त अर्थों का ही परस्पर अन्वय हुआ करता है । अतः अर्थ ही परस्पर अन्वय के योग्य हुआ करते हैं, शब्द नहीं । किन्तु जो शब्द अन्वय योग्य अर्थों का प्रतिपादन करते हैं वे अन्वय योग्य पद कहे जाते हैं इस प्रकार पदों को योग्यताविशिष्ट कहना भी औपचारिक ही है ।

सन्निधि या आसत्ति की स्थिति तो आकाङ्क्षा एव योग्यता से नितान्त भिन्न है यह 'सन्निहितत्वं तु नार्यद्वारा' पंक्ति में बतलाया गया है । सन्निधि का अभिप्राय है—एक ही व्यक्ति के द्वारा अविलम्ब से पदों का उच्चारण किया जाना । जब कोई व्यक्ति आकाङ्क्षायुक्त तथा योग्यता-विशिष्ट पदों का विना विलम्ब के उच्चारण करता है तो वहाँ पदों की सन्निधि कही जाती है । अविलम्ब का अर्थ है—दो साकाङ्क्ष पदों के उच्चारण के मध्य में जो अनिवार्य काल है उससे अधिक काल न होना। किञ्च, जिस प्रकार साकाङ्क्ष पद ही परस्पर अन्वय के योग्य होते हैं उसी प्रकार

तेनाऽयमर्थः सम्पन्नः । अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तरविषयां वाकाङ्क्षां जनयतां प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम् ।

साकाङ्क्षा तथा योग्य पदों का अविलम्ब से उच्चारण ही सन्निधि होती है 'यह समझना चाहिये । फलतः' पर्वतः खादति अग्निमान् देवदत्तः' इस पद-समूह में अविलम्ब से उच्चारण किये जाने पर भी सन्निधि नहीं होती । यहाँ 'पर्वतः' पद 'अग्निमान्' के प्रति साकाङ्क्ष है तथा दोनों परस्पर अन्वय के योग्य भी हैं । इसी प्रकार 'खादति' एवं 'देवदत्तः' दोनों पद भी साकाङ्क्ष एवं योग्यता-विशिष्ट हैं । किन्तु जो दो पद साकाङ्क्ष एवं योग्यता-विशिष्ट हैं उनमें सन्निधि नहीं है । अतः सन्निधि के अभाव में यह पद-समूह वाक्य नहीं ।

संक्षेप में आकाङ्क्षा वस्तुतः श्रोता में होती है उस आकाङ्क्षा का जनक अर्थ या पद होता है अतः औपचारिक रूप से पद भी साकाङ्क्ष कहे जाते हैं । अन्वय योग्यता भी साक्षात् रूप से अर्थों में रहती है, उनके प्रतिपादक पदों को औपचारिक रूप से योग्यता-विशिष्ट कहा जाता है । किन्तु सन्निधि तो पदों में साक्षात् रूप से रहती है ।

इस प्रकार 'वाक्य' तु—आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः' इस वाक्य के लक्षण में आये हुए आकाङ्क्षा आदि पद का प्रयोजन दिखलाकार तथा आकाङ्क्षा आदि का युक्तिसंगत स्वरूप बतलाकर वाक्य का परिष्कृत लक्षण दिखलाते हैं—

इसलिये यह अर्थ हुआ—अर्थ-प्रतिपादन के द्वारा अन्य पद के विषय में अथवा अन्य अर्थ के विषय में श्रोता की आकाङ्क्षा उत्पन्न करने वाले तथा अबाधित (=प्रतीयमान) परस्पर अन्वय के योग्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाले और अविलम्ब से उच्चारित (सन्निहितानाम्=सन्निधियुक्तानाम्) पदों का समूह वाक्य कहलाता है ।

नन्वयादि··· नार्थद्वारा, इस सन्दर्भ में यह प्रतिपादित किया गया है कि पद उपचारतः आकाङ्क्षायुक्त तथा तथा योग्यता-विशिष्ट कहे जाते हैं; किन्तु उनमें सन्निधि साक्षात् रूप से होती है । इसलिये (=तेन) वाक्य के लक्षण का यह परिष्कृत अर्थ करना चाहिये—'अर्थप्रतिपादनद्वारा वाक्यम् । (द्र० ऊपर अनुवाद तथा व्याख्या) ।

टिप्पणी--पदान्तरविषयाम् अर्थान्तरविषयां वा आकाङ्क्षाम्—(१) किसी पद को सुनकर तथा उसका अर्थ जानकर श्रोता के मन में अन्य पद (पदान्तर) की आकाङ्क्षा होती है, इस मत के अनुसार पद अर्थ—प्रतिपादन द्वारा पदान्तर-विषयक आकाङ्क्षा के जनक होते हैं (द्र० अर्थास्तावत् उपचर्यन्ते, का अनुवाद तथा व्याख्या) । (२) किसी पद को सुनकर तथा अर्थ जानकर श्रोता के मन में अन्य अर्थ की आकाङ्क्षा होती है, इस मत के अनुसार पद अर्थ-प्रतिपादन-द्वारा अर्थान्तरविषयक

पदं च वर्णसमूहः। समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः। एवं च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेन एकदाऽनेकवर्णानुभवासम्भवात् पूर्वपूर्ववर्णाननुभूय, अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन अन्त्यवर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते सहकारिदाढर्यात् प्रत्यभिज्ञानवत्। प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे ह्यतीतापि पूर्वावस्था स्फुरत्येव।

आकाङ्क्षा के जनक होते हैं। (द्र० 'यद्वा साकाङ्क्षाणि का अनुवाद तथा व्याख्या)

(ii) प्रतीयमान०—'प्रतीयमान जो परस्पर अन्वय, उसके योग्य अर्थ के प्रतिपादक पदों का (प्रतीयमानो यो परस्परान्वयः, तद्योग्यस्य अर्थस्य प्रतिपादकानाम्)। यहाँ 'प्रतीयमान का अर्थ है ज्ञायमान, प्रतीत होने वाला अर्थात् बाधित न होने वाला (अबाधितान्वयानाम्, गोर्वधन)। यह शब्द परस्परान्वय का विशेषण है। भाव यह है कि शाब्दबोध के अवसर पर श्रोता को इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिये कि ये अर्थ परस्पर अन्वय के योग्य हैं। अन्वय-बोध के समय इस प्रतीति का बाध नहीं होना चाहिये। उत्तर काल में इस प्रतीति का बाध हो जाये तो भी पद-समूह वाक्य कहलाता ही है। इसीलिये 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादि जो लक्षणा के विषय हैं वहाँ भी वाक्य का लक्षण घटित हो जाता है, क्योंकि वहाँ भी प्रतीयमान परस्पर अन्वय की योग्यता है।

(ख) पद का लक्षण तथा पदप्रतीति

आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों का समूह ही वाक्य है, यह कहा गया है। इस पर यह जिज्ञासा होती है कि पद किसे कहते हैं। अतः पद का स्वरूप बतलाते हैं:—

वर्णों का समूह पद (कहा जाता) है। यहाँ समूह (का अभिप्राय) है एक ज्ञान का विषय होना। इस प्रकार (यद्यपि) क्रम से उत्पन्न होने वाले वर्णों का अत्यन्त शीघ्र नाश हो जाने के कारण एक काल में अनेक वर्णों का अनुभव होना सम्भव नही है तथापि पूर्व-पूर्व वर्णों का अनुभव करके अन्तिम वर्ण को सुनने के समय (क) पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहकार से युक्त, (ख) अन्तिम वर्ण से सम्बन्ध रखने वाले, (ग) पद-बोधन के संकेत—ग्रह (=समयग्रह) से अनुगृहीत श्रोत्र के द्वारा एक काल में ही (=एकदैव) विद्यमान (=सत्, अर्थात् अन्तिम वर्ण) एवं अविद्यमान (=असत् अर्थात् नष्ट हुए पूर्व वर्ण) अनेक वर्णों का ग्रहण (=अवगाहन) करने वाले पद की प्रतीति उत्पन्न हो जाती है, ऐसा सहकारी (संस्कार) की दृढ़ता से होता है, जैसा कि प्रत्यभिज्ञा में हुआ करता है। क्योंकि (सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि) प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष में अतीत काल की पूर्वावस्था भासित हुआ करती है।

पद का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि वर्णों का समूह पद कहलाता है। इस पर प्रश्न यह है कि जहाँ अनेक वस्तुयें एक स्थान पर एक काल में उपस्थित

होती हैं वहाँ उनका समूह कहा जाता है; जैसे अनेक आम्र के वृक्ष यदि एक स्थान में एक साथ खड़े हों तो आम्र-समूह कहलाता है। किन्तु अनेक वर्ण तो एक साथ सुने ही नहीं जा सकते अतः उनका समूह कैसे बन सकता है ?

इसके उत्तर में कहा गया है—'समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः (द्र०, अनुवाद)। भाव यह कि वृक्ष आदि के समान वर्णों का समूह बन नहीं सकता, यह ठीक है। इसीलिये यहाँ 'समूह' शब्द का अर्थ यह है कि जो वर्ण एक ज्ञान के विषय होते हैं—एक ज्ञान में भासित होते हैं—उनका एक समूह माना जाता है। इस प्रकार वर्णों का समूह बौद्धिक=बुद्धिकृत है।

इस पर शङ्का यह हो सकती है कि वर्णों का बौद्धिक समूह भी नहीं बन सकता; क्योंकि अनेक वर्ण एक ज्ञान के विषय ही नहीं हो सकते—अनेक वर्णों का एक साथ अनुभव नहीं हो सकता (एकदाऽनेकवर्णानुभवासम्भवात्)। कारण यह है कि वर्ण क्रम से उत्पन्न होते हैं और उनका अत्यन्त शीघ्र नाश हो जाता है (वर्णानां क्रमवताम् आशुतरविनाशित्वेन)। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति एक काल में एक वर्ण का उच्चारण करता है, उसके पश्चात् दूसरे वर्ण का। वह एक साथ अनेक वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकता, अपि तु क्रम से ही उनका उच्चारण कर सकता है। इसलिये वर्ण क्रम से उत्पन्न होने वाले हैं। यद्यपि क्रम से उत्पन्न होने वाले अनेक घट आदि का भी द्रष्टा को एक साथ अनुभव हो जाया करता है तथापि वर्णों का एक साथ अनुभव होना संभव नहीं है। क्यों ? वर्ण आशुतर विनाशी हैं, प्रत्येक वर्ण का केवल तीन क्षण से सम्बन्ध है। प्रथम क्षण में कोई वर्ण उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में यह स्थित रहता है तभी वह सुना जाता है और तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। जब कोई व्यक्ति 'घट' शब्द का उच्चारण करता है तो इसमें घ्+अ+ट्+अ' इन चार वर्णों का उच्चारण करना होता है। इन चारों का उच्चारण क्रम से किया जाता है। एक के बाद दूसरा वर्ण नष्ट हो जाता है। इसलिये श्रोता 'घ्+अ+ट्+अ' चारों वर्णों को एक साथ नहीं सुन सकता। उसे एक साथ अनेक वर्णों का अनुभव नहीं हो सकता। फिर वे एक ज्ञान के विषय कैसे होगे ?

इस शङ्का का समाधान 'पूर्वपूर्ववर्णान् अनुभूय······जन्यते' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा किया गया है। भाव यह है:—श्रोता पूर्व पूर्व वर्ण का श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्रहण (अनुभव) करता है। वे वर्ण तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु उनका अनुभव श्रोता के मन में एक संस्कार (Impression) छोड़ जाता है। जब श्रोता किसी पद के अन्तिम वर्ण को सुनता है तो उस समय (क) पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार विद्यमान होते हैं (ख) उसकी श्रोत्र इन्द्रिय अन्तिम वर्ण का साक्षात् अनुभव करती है तथा (ग) श्रोता ने पदों के विषय में जो 'यह घट पद है, यह पट पद है' इस प्रकार का संकेतग्रह किया था; अर्थात् इस रूप में पदों को जाना था उसका भी सहयोग प्राप्त होता है। परिणाम यह होता है कि श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा एक काल में ही पहिले

उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाले (=असत् घ्+अ+ट् आदि) तथा उस समय साक्षात् रूप से अनुभूयमान (अन्तिम अ आदि) वर्णों का ग्रहण करने वाली 'घट' इत्यादि पद की प्रतीति हो जाया करती है। इस प्रकार क्रम से उत्पन्न होने वाले किञ्च आशुतर विनाशी वर्ण भी एक ज्ञान के विषय हो जाया करते हैं। और वर्णों का समूह पद है, यह पद का लक्षण संगत ही है।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभवजन्य संस्कार से युक्त श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा भी अतीत तथा विद्यमान वर्णों की एक साथ प्रतीति नहीं हो सकती। जिस विषय के अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न हुआ करते हैं, वे संस्कार उस विषय का स्मरण मात्र कराया करते हैं, उससे भिन्न कार्य में उनका सामर्थ्य नहीं होता; अतः उन संस्कारों के सहकार से भी सद्-असद् वर्णों का एक साथ अवगाहन करने वाली प्रतीति नहीं हो सकती।

इसके उत्तर में कहा गया है—सहकारिदार्ढ्यात्······स्फुरत्येव। भाव यह है:—अनुभव से यह स्पष्ट है कि यदि संस्कार दृढ़ होता है तो स्मृति से भिन्न अन्य कार्य का भी निमित्त हो जाता है; उदाहरणार्थ हमने कल इन्द्रप्रस्थ में देवदत्त को देखा था, आज हम उसे कुरुक्षेत्र में देख रहे हैं तो हमें यह अनुभव हो जाता है 'सोयं देवदत्तः, (यह वही देवदत्त है)। यही अनुभव प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। संस्कार भी इस प्रत्यभिज्ञा में निमित्त हुआ करता है। यह संस्कार चक्षु का सहकारी हो जाता है और चक्षु के द्वारा ही (चाक्षुष प्रत्यक्ष से) 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा हुआ करती है। इस प्रत्यभिज्ञा में पूर्व अनुभूत विषय की अतीतावस्था तथा वर्तमान में अनुभूयमान वर्तमान अवस्था दोनों का भान (स्फुरण) हुआ करता है। 'वह' (सः→तत्ता) अंश में देवदत्त की पूर्वावस्था का अनुभव होता है तथा 'यह' (अयम्→इदन्ता) अंश में देवदत्त की वर्तमान अवस्था का भान होता है। जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय के सहकारी संस्कार की दृढ़ता से पूर्वावस्था तथा वर्तमान अवस्था का एक साथ भान हो जाता है, इसी प्रकार पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कार की दृढ़ता से श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा भी सद्-असद् वर्णों का एक साथ भान होना सम्भव है। यद्यपि अकेली इन्द्रिय या संकार में इस प्रकार की प्रतीति का सामर्थ्य नहीं है तथापि दोनों में मिलकर इस प्रकार का सामर्थ्य हो ही जाता है (प्रत्यभिज्ञा के विषय में ऊपर पृ० १७ भी देखिये)।

टिप्पणी—(i) पदं च वर्णसमूहः—शब्द या पद से अर्थ का बोध होता है, यह सर्वसम्मत है। किन्तु श्रूयमाण वर्णों का समूह ही शब्द है अथवा उनसे भिन्न कोई शब्द है? इस पर वादी (वैयाकरण) का कथन है कि क्रम से उत्पन्न होने वाले तथा आशुतर विनाशी वर्णों का समुदाय नहीं हो सकता अतः वर्णों (ध्वनियों) से अभिव्यक्त होने वाला शब्द 'स्फोट' रूप में है उसी से अर्थबोध होता है। सिद्धान्ती न्या०-वै० का मत है कि वर्णों का समूह ही पद है (द्र०, ऊपर व्याख्या)। (ii) एक-

ततः पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेनान्त्यपदविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेनानेकपदावगाहिनी वाक्यप्रतीतिः क्रियते ।

ज्ञानविषयीभावः = एकज्ञानविषयत्वम् = एकं पदम् इति ज्ञानविषयत्वम् (चि०) । जो वर्ण 'यह एक पद है' इस प्रकार के ज्ञान का विषय होते हैं वे (या वह) पद कहलाते हैं । यहाँ समूह शब्द का ऐसा अर्थ मानने पर एक तो इस शङ्का का निराकरण हो जाता है कि आशुतर विनाशी वर्णों का समूह नहीं हो सकता; दूसरे 'अ' (=विष्णु) इत्यादि एकवर्णात्मक पद में भी यह लक्षण चला जाता है; क्योंकि उसमें भी 'यह एक पद है' इस प्रकार का ज्ञान हुआ करता (iii) **श्रोत्रेणः......पदप्रतीतिर्जन्यते**—न्या०-वै० के अनुसार श्रोत्र द्वारा पद का अनुभव होता है । यह अनुभव प्रत्यभिज्ञा के समान ही इन्द्रिय-जन्य होता है, किन्तु इसमें श्रोत्र इन्द्रिय के तीन सहकारी भी होते हैं (द्र०, ऊपर व्याख्या) । (iv) **अन्त्यवर्णसम्बन्धेन**—यह श्रोत्र का विशेषण है, अन्त्यवर्णेन सम्बन्धो यस्य तथाभूतेन । यहाँ सम्बन्ध का अर्थ है समवाय । श्रोत्र इन्द्रिय का अन्तिम वर्ण के साथ समवाय सम्बन्ध होता है ।

(v) **पदव्युत्पादन**—यह भी श्रोत्रेण का विशेषण है, पदव्युत्पादनस्य यः समयग्रहः (=सङ्केतग्रह) तदनुगृहीतेन । भाव यह है:—जिस प्रकार अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः' (इस पद से यह अर्थ जानना चाहिये)' इस प्रकार के संकेतग्रह से पद के अर्थ (पदार्थ) का बोध होता है उसी प्रकार घ+ट घट अर्थात् घ (घ्+अ) तथा ट (ट्+अ) वर्णों के मिलने से घट शब्द बनता है, इस प्रकार के संकेतग्रह से घट आदि पद का ज्ञान हुआ करता है । इस प्रकार के पद-ज्ञान का संकेतग्रह कर लेने वाले श्रोता को ही घट के अन्तिम वर्ण का अनुभव करने के साथ-साथ घट पद की प्रतीति हुआ करती है । अतः इस प्रकार के संकेतग्रह को पद-प्रतीति में निमित्त माना गया है । अथवा पाणिनि ने 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र से पद संज्ञा की है । न्याय में 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' इस प्रकार पद का स्वरूप बतलाया गया है । जो श्रोता पद के इस स्वरूप को जानता है, इस पद-बोधन-विषयक संकेतग्रह से परिचित है, वही 'घटम् आनय' इत्यादि वाक्य को सुनकर 'घटम्' इस पद के अन्तिम वर्ण का अनुभव करते समय पद की प्रतीति कर सकता है । यदि उसे पद के स्वरूप का परिचय न होगा तो वह 'घटम्' के 'घ्' अंश पर या 'घ' अंश पर ही पद होने की शङ्का करने लगेगा तथा उसे पद-प्रतीति न होगी (मि०. चि०) ।

(ग) पदों में वाक्य-प्रतीति

उपर्युक्त प्रकार से आशुतर-विनाशी वर्णों में भी पद-प्रतीति हो सकती है (पद-प्रतीति के लिये स्फोट की कल्पना आवश्यक नहीं) इस न्याय-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । अब यह बतलाते हैं कि भिन्न-भिन्न पदों में वाक्य-प्रतीति कैसे होती है:—

उस (पद-प्रतीति) के पश्चात् (क) पूर्व-पूर्व पद के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहकार से युक्त, (ख) अन्तिम पद का ग्रहण करने वाले तथा (ग) पदों के अर्थबोध से अनुगृहीत श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा अनेक पदों का ग्रहण करने वाली वाक्य-प्रतीति हो जाती है ।

प्रस्तुत सन्दर्भ का सारांश—श्रोत्रेन्द्रियेण वाक्य-प्रतीतिः क्रियते; अर्थात् श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा वाक्य-प्रतीति हो जाती है। इस वाक्यप्रतीति का स्वरूप है—अनेक पदावगाहिनी = अनेक पदों का ग्रहण करने वाली। भाव यह है कि 'वाक्यं पदानां समूहः' यहाँ भी समूह शब्द का अर्थ है—एक प्रतीति का विषय होना। जब अनेक पदों (या एक पद) में इस प्रकार की प्रतीति होती है कि 'यह एक वाक्य है' तो वह पद-समूह (या पद) वाक्य कहलाता है। जिस प्रकार एकवर्णात्मक पद होता है उसी प्रकार एकपदात्मक वाक्य भी हो सकता है।

केवल श्रोत्र इन्द्रिय से ही वाक्य-प्रतीति नहीं होती। पदप्रतीति के समान वाक्य-प्रतीति में भी श्रोत्र इन्द्रिय के तीन सहकारी होते हैं:—(क) पूर्व-पूर्व पदों के अनुभव से उत्पन्न हुआ संस्कार, (ख) अन्तिम पद का श्रोत्र द्वारा ग्रहण, (ग) श्रोता को होने वाली पदार्थ-प्रतीति। इन तीनों सहकारी कारणों में प्रथम दो तो पद-प्रतीति के समान ही हैं। तृतीय की सहकारिता किञ्चित् विचारणीय है। ऊपर कहा गया है कि आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों का समूह वाक्य है। किन्तु पदों की परस्पर आकाङ्क्षा तथा अन्वय-योग्यता का बोध तभी हो सकता है जब पदों के अर्थ (=पदार्थ) की प्रतीति (—पदार्थ-प्रत्यय) हो जाये। इसलिये वाक्य की प्रतीति में पदार्थ-प्रतीति को भी निमित्त माना गया है। इस प्रकार आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों का समूह ही वाक्य है। इससे भिन्न वाक्य-स्फोट की कल्पना न्या०-वै० को अभीष्ट नहीं।

टिप्पणी—(i) पदार्थ-प्रत्यय०—सारमञ्जरी; नामक तर्कभाषा-टीका में पदार्थ शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। (ii) वाक्यं तु आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः, इस कथन से तथा 'पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेन' इस कथन से भी यह प्रतीत होता है कि न्याय-वैशेषिक अभिहितान्वयवादी है। वाक्य के अर्थ के विषय में दो वाद हैं—(१) अभिहितान्वयवाद तथा (२) अन्विताभिधानवाद। प्रश्न यह है कि वाक्य से प्रतीत होने वाला अर्थ (१) शब्दों के अर्थ से भिन्न कोई नवीन अर्थ होता है। अथवा (२) शब्दों के अर्थों (पदार्थों) का समूहमात्र होता है।

(१) इस विषय में अभिहितान्वयवादी (न्याय-वैशेषिक तथा कुमारिल भट्ट आदि) का मत है कि शब्दों के अर्थ से भिन्न एक नवीन अर्थ वाक्यार्थ के रूप में प्रकट हुआ करता है। इसका क्रम यह है:—पद अपनी अभिधा आदि वृत्ति से अपने अर्थों (—पदार्थ) को बतला देते हैं फिर उन (अभिहित) अर्थों (अथवा अर्थ-प्रतिपादक पदों) का आकाङ्क्षा आदि के कारण परस्पर अन्वय हो जाता है। इस प्रकार पदों द्वारा अभिहित अर्थों का परस्पर अन्वय हो जाता है—अभिहितानाम्अन्वयः—अभिहितान्वयः। इस मन्तव्य (—वाद) का नाम है अभिहितान्वयवाद (अभिहितान्वय सम्बन्धी वाद)। इस वाद को मानने वाले अभिहितान्वयवादी कहे जाते हैं।

(२) दूसरी ओर प्रभाकर (मीमांसक) का मत है कि परस्पर सम्बन्ध न रखने

तदिदं वाक्यमाप्तपुरुषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम्। फलन्त्वस्य वाक्यार्थज्ञानम्। तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम्। लोके त्वयं विशेषो यः कश्चिदेवाप्तो भवति, न सर्वः। अतः किञ्चिदेव लौकिकं वाक्यं प्रमाणं यदाप्तवक्तृकम्। वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात्।

वाले पृथक्-पृथक् अर्थों का पदों द्वारा अभिधान हो नहीं होता। पद परस्पर सम्बद्ध (—अन्वित) अर्थ को ही अभिहित करते हैं। वस्तुतः व्यवहार आदि के द्वारा अन्वित अर्थ में ही संकेतग्रह या शक्तिग्रह हुआ करता है। अभिधा आदि के द्वारा पद अन्वित अर्थ का ही कथन करते हैं (अन्विताभिधानम्), इस वाद को मानने वाले प्रभाकर के अनुयायी अन्विताभिधानवादी कहे जाते हैं। इनके अनुसार पदों का अर्थ ही वाक्यार्थ होता है।

(iii) पदार्थ०—पद का अर्थ पदार्थ कहलाता है। यह पदार्थ क्या है? इस विषय में भारतीय विचारकों का विवाद रहा है। नव्य नैयायिक के मत में व्यक्ति ही पदार्थ है। मीमांसक की दृष्टि में जाति पदार्थ है। बौद्ध-मत में अपोह—अतद्व्यावृत्ति—तद्-भिन्न-भिन्नत्व पदार्थ है। वैयाकरणों ने जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य (यादृच्छिक)—यह चार प्रकार का पदों का अर्थ स्वीकार किया है—गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादी चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः (पतञ्जलि, महाभाष्य)। इसी मत को मम्मट आदि आचार्यों ने साहित्यशास्त्र में भी स्वीकार किया है (काव्यप्रकाश २·८)। तर्कभाषा न्या०-वै० सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। अतः यहाँ प्राचीन न्या०-वै० के अनुसार जाति-विशिष्ट (अथवा व्यक्ति-आकृति-जाति तीनों) ही पदार्थ हैं।

(घ) शब्दप्रमाण का फल तथा उसका क्षेत्र

इस प्रकार 'आप्तवाक्यं शब्दः' इस शब्द प्रमाण के लक्षण में आये हुए 'आप्त' तथा 'वाक्य' शब्द की व्याख्या करके शब्द प्रमाण के लक्षण का उपसंहार करते हैं:—

इस प्रकार यह वाक्य आप्त पुरुष के द्वारा प्रयुक्त होकर शब्द नामक प्रमाण (कहलाता) है। इसका फल है वाक्य के अर्थ का ज्ञान। यह शब्द नामक प्रमाण लोक तथा वेद दोनों में समान रूप से होता है। किन्तु लोक में अन्तर (विशेषः=भेद) यह है कि कोई कोई (व्यक्ति) ही आप्त होता है सब (आप्त) नहीं होते। इसीलिये कोई लौकिक वाक्य ही प्रमाण हुआ करता है जिसका वक्ता आप्त (पुरुष) होता है। परन्तु वेद में तो सभी वाक्य परम आप्त परमात्मा द्वारा रचित हैं अतः सभी प्रमाण हैं, क्योंकि सभी आप्तवाक्य हैं।

'आप्तवाक्यं शब्दः' इस लक्षण में शब्द (प्रमाण) लक्ष्य है। यहाँ 'शब्द' की व्युत्पत्ति है शब्द्यतेऽनेन इति; अर्थात् शाब्दी प्रमा का करण, शब्द प्रमाण है। सभी शब्द तो प्रमाण नहीं होते अपि तु विशिष्ट शब्द ही प्रमाण होते हैं, यह 'आप्तवाक्यम्' इस लक्षण द्वारा बतलाया गया है। जो शब्द आप्तों द्वारा कहे गये वाक्य के रूप में

है वही शब्द प्रमाण हैं। फलतः आप्तवाक्य होना (आप्तवाक्यत्व) यह शब्द प्रमाण का असाधारण धर्म है—लक्षण है।

श्रोता को आप्तवाक्य का ज्ञान होता है और उससे श्रोता को उस वाक्य के अर्थ का बोध होता है। यहाँ वाक्य के अर्थ का बोध ही शाब्दी प्रमा है शब्दप्रमाण का फल है। उसका करण है आप्तवाक्य। श्रोता को उस वाक्य की प्रतीति ही अवान्तर व्यापार कहा जा सकता है; किन्तु तर्कभाषा में उसका उल्लेख नहीं किया गया।

शब्द प्रमाण का उपर्युक्त लक्षण लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के वाक्यों में समान रूप से घटित होता है। अतः न्या०-वै० के अनुसार जो भी आप्तवाक्य होता है वह प्रमाण होता है। आप्तता के लिये दो बातें आवश्यक हैं—एक तो कोई व्यक्ति उस पदार्थ को ठीक प्रकार से जानता हो, दूसरे वह उसको ठीक प्रकार से बतलाये (यथार्थद्रष्टा यथार्थवक्ता चाप्तो भवति)। यही 'बात यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा' शब्दों में ऊपर कही गई है। जैसा पदार्थ है वैसा बतलाने वाला पुरुष आप्त है, आप्त का यह लक्षण मनुष्य मात्र के लिये समान है। इसलिये शब्द प्रमाण कहलाने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि किसी शास्त्रविशेष या ऋषि-मुनि-विशेष का ही वाक्य हो वह आप्त होने वाले जन-साधारण का भी वाक्य हो सकता है। इसलिये यहाँ 'लोके वेदे च समानम्' ऐसा कहा गया है।

फिर भी न्या०-वै० सम्प्रदाय में वैदिक तथा लौकिक वाक्यों की, प्रामाणिकता के विषय में कुछ अन्तर किया जाता है। यहाँ यह माना जाता है कि वेद ईश्वर प्रणीत है। वह ईश्वर समस्त पदार्थों का यथार्थद्रष्टा, राग आदि दोषों से रहित एवं परमकारुणिक है। इसलिये प्राणी मात्र के हित के लिये यथाभूत अर्थ का उपदेश किया करता है। अतः वेद के सभी वाक्य शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं। दूसरी ओर लोक के सभी वाक्य प्रमाण नहीं होते। लोक में तो कोई-कोई पुरुष ही यथाभूत अर्थ का ज्ञाता होता है। यथाभूत अर्थ को जानने वालों में भी सभी यथार्थ कथन नहीं करते अतः सभी आप्त नहीं होते। जो आप्त होते हैं, उनका वाक्य ही प्रमाण होता है अन्यों का नहीं।

टिप्पणी—(i) वाक्यम्.........प्रमाणम्—यहाँ आप्तवाक्य को प्रमाण तथा वाक्यार्थज्ञान को उसका फल (—प्रमा) कहा गया है वाचस्पतिमिश्र ने 'आप्तोपदेशः शब्दः (न्याय० सू० १.१.७) की तात्पर्यटीका में वाक्यज्ञान अथवा वाक्यार्थज्ञान को प्रमाण बतलाया है और वाक्य ज्ञान को प्रमाण मानने के पक्ष में वाक्यार्थ ज्ञान को फल बताया है तथा दूसरे पक्ष में हानादि बुद्धि को फल कहा है। इस प्रकार शब्द प्रमाण में भी प्रत्यक्ष के समान विविध दृष्टियों से प्रमाकरण का विचार किया जा सकता है।

(ii) शब्द प्रमाण है या नहीं, इस विषय में भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों में मत-भेद हैं; जैसे—

(क) शब्द प्रमाण नहीं—चार्वाक, (ख) जो शब्द प्रमाण है उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है—बौद्ध, आप्तवाक्याविसंवादसामान्यादनुमानता (प्र० वा० ३.२१३)—वैशेषिक; शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः (प्रशस्त०, पृ० ५११)। (ग) वैदिक वाक्य तो पृथक् शब्द-प्रमाण हैं, लौकिक आप्तवाक्यों का अनुमान में ही अन्तभाव हो जाता है—प्रभाकर, मतानुयायी मीमांसक (द्र० न्यायकुसुमाञ्जलि, वृत्ति ३.११,१४)। (घ) शब्द या आगम-पृथक् प्रमाण है—न्याय, सांख्य, योग, भाट्टमीमांसक तथा वेदान्त। इनके मतों में कुछ अवान्तर भेद भी है।

(iii) **परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतम्**—मीमांसक का मत है कि वेद-वाक्य अपौरुषेय हैं नित्यनिर्दोष हैं अतः स्वतः प्रमाण हैं। किन्तु न्याय के अनुसार वेद वाक्य भी पौरुषेय हैं—पुरुषकृत है। हाँ, उनका कर्ता पुरुषविशेष, परमाप्त परमेश्वर है, अतः वेद के सभी वाक्य प्रमाण हैं।

३७. प्रमाण चार ही हैं अधिक नहीं

प्रमाणों की संख्या के विषय में भारतीय दर्शनों का मतभेद है। यहां प्रमाणों की संख्या एक से लेकर आठ तक मानी गई है। यथा—

१. चार्वाक (लोकायत) दर्शन मानता है कि केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

२. बौद्ध एवं वैशेषिक के मतानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। वैशेषिक ने उपमान तथा शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव किया है (द्र० प्रशस्त० तथा न्यायकन्दली)।

३, सांख्य योग तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। सांख्यतत्त्वकौमुदी (कारिका ५) में उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया गया है।

४. न्याय-परम्परा के अनुसार चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। न्याय के ग्रन्थों में उपमान तथा शब्द के पृथक् प्रामाण्य का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है (द्र०, न्यायमञ्जरी, न्यायकुसुमाञ्जलि)।

५. प्रभाकर मिश्र का मीमांसा सम्प्रदाय (गुरु मतानुयायी) पाँच प्रमाण मानता है। उसमें अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना गया है।

६. कुमारिल भट्ट का मीमांसा सम्प्रदाय (भाट्ट मीमांसक) तथा वेदान्त ६ प्रमाण मानते हैं। इन्होंने अभाव को भी पृथक् प्रमाण माना है।

इसके अतिरिक्त पौराणिक परम्परा में ऐतिह्य तथा सम्भव दो अन्य प्रमाण भी माने गये हैं। जिससे प्रमाणों की संख्या आठ तक पहुंच जाती है।

ऊपर दिखलाया गया है कि न्याय-परम्परा में चार ही प्रमाण माने गये हैं। इससे न्यून या अधिक नहीं। इन चारों प्रमाणों की उपयोगिता ऊपर दिखाई जा चुकी है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रमाणों की संख्या चार से न्यून नहीं हो सकती।

अब प्रश्न यह है कि अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों ने जो इन चार के अतिरिक्त

वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि । एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणम् प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात् ।

कतिपय (अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य तथा संभव) प्रमाण माने हैं, वे भी पृथक् प्रमाण क्यों नहीं हैं। इसके उत्तर में कहते हैं—

चार प्रमाणों का वर्णन कर दिया गया। इनसे भिन्न कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि जो भी प्रमाण है उसका इन (चारों) में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

नैयायिक का अभिप्राय यह है कि युक्ति तथा तर्क के आधार पर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द ये चार प्रमाण ही सिद्ध होते हैं। यदि कोई वादी इनसे भिन्न किसी प्रमाण को स्वीकार करता है–तो उसके स्वीकृत प्रमाण की परीक्षा करनी होगी। यदि वह वस्तुतः प्रमाण है—प्रमा का करण है तो न्याय के अभिमत चार प्रमाणों में ही उसका अन्तर्भाव हो सकता है (प्रमाणस्य सतः०)। क्योंकि सभी प्रमा के साधनों का इन चारों में संग्रह कर लिया गया है। यदि वह वस्तुतः प्रमाण नहीं है तो उपर्युक्त चार प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण मानने की शङ्का ही व्यर्थ है। उदाहरणार्थ पौराणिक परम्परा में ऐतिह्य नाम का पृथक् प्रमाण माना गया है। वह ऐतिह्य प्रमाण वहाँ होता है जहाँ किसी वचन के वक्ता का तो निर्देश किया नहीं जाता, केवल प्रवाद-परम्परा के आधार पर यह कह दिया जाता है कि वृद्धजन ऐसा कहते हैं। ऐसे वचन के विषय में यदि परीक्षा करके यह निश्चय हो जाता है कि इसका वक्ता कोई आप्त पुरुष है तब तो इसका शब्द प्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जायेगा। यदि उसके वक्ता की आप्तता का निश्चय न होगा तो वह वचन (वाक्य) प्रमाण नहीं हो सकेगा फिर वह अतिरिक्त प्रमाण कैसे होगा ?

इसी प्रकार पौराणिक परम्परा में सम्भव नाम का एक प्रमाण माना गया है। उसका अभिप्राय है कि किसी अविनाभावी परिमाण (माप-तोल) के ग्रहण से अन्य का ग्रहण। उदाहरणार्थ एक किलो के बिना क्विन्टल नहीं हो सकता अतः क्विन्टल के ग्रहण से किलो का भी ग्रहण हो जाता है। यदि हम जानते है कि कहीं एक क्विन्टल गेहूँ है तो हमें ज्ञान हो जाता है कि वहाँ किलो भर गेहूँ अवश्य है। यहाँ क्विन्टल परिमाण किलो परिमाण के बिना नहीं होता अतः वह किलो का अविनाभावी है।

न्यायसूत्र (२.२.२.) में उपर्युक्त प्रमाणभूत ऐतिह्य का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव किया गया है तथा सम्भव का अनुमान में। तर्कभाषा में इन दोनों का उल्लेख ही नहीं किया गया। यहाँ तो केवल अर्थापत्ति तथा अभाव का अभिमत चार प्रमाणों में अन्तर्भाव दिखलाकर यह सिद्ध किया गया है कि चार ही प्रमाण हैं, इनसे अधिक नहीं।

२८. अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण नहीं

'एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणम्' इस कथन से विदित होता है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु मीमांसक तथा वेदान्ती

[अर्थापत्तिः]

नन्वर्थापत्तिरपि पृथक् प्रमाणमस्ति । *'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः* । तथाहि, पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते । दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण [2]नोपपद्यतेऽतः पीनत्वाऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम् । तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं, रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात् ।

अर्थापत्ति नाम का पृथक् प्रमाण मानते हैं। इसलिये उनकी ओर से शङ्का की जाती है—

(शङ्का) अर्थापत्ति भी पृथक् प्रमाण है। अनुपपद्यमान (=उपपन्न न होने वाले, न बन सकने वाले) अर्थ को जानकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति (कहलाती) है। जैसे कि 'देवदत्त पुष्ट (पीनः) है किन्तु दिन में नहीं खाता' यह देखने पर या सुनने पर उसके रात्रिभोजन की कल्पना कर ली जाती है। दिन में न खाने वाले (व्यक्ति) का पुष्ट होना (पीनत्व) रात्रिभोजन के बिना उपपन्न नहीं होता (नहीं बन सकता) इसलिये पीनत्व की अन्य प्रकार से (=अन्यथा=रात्रि-भोजन के बिना) अनुपपत्ति से होने वाली (प्रसूता=उत्पन्ना) अर्थापत्ति ही रात्रि-भोजन में प्रमाण हो जाती है। और, वह (अर्थापत्ति) प्रत्यक्ष आदि से भिन्न है; क्योंकि रात्रि-भोजन प्रत्यक्ष आदि का विषय नहीं है।

शङ्का का अभिप्राय यह है—प्रमाण का प्रयोजन है प्रमेय की सिद्धि करना। इसलिये भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रमेयों की प्रमा के लिये नैयायिक ने चार प्रमाण माने हैं। किन्तु कुछ प्रमेय ऐसे भी हैं जिनका प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन चारों प्रमाणों में से किसी के द्वारा भी ग्रहण नहीं हो सकता। उन प्रमेयों की सिद्धि के लिये इन चारों प्रमाणों से भिन्न और भी प्रमाण मानने चाहियें। उदाहरणार्थ; हम देखते हैं या सुनते हैं कि देवदत्त दिन में नहीं खाता फिर भी पीन (=पुष्ट, मोटा) है। तब हम विचार करते हैं कि बिना भोजन के तो पीनत्व नहीं बन सकता अतः जो व्यक्ति दिन में न खाने पर भी पीन है वह रात्रि में अवश्य खाता होगा। यहाँ हमें देवदत्त रात्रि में खाता है (रात्रिभोजन), यह प्रमा होती है। इसका कोई साधन (प्रमाकरण=प्रमाण) होना चाहिये। वही अर्थापत्ति नामक प्रमाण है।

अर्थापत्ति का लक्षण है 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात्' इत्यादि। यहाँ 'अनुपपद्यमान' शब्द का अर्थ है—उपपन्न न होने वाला, न बन सकने वाला अथवा सिद्ध न होने वाला। दर्शन का अर्थ है—ज्ञान या अनुभव। वह सुनने या देखने से हो सकता है।

---

१. *-*एतदन्तर्गतः पाठः क्वचिन्नास्ति ।

२. न संभवति, इति पाठा० ।

किसी अनुपपद्यमान अर्थ का अनुभव करके उसके उपपादक (=साधक) किसी अन्य अर्थ की कल्पना कर ली जाती है ऊपर के उदाहरण में हम यह जानते हैं कि देवदत्त दिन में नहीं खाता और वह पुष्ट दिखलाई देता है किन्तु न खाने वाले देवदत्त का पुष्ट होना (पीनत्व) नहीं बन सकता, अतः यह अनुपपद्यमान अर्थ है यह तभी संगत हो सकता है जबकि देवदत्त रात्रि में खाता हो। अतः रात्रिभोजन इस अनुपपद्यमान अर्थ का उपपादक है, इसकी ठीक संगति लगा देता है। इस प्रकार अनुपपद्यमान अर्थ के दर्शन (=ज्ञान=सुनने या देखने) से यहाँ रात्रिभोजन की कल्पना की जाती है यह रात्रिभोजन उपपादक अर्थ है। यहाँ अनुपपद्यमान अर्थ का दर्शन ही रात्रिभोजन की कल्पना (प्रमा) का करण है, अतः वही अर्थापत्ति नामक प्रमाण है। उपपादक अर्थ की कल्पना ही प्रमा (प्रमाण का फल) है।

यहाँ दिन में न खाने वाले का पीनत्व अन्यथानुपपन्न है, अर्थात् यदि वह रात्रि में भोजन नहीं करता तो यह (दृष्ट या श्रुत) अर्थ ठीक नहीं बैठता। इस अन्यथानुपपत्ति से अर्थान्तर की कल्पना की जाती है (अर्थस्य आपत्तिः=अर्थान्तरस्य आपादनम्) इसलिये अर्थापत्ति को अन्यथानुपपत्तिप्रसूता (अन्यथानुपपत्ति से उत्पन्न) कहा गया है।

अनुपपद्यमान अर्थ का ज्ञान दो प्रकार से हो सकता है कभी श्रावण प्रत्यक्ष द्वारा कभी चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा। इसीलिये तर्कभाषा में "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा" ऐसा कहा गया है; अर्थात् कभी तो हम सुनते हैं कि देवदत्त दिन में नहीं खाता किन्तु पुष्ट है, कभी हम अपने नेत्रों से इस तथ्य का प्रत्यक्ष करते हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं में उपपादक अर्थ की कल्पना कर ली जाती है। शाबर भाष्य के 'दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोन्यथानुपपद्यते इस वचन के आधार पर मीमांसकों ने दो प्रकार की अर्थापत्ति मानी है दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति (द्र०, टि०)।

मीमांसक का कथन है कि यह अर्थापत्ति नामक प्रमाण एक पृथक् प्रमाण है, प्रत्यक्ष आदि में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। इस कथन की सिद्धि के लिये यह अनुमान प्रस्तुत किया गया है—तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्, रात्रि-भोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्। भाव यह है कि प्रमा के भेद से प्रमाण भेद की कल्पना की गई है। उपर्युक्त उदाहरण में जो यह ज्ञान (प्रमा) होता है कि देवदत्त रात्रि में खाता है (रात्रिभोजन), यह प्रमा किसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण में से किसी एक का विषय नहीं हो सकती। क्यों? हमने देवदत्त के रात्रिभोजन का साक्षात् ज्ञान नहीं किया, अतः वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं। यह अनुमान प्रमाण का विषय नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ रात्रिभोजन के साथ व्याप्ति का निश्चय ही नहीं हो सकता (शास्त्रदीपिका पृ० ३०९)। किञ्च, यह ज्ञान लिङ्ग-परामर्श के बिना ही हुआ करता है। यह उपमान प्रमाण का भी विषय नहीं; क्योंकि अतिदेश वाक्य के अर्थ-स्मरण के साथ सादृश्य ज्ञान से यह उत्पन्न नहीं होता और आप्त वाक्य से

नैतत्[1]। रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। तथाहि, अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते

जन्य ज्ञान न होने के कारण यह शब्द प्रमाण का विषय भी नहीं हो सकता। फलतः इस ज्ञान का जो करण है, वह अर्थापत्ति नामक प्रमाण है।

टिप्पणी—(i) 'अर्थापत्ति' शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की गई है 'अर्थस्य आपत्तिः = अर्थापत्तिः' तथा 'अर्थाद् आपत्तिः = अर्थापत्तिः'। 'अर्थापत्ति' शब्द का प्रयोग प्रमाण तथा प्रमा दोनों के लिये हो सकता है। 'अर्थस्य आपत्तिः यस्माद्'= जिससे अर्थान्तर की कल्पना की जाती है वह (प्रमा का) करण अर्थापत्ति है तथा 'अर्थस्य आपत्तिः' = अर्थान्तर की कल्पना जो प्रमा के रूप में होती है (मि०, याऽर्थान्तरकल्पना साऽर्थापत्तिः' शास्त्रदीपिका पृ० १९०)। इस विषय में शाबर भाष्य या शास्त्रदीपिका में प्रमाण तथा प्रमा का स्पष्ट विवेक नहीं किया गया। (ii) तर्कभाषा में जो अर्थापत्ति का लक्षण किया गया है उसमें 'अर्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः' इस कथन में शास्त्रदीपिका के कथन की समानता दिखलाई देती है। यहाँ अर्थापत्ति शब्द प्रमा के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'अर्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम्' यहाँ अर्थापत्ति शब्द प्रमाण के लिये आया है। (iii) वात्स्यायन भाष्य के अनुसार अर्थापत्ति का स्वरूप है—अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः। आपत्तिः प्राप्तिः प्रसङ्गः। यत्राभिधीयमानेऽर्थे योऽन्यार्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः यथा मेघेष्वसत्सु वृष्टिर्न भवतीति (न्या० भा०, २.२.१.)। (iv) तर्कभाषा की 'सारमञ्जरी' टीका में कहा गया है 'तन्न प्रत्यक्षम्' रात्रिभोजनेनासन्निकर्षात्। नानुमितिः, रात्रिभोजनव्याप्यस्य देवदत्तेऽज्ञानात्। न शब्दः रात्रिभोजी देवदत्त इति शब्दाभावात्। (v) श्रुतार्थापत्ति तथा दृष्टार्थापत्ति—जहाँ सुने गये (श्रुत) अनुपपद्यमान अर्थ के उपपादक किसी अर्थ की कल्पना की जाती है (=श्रुतस्य अनुपपद्यमानस्य अर्थस्य उपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम्), वहाँ श्रुतार्थापत्ति होती है। जहाँ देखे गये (दृष्ट) अनुपपद्यमान अर्थ के उपपादक किसी अर्थ की कल्पना की जाती है (दृष्टस्य अनुपपद्यमानस्य अर्थस्य उपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम्), वहाँ दृष्टार्थापत्ति होती है। शास्त्रदीपिका इत्यादि ग्रन्थों में श्रुतार्थापत्ति का अभिप्राय शब्दाध्याहार भी माना गया है।

अर्थापत्ति नामक प्रमाण प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों से पृथक् है, पूर्वपक्षी के इस कथन का सिद्धान्ती द्वारा निराकरण किया जाता है—

यह (कथन) ठीक नहीं है; क्योंकि (यहाँ) रात्रि-भोजन अनुमान का विषय है। जैसे कि (अनुमान का प्रयोग है) देवदत्त रात्रि में खाता है (प्रतिज्ञा); क्योंकि दिन में न खाने पर भी (वह) पुष्ट है (हेतु), जो रात्रि में नहीं खाता वह दिन में न खाने पर भी पुष्ट नहीं होता जैसे दिन तथा रात्रि में न खाने वाला (अमुक) व्यक्ति पुष्ट नहीं

---

१. 'मैवम्' इति पाठा०।

नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो यथा दिवा रात्रौ चाऽभुञ्जानोऽपीनो न चायं तथा, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात् । किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीया ।

[अभावः]

नन्वभावाख्यमपि पृथक् प्रमाणमस्ति । तच्चाभावग्रहणायाङ्गीकरणीयम् ।

है (उदाहरण); और यह देवदत्त वैसा (अपुष्ट) नहीं है (उपनय); इसलिये यह वैसा (बिन तथा रात्रि में न खाने वाला) नहीं है (निगमन) । इस प्रकार केवल व्यतिरेकी अनुमान से ही रात्रि-भोजन की प्रतीति हो जाने से अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण किस लिये माना जाये ?

(सिद्धान्ती (न्या०-वै०) का तात्पर्य यह है कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है (रात्रिभोजन) इस प्रमा की सिद्धि केवलव्यतिरेकी अनुमान द्वारा हो जाती है । उस अनुमान का प्रयोग 'तथा हि' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा दिखलाया गया है । यहाँ न्याय परम्परा के अनुसार अनुमान-वाक्य के पाँच अवयव दिखलाये गये हैं । (द्र० अनुवाद)। इस अनुमान में देवदत्त 'पक्ष' है, रात्रि-भोजन 'साध्य' है तथा दिन में भोजन न करके भी पुष्ट होना (दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्) हेतु है । व्याप्ति यह है कि जो रात्रि में नहीं खाता वह दिन में न खाने पर पुष्ट नहीं हो सकता । यह व्यतिरेक व्याप्ति है। साध्याभाव के साथ साधनाभाव की व्याप्ति है । साध्याभाव—रात्रि-भोजन (साध्य =) का अभाव तथा साधनाभाव है—दिन में न खाने वाले की पुष्टता (=साधन) का अभाव । इस व्याप्ति में अन्वयी उदाहरण नहीं है, अपि तु व्यतिरेकी उदाहरण है—यथा दिवा रात्रावभुञ्जानोऽपीनः । इस केवलव्यतिरेकी अनुमान द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि जो देवदत्त दिन में नहीं खाता फिर भी पीन (पुष्ट) है, वह अवश्य ही रात्रि में खाता है (रात्रि-भोजन) । इसलिये इस प्रमा की सिद्धि के लिये अर्थापत्ति नामक पृथक् प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है ।)

२९. अभाव प्रमाण की पृथक्ता का खण्डन

भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्ती अभाव नाम का षष्ठ प्रमाण भी मानते हैं । यदि अभाव को पृथक् प्रमाण माना जाये तो न्याय-सम्प्रदाय का यह कथन ठीक न होगा कि चार ही प्रमाण हैं, इनसे भिन्न कोई प्रमाण नहीं । इसलिये यहाँ अभाव को पृथक् प्रमाण मानने वालों के मत का निराकरण करके न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा रहा है—

(पूर्वपक्षी) अभाव नाम का भी (एक) पृथक् प्रमाण है । उस (अभाव प्रमाण) को अभाव का ग्रहण करने के लिये मानना ही होगा; क्योंकि घट आदि की अनुपलब्धि

तथाहि, घटाद्यनुपलब्ध्या घटाद्यभावो निश्चीयते।[1] अनुपलब्धिश्चोपलब्धेरभावः। इत्यभावप्रमाणेन घटाद्यभावो गृह्यते।

नैतत्। यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यदित्यादितर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात्।[2]

से घट आदि के अभाव का निश्चय किया जाता है। और, उपलब्धि का अभाव ही अनुपलब्धि है। अतः अभाव प्रमाण के द्वारा घट आदि के अभाव का ग्रहण होता है।

(सिद्धान्ती) यह (ठीक) नहीं। क्योंकि यदि यहाँ घट होता तो भूतल के समान दिखलाई देता इत्यादि तर्क के साथ अनुपलब्धि से युक्त प्रत्यक्ष (प्रमाण) से ही अभाव का ग्रहण हो जाता है।

यहाँ पूर्वपक्षी (भाट्टमीमांसक तथा वेदान्ती) का अभिप्राय यह है'—भूतल में घट का अभाव है', 'मेज पर पुस्तक नहीं है' इस प्रकार का अनुभव हुआ करता है। इस अनुभव में घट आदि के अभाव का ग्रहण होता है। इस अभाव के ग्रहण की प्रक्रिया यह है कि जब घट आदि पदार्थ की उपलब्धि के सभी साधन उपस्थित होते हैं किन्तु घट आदि पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती तो हम निश्चय करते हैं कि यहाँ घट आदि नहीं हैं। उदाहरणार्थ उचित प्रकाश में चक्षु तथा भूतल का संयोग होने पर भूतल का प्रत्यक्ष हो रहा है; किन्तु वहाँ घट का ग्रहण (=उपलब्धि) नहीं हो रहा। उपलब्धि के समस्त साधन प्रकाश, इन्द्रिय-व्यापार आदि के होने पर भी प्रत्यक्ष-योग्य घट की उपलब्धि नहीं होती तो हम निश्चय करते हैं कि भूतल में घट का अभाव है। यहाँ घट आदि की अनुपलब्धि (ग्रहण न होने) से घट आदि के अभाव का निश्चय होता है और अनुपलब्धि का अर्थ है उपलब्धि का अभाव; इसलिये यहाँ (उपलब्धि का) अभाव ही घटाभाव के ज्ञान का साधन है। अथवा कहिये कि अभाव ही ऐसा प्रमाण है जिसके द्वारा घटाभाव का ग्रहण होता है। यहाँ घटाभाव का निश्चय ही प्रमा है। इस प्रमा का करण है अभाव।

इस घटाभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों में से किसी के द्वारा भी नहीं हो सकता। क्यों? इन्द्रिय का व्यापार तो भूतल आदि (अधिकरण) के ग्रहण में क्षीण हो जाता है; किञ्च अभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी नहीं हो सकता अतः प्रत्यक्ष द्वारा अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। अनुमान के द्वारा भी इसका ग्रहण संभव नहीं; क्योंकि अभाव के साथ व्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार उपमान तथा शब्द प्रमाण का भी विषय अभाव नहीं हो सकता। अतः अभाव नामक एक पृथक् प्रमाण है जिसके द्वारा किसी पदार्थ के अभाव का निश्चय हुआ करता है।

नैतत्···ग्रहणात् इत्यादि पंक्ति में सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के मत का निराकरण किया है। न्या०-वै० के मत में घट आदि के अभाव का ग्रहण करने वाला अभाव नाम का कोई पृथक् प्रमाण नहीं है। अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा ही हो जाता है।

१. गृह्यते, इति पाठा०।

२. किमभावप्रमाणेन, इत्यधिकः पाठः।

नन्विन्द्रियाणि सम्बद्धार्थग्राहकाणि । तथाहीन्द्रियाणि वस्तु प्राप्य प्रकाशकारीणि ज्ञानकारणत्वादालोकवत् । यद्वा चक्षुः श्रोत्रे वस्तु प्राप्य प्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात् त्वागादिवत् । त्वगादीनान्तु प्राप्यप्रकाशकारि-

इतना भेद अवश्य है कि अभाव के ग्रहण में प्रत्यक्ष के दो सहकारी कारण होते हैं। एक तो यह तर्क कि 'यदि यहां घट होता तो भूतल के समान वह भी दिखलाई देता'। दूसरे प्रकाश, इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि सभी उपलब्धि के साधनों के होते हुए भी प्रत्यक्ष-योग्य घट का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, इस प्रकार की अनुपलब्धि । फलतः घटाभाव आदि के ग्रहण में प्रकृष्ट कारण (=करण) तो चक्षु आदि इन्द्रिय (प्रत्यक्ष) ही है; क्योंकि उसके बिना अभाव का ग्रहण नहीं होता, उसका व्यापार होने पर अभाव का ग्रहण हो जाता है। उपर्युक्त तर्क तथा घट आदि की अनुपलब्धि, ये दोनों चक्षु आदि इन्द्रिय के सहकारी होते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा ही घट आदि के अभाव का ग्रहण हो जाया करता है, इसके लिये अभाव नाम का पृथक् प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

टिप्पणी—(i) यहाँ अभाव प्रमाण का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव दिखाया गया है; किन्तु न्यायसूत्र (२.२.२.) में अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव बतलाया गया है। न्यायभाष्य तथा न्यायवार्तिक में उसी का अनुसरण किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने अभाव प्रमाण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव अवश्य किया है। उसी का अनुसरण तर्कभाषा में किया गया है। (ii) वैशेषिक सम्प्रदाय में भी अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव किया गया है—अभावोऽप्यनुमानमेव, यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम् एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्। प्रशस्त० पृ० ५४२-५४३) (iii) बौद्ध न्याय में भी अनुपलब्धिलिङ्गक अनुमान के द्वारा ही अभाव का व्यवहार माना गया है (न्यायबिन्दु २.२.५)। (iv) भाट्टमीमांसक आदि ने अभाव को पृथक् प्रमाण सिद्ध किया है (द्र०, शास्त्रदीपिका १.१.५)।

उपर्युक्त प्रकार से न्याय के मत में प्रत्यक्ष (इन्द्रियों) द्वारा ही घट आदि के अभाव का ग्रहण हो जाता है। पूर्वपक्षी इस मन्तव्य में दोष दिखलाता है। इस दोषदर्शन के ३ अंश हैं—(१) इन्द्रियाँ सम्बद्ध अर्थ की ग्राहक हैं, (२) (क) इन्द्रिय तथा अभाव का सम्बन्ध नहीं हो सकता और (ख) विशेषण-विशेष्य भाव नामक सन्निकर्ष कोई सम्बन्ध ही नहीं है। (३) फलतः असम्बद्ध अभाव का इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता।

(१) इन्द्रियाँ सम्बन्ध अर्थ की ग्राहक हैं

इन्द्रियाँ सम्बद्ध अर्थ की ग्राहक हुआ करती हैं। जैसे कि (अनुमान है) इन्द्रियाँ वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि ये ज्ञान के कारण हैं (हेतु), जैसे प्रकाश (उदाहरण)। अथवा चक्षु और श्रोत्र वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करते हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि ये बाह्य इन्द्रियाँ हैं (हेतु); जैसे त्वक् आदि (वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित करती हैं—उदाहरण)। त्वक् आदि का (वस्तु

त्वमुभयवादिसिद्धमेव[1]।

को) प्राप्त करके प्रकाशित करना तो (पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती दोनों वादियों को इष्ट है ही।

जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है न्याय-परम्परा यह मानती है कि इन्द्रियाँ सम्बद्ध अर्थ की ग्राहक हैं—इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं—वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं। पूर्वपक्षी मीमांसक आदि भी इस मन्तव्य को स्वीकार करते है। वे इस मन्तव्य के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि इन्द्रिय द्वारा अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता।

इन्द्रिय सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण करती है, इस मन्तव्य की सिद्धि के लिये यहाँ दो अनुमान-प्रयोग प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम अनुमान-प्रयोग का आशय यह है जो ज्ञान का कारण होता है वह किसी वस्तु के साथ सम्बद्ध होकर ही उसका ज्ञान करा सकता है, जैसे आलोक (=प्रकाश) ज्ञान का कारण है, चक्षु द्वारा होने वाले (चाक्षुष) प्रत्यक्ष में वह निमित्त होता हैं उसके विना अन्धकार में किसी वस्तु का चाक्षुप प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वह प्रकाश जिस घट आदि पदार्थ पर पड़ता है—जिससे सम्बन्ध रखता है—उसी पदार्थ का चाक्षुष ज्ञान हुआ करता है, अन्य का नहीं। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी ज्ञान का कारण हैं अतः वे भी अपने से सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण किया करती हैं—वस्तु को प्राप्त करके ही उसे प्रकाशित कर सकती हैं, यह सिद्ध होता है।

उपर्युक्त अनुमान में इन्द्रियों का वस्तु-प्राप्य-प्रकाशकारित्व (=वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करना) साध्य है। उसकी सिद्धि के लिये 'ज्ञानकारणत्वात्' (=ज्ञान का कारण होने से) यह हेतु दिया गया है इस पर यह शङ्का हो सकती है—

(क) जो जो ज्ञान का कारण होता है, वह सभी वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित नहीं करता, जैसे किसी वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष में हमारा शरीर भी कारण होता है किन्तु शरीर तो चक्षु द्वारा देखी जाने वाली प्रत्येक वस्तु के समीप नहीं जाता। (ख) किञ्च, मन भी प्रत्येक ज्ञान में कारण होता है, न्या०—वै० के मत में मन अणु है तथा शरीर के भीतर ही रहता है बाहर विपय के पास नहीं जाता। और, (ग) स्मृति में मन भी कारण है, वह स्मृति का करण माना जाता है; किन्तु जिस वस्तु का हम स्मरण करते हैं उसी के साथ मन का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त (घ) बौद्ध के मत में चक्षु और श्रोत्र दोनों इन्द्रियों की प्राप्यकारिता सम्भव ही नही है। न तो चक्षु ही घट आदि के समीप जाती हुई दृष्टिगोचर होती है और न ही घट आदि चक्षु के समीप आते हैं। इसी प्रकार श्रोत्र शब्द की उत्पत्ति के प्रदेश में नहीं जा सकता।

१. संमतमेव, इति पाठा०।

न चेन्द्रियाभावयोः सम्बन्धोऽस्ति संयोगसमवायौ हि सम्बन्धौ, न च तौ तयोः स्तः। द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमात्। अभावस्य च द्रव्यत्वाभावात्। अयुतसिद्ध्यभावान्न समवायोऽपि।[1]

इस प्रकार की सभी शङ्काओं का समाधान करने के लिये दूसरा अनुमान प्रयोग प्रस्तुत किया गया है—यद्वा······सिद्धमेव। यहां व्याप्ति है, जो बाह्य इन्द्रिय है वह वस्तु को प्राप्त करके प्रकाशित करती है। इस व्याप्ति में दृष्टान्त है, जैसे त्वक् आदि इन्द्रिय। यहां आदि शब्द से घ्राण तथा रसना का ग्रहण होता है। पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती दोनों इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि त्वक् इन्द्रिय किसी वस्तु से सम्बद्ध होकर ही उसका ग्रहण करती है। इसी प्रकार घ्राण इन्द्रिय भी स्वसम्बद्ध गन्ध का ही ग्रहण करती है। चक्षु तथा श्रोत्र भी बाह्येन्द्रिय हैं। अतः ये दोनों भी वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित कर सकती हैं—वस्तुप्राप्यप्रकाशकारी हैं। इसलिये यदि चक्षु द्वारा भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष माना जाये तो चक्षु का घटाभाव के साथ कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये।

टिप्पणी—बौद्ध दर्शन में मन, चक्षु तथा श्रोत्र को प्राप्यप्रकाशकारी नहीं माना गया 'अप्राप्तान्यक्षिमनः श्रोत्राणि त्रयमन्यथा' (अभिधर्म० २.४२)। जैन दर्शन में मन तथा चक्षु को प्राप्यप्रकाशकारी नहीं माना गया। मीमांसा में केवल मन को अप्राप्यप्रकाशकारी माना जाता है। न्या०-वै० में सभी बाह्य इन्द्रियों को प्राप्य प्रकाशकारी माना जाता है किन्तु मन की प्राप्यकारिता में वैमत्य है। किन्हीं के मतानुसार संस्कार-लक्षण प्रत्यासत्ति से मन भी प्राप्यकारी है, अन्यों के मतानुसार मन प्राप्यकारी नहीं (चि०)। सांख्य-योग तथा वेदान्त सभी इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी मानते हैं।

(२) (क) **इन्द्रिय तथा अभाव का सम्बन्ध नहीं हो सकता।**

इन्द्रिय तथा अभाव का (कोई) सम्बन्ध नहीं है। (न्या० वै० के मत में) संयोग तथा समवाय दो ही सम्बन्ध हैं और वे दोनों उन (इन्द्रिय तथा अभाव) में होते नहीं। क्योंकि यह नियम है कि संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों में ही होता है और अभाव तो द्रव्य नहीं है। उन (इन्द्रिय तथा अभाव) में अयुतसिद्धता नहीं है अतः उनमें समवाय सम्बन्ध भी नहीं है।

(पूर्वपक्षी का) अभिप्राय यह है कि न्या०-वै० के अनुसार दो ही सम्बन्ध हैं संयोग तथा समवाय। इन्द्रिय का अभाव के साथ इनमें से कोई भी सम्बन्ध नहीं बन सकता। क्यों? संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों में हुआ करता है; जैसे इन्द्रिय एक द्रव्य है घट दूसरा द्रव्य है अतः इन्द्रिय का घट के साथ संयोग सम्बन्ध होता है, किन्तु अभाव तो द्रव्य नहीं है, फिर इनके साथ इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध कैसे हो

---

१. तयोस्तु भावधर्मत्वात्, इत्यधिकः पाठः।

विशेषणविशेष्यभावश्च सम्बन्ध एव न सम्भवति, भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात्। सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च। यथा भेरीदण्डयोः संयोगः। स हि भेरीदण्डाभ्यां भिन्नस्तदुभयाश्रितश्चैकश्च। न च विशेषणविशेष्यभावस्तथा।

सकता है। इसी प्रकार इन्द्रिय का अभाव के साथ समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। ऊपर कहा गया है **'अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः'**। जिन दो पदार्थों में से कोई एक अविनश्यद् अवस्था में दूसरे से पृथक् नहीं रह सकता उन दो पदार्थों का परस्पर समवाय सम्बन्ध माना जाता है; जैसे अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि का समवाय सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय तथा अभाव के विषय में तो ऐसी बात नहीं है, ये दोनों ही एक-दूसरे से पृथक् रहा करते हैं। अतः ये अयुतसिद्ध नहीं हैं तथा इन्द्रिय का अभाव के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती (नैयायिक) कह सकता है कि हम भी इन्द्रिय का अभाव के साथ संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं मानते अपि तु यह मानते हैं कि इन्द्रिय विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष के द्वारा अभाव का ग्रहण करती है—**यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते······तदा विशेष्यविशेषणभावः सम्बन्धः** (ऊपर पृ० ६८) न्या०-वै० के इस मन्तव्य का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कहता है—

(२) (ख)—**विशेषण-विशेष्य-भाव को सम्बन्ध ही नहीं कहा जा सकता।**

विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध ही नहीं हो सकता; क्योंकि वह (सम्बन्धियों से) भिन्न, दोनों में आश्रित (उभयाश्रित) तथा एक नहीं होता। सम्बन्ध तो (i) (दोनों) सम्बन्धियों से भिन्न होता है, (ii) दोनों सम्बन्धियों में आश्रित होता है तथा (iii) एक होता, जैसे भेरी तथा दण्ड का संयोग है। वह (i) भेरी तथा दण्ड दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है, (ii) उन दोनों के आश्रित है और (iii) एक भी है। किन्तु विशेषण-विशेष्य-भाव वैसा नहीं है।

पूर्वपक्षी का भाव यह है—सम्बन्ध वह कहलाता है, जिसमें ये तीन बातें होती हैं (i) जिन दो वस्तुओं में सम्बन्ध माना जाता है (=सम्बन्धी) उनका सम्बन्ध उन दोनों वस्तुओं से भिन्न होता है। (ii) वह सम्बन्ध उन दोनों वस्तुओं में रहा करता है तथा (iii) एक ही सम्बन्ध दोनों में रहता है। उदाहरणार्थ जब नगाड़े (भेरी) को दण्ड (डण्डे) से बजाया जाता है तो वहाँ भेरी और दण्ड का संयोग सम्बन्ध होता है। वहाँ भेरी तथा दण्ड ये दोनों सम्बन्धी हैं संयोग सम्बन्ध इन दोनों से भिन्न है। भेरी तथा दण्ड (दोनों सम्बन्धी) तो द्रव्य हैं किन्तु संयोग एक गुण है। इससे संयोग सम्बन्ध की दोनों से भिन्नता स्पष्ट ही है। यह संयोग भेरी तथा दण्ड दोनों में रहता है अतः यह उभयाश्रित है। किञ्च, भेरी और दण्ड का संयोग है, इस व्यवहार से ही यह विदित होता है कि दोनों का संयोग एक

तथाहि, दण्डपुरुषयोर्विशेषणविशेष्यभावो न ताभ्यां भिद्यते। न ही दण्डस्य विशेषणत्वमर्थान्तरम्, *'नापि पुरुषस्य विशेष्यत्वमर्थान्तरम्*, अपितु स्वरूपमेव, अभावस्यापि विशेषणत्वाद् विशेष्यत्वाच्च[2]। न चाभावे कस्यचित् पदार्थस्य द्रव्याद्यन्यतमस्य सम्भवः। तस्मादभावस्य स्वोपरक्तबुद्धिजनकत्वं यत्स्वरूपं तदेव विशेषणत्वं न तु पदार्थान्तरम्।[3]

है। इस प्रकार संयोग सम्बन्ध में उपर्युक्त तीनों बातें मिलती है। इसी प्रकार समवाय सम्बन्ध में भी तीनों बातें विद्यमान है उदाहरणार्थ गुण तथा गुणी का समवाय सम्बन्ध माना जाता है, रूप आदि गुण हैं जो पट में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इस समवाय सम्बन्ध के दो सम्बन्धी हैं पट तथा उसका रूप। यह सम्बन्ध पट तथा रूप दोनों से भिन्न है। कैसे ? पट तो द्रव्य है और पट का रूप गुण है। न्या०-वै० के अनुसार समवाय एक पृथक् पदार्थ है, वह न द्रव्य है न गुण ही। अतः समवाय सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है। यह समवाय दोनों (पट तथा पट-रूप) में रहता (उभयाश्रित) है तथा एक ही समवाय दोनों सम्बन्धियों में रहा करता है। अतः समवाय सम्बन्ध में भी उपर्युक्त तीनों बातें विद्यमान हैं।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि सम्बन्ध के लक्षण में तीन अंश हैं (i) सम्बन्धिभ्यां भिन्नः, (ii) उभयाश्रितः, (iii) एकः। ये तीनों संयोग तथा समवाय नामक सम्बन्धों में उपलब्ध होते है, किन्तु विशेषण-विशेष्य-भाव में उपलब्ध नहीं होते। अतः विशेषण-विशेष्य-भाव को सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता।

विशेषण-विशेष्य-भाव में तीनों कैसे उपलब्ध नहीं होते, यह आगे दिखलाया जा रहा है—

(i) **विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्धियों से भिन्न नहीं**

जैसे कि (दण्डी पुरुषः, इस प्रतीति में) दण्ड और पुरुष का जो विशेषण-विशेष्य-भाव है वह उन (दण्ड तथा पुरुष) से भिन्न नहीं है। दण्ड की विशेषणता उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं और न पुरुष की विशेष्यता ही उससे भिन्न कोई पदार्थ है अपितु (दण्ड और पुरुष का) स्वरूप मात्र ही है; क्योंकि अभाव भी विशेषण तथा विशेष्य हुआ करता है। और, अभाव में द्रव्य आदि में से किसी एक पदार्थ का रहना सम्भव नहीं है। इसलिये अपने (= स्व अर्थात् अभाव) से उपरक्त (युक्त) प्रतीति को उत्पन्न करना जो अभाव का (एक) स्वरूप है, वही (उसकी) विशेषणता है, वह कोई (अभाव से) भिन्न पदार्थ नहीं।

ऊपर कहा गया है कि कोई सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है। विशेषण-विशेष्य-भाव में यह बात नहीं है। उदाहणार्थ दण्ड वाला पुरुष है। (दण्डी

१. *—*एतदन्तर्गतः पाठः क्वचिन्नास्ति।
२. विशेष्यत्वाच्च, इति क्वचिन्नास्ति।
३. तदर्थान्तरम्, इति पाठा०।

पुरुषः) इस प्रतीति में दण्ड विशेषण है, पुरुष विशेष्य है अथवा कहिये दण्ड में विशेषणता है, पुरुष में विशेष्यता है । यहाँ दण्ड की विशेषणता दण्ड के स्वरूप से भिन्न कोई वस्तु नहीं है । इसी प्रकार पुरुष की विशेष्यता भी पुरुष का स्वरूप ही है; वह भी पुरुष के स्वरूप से भिन्न कोई वस्तु नहीं है । परिणामतः विशेषण-विशेष्य-भाव दोनों सम्बन्धियों का स्वरूप ही है उनसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं ।

यदि कोई शङ्का करे कि विशेषणता तथा विशेष्यता को किसी वस्तु का स्वरूप ही क्यों माना जाये, उस वस्तु से भिन्न कोई पदार्थ क्यों न माना जाये । इसका समाधान करते हुए कहा गया है—**अभावस्यापि विशेषणत्वाद् विशेष्यत्वाच्च,** क्योंकि अभाव भी विशेषण तथा विशेष्य होता है, इसलिये विशेषणता तथा विशेष्यता को किसी पदार्थ का स्वरूप ही मानना होगा, उससे भिन्न नहीं । भाव यह है: न्या०-वै० के अनुसार सात पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव । इनमें अभाव सप्तम पदार्थ है । जब हम कहते हैं 'घटाभाववद् भूतलम्' तो यहाँ घटाभाव विशेषण होता है । इसी प्रकार घटाभाव विशेष्य भी होता है । इससे स्पष्ट है कि अभाव भी विशेषण तथा विशेष्य हुआ करता है या कहिये कि अभाव में भी विशेषणता एवं विशेष्यता रहती है । यदि इस विशेषणता तथा विशेष्यता को अभाव से भिन्न कोई पदार्थ माना जाये तो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय में से किसी एक के अन्तर्गत उसे मानना होगा, अर्थात् विशेषणता तथा विशेष्यता इन ६ पदार्थों में से ही एक होगी (जिस प्रकार संयोग एक गुण है तथा समवाय उक्त ६ पदार्थों में से एक पृथक् पदार्थ है) । क्यों ? न्या०-वै० में इन सात पदार्थों से पृथक् तो कोई पदार्थ होता नहीं । किन्तु विशेषणता तथा विशेष्यता को द्रव्य आदि ६ पदार्थों में से अन्यतम माना नहीं जा सकता क्योंकि न्या०-वै० के मतानुसार अभाव में कोई पदार्थ नहीं रहता; गुण आदि केवल भाव पदार्थ में ही रहा करते हैं । फिर विशेषणता या विशेष्यता, जो द्रव्य आदि में से ही कोई होगी, अभाव में कैसे रह सकेगी ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि विशेषणता तथा विशेष्यता को अभाव के स्वरूप से भिन्न माना जायेगा तो अभाव में विशेषणता तथा विशेष्यता न रह सकेगी । अभाव न विशेषण हो सकेगा, न विशेष्य । किन्तु अनुभव से सिद्ध है कि अभाव विशेषण भी होता है और विशेष्य भी । इसलिये यह मानना चाहिये कि विशेषणता तथा विशेष्यता पदार्थ के स्वरूप से भिन्न नहीं होती; अपि तु पदार्थ का स्वरूप ही निमित्त के भेद से विशेषण या विशेष्य कहलाने लगता है । जब कोई पदार्थ अपने से विशिष्ट (स्वोपरक्त) प्रतीति का निमित्त होता है तो वह विशेषण कहलाता है और जब वह किसी अन्य से विशिष्ट रूप में कहा जाता है तो वह विशेष्य कहलाता है । इस प्रकार विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्धियों से भिन्न नहीं होता । इसमें 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' यह सम्बन्ध के लक्षण का अंश घटित नहीं होता ।

एवं व्याप्यव्यापकत्वकारणत्वादयोऽप्यूह्याः। स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वं स्वरूपमेव हि व्यापकत्वमग्न्यादीनाम्। कारणत्वमपि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि स्वरूपमेव हि तन्त्वादीनां, न त्वर्थान्तरमभावस्यापि व्यापकत्वात्कारणत्वाच्च। नह्यभावे सामान्यादिसम्भवः। तदेवं विशेषणविशेष्यभावो न विशेषणविशेष्यस्वरूपाभ्यां भिन्नः।

जिस प्रकार विशेषण-विशेष्य-भाव किसी पदार्थ का स्वरूप मात्र ही है उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं, उसी प्रकार व्याप्य-व्यापक-भाव तथा कार्य-कारण भाव आदि भी वस्तु के स्वरूप से भिन्न कोई पदार्थ नहीं हैं, यह बतलाते हैं:—

इसी प्रकार व्याप्य-व्यापक-भाव तथा कारणत्व आदि को समझना चाहिये अग्नि (स्व = अपने) से व्याप्य (प्रतिबद्ध) धूम है, इस प्रकार की प्रतीति को उत्पन्न करने वाला जो अग्नि आदि का स्वरूप है वही उनकी व्यापकता (कहलाता) है। किञ्च, तन्तु आदि का वह स्वरूप ही कारणता कहलाता है जिसके अन्वय-व्यतिरेक का कार्य (पट आदि) के द्वारा अनुसरण किया जाता है। यह (व्याप्य-व्यापक-भाव तथा कारणत्व) अन्य पदार्थ नहीं है। क्योंकि अभाव में भी व्यापकता तथा कारणता होती है और अभाव में सामान्य आदि का रहना संभव नहीं। इस प्रकार विशेषण-विशेष्य-भाव विशेषण तथा विशेष्य के स्वरूप से भिन्न नहीं।

भाव यह है:—जिस प्रकार विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार व्याप्य-व्यापक-भाव तथा कार्य-कारण-भाव सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं होते। उदाहरणार्थ धूम और अग्नि में व्याप्य-व्यापक-भाव है। यहाँ धूम (व्याप्त) है, जिसे प्रतिबद्ध कहा गया है। प्रतिबन्ध कहते हैं व्याप्ति को, जिसमें किसी की व्याप्ति होती है वह प्रतिबद्ध (व्याप्त) कहलाता है। धूम में अग्नि की व्याप्ति है अतः 'अग्नि से प्रतिबद्ध धूम है' ऐसा कहा जाता है। यहाँ 'स्व' (अपने) का अभिप्राय है अग्नि अदि (व्यापक); स्वप्रतिबद्ध अर्थात् अग्नि आदि से प्रतिबद्ध। अग्निप्रतिबद्धो धूमः' (=अग्निव्याप्तो धूमः) इस प्रकार की प्रतीति को उत्पन्न करने वाला जो अग्नि आदि का स्वरूप है वही उनका व्यापकत्व (व्यापकता) है। उनके स्वरूप से भिन्न कोई ऐसा पदार्थ व्यापकता नहीं जो अग्नि आदि में रहता हो। इसी प्रकार 'अग्निः धूमव्यापकः (अग्नि धूम का व्यापक है) इस प्रकार की प्रतीति का जनक जो धूम का स्वरूप है वहीं धूम की व्याप्यता है, उससे भिन्न कुछ नहीं। फलतः व्याप्य-व्यापक-भाव भी सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है अपितु उनका स्वरूप मात्र ही है।

कार्य-करण-भाव के विषय में भी यह बात है। जैसे तन्तु का कार्य पट है। तन्तु कारण है पट कार्य है। तन्तु में जो कारणता है वह तन्तु का स्वरूप ही है, ऐसा स्वरूप जिसके अन्वय-व्यतिरेक का पट द्वारा अनुसरण किया जाता है; अर्थात् जिसके होने पर ही पट की उत्पत्ति होती है, जिसके अभाव में पट उत्पन्न नहीं होता। तन्तु के इस प्रकार के स्वरूप से भिन्न कारणता कुछ नहीं है। इसी प्रकार पट में जो कार्यता

नाप्युभयाश्रितो विशेषणे विशेषणभावमात्रस्य सत्त्वाद् विशेष्यभावस्याभावाद्, विशेष्ये च विशेष्यभावमात्रस्य सद्भावाद् विशेषणभावस्याभावात् ।

नाप्येको विशेषणं च विशेष्यं च तयोर्भाव इति द्वान्द्वात् परं श्रूयमाणो

है, वह भी पट का स्वरूप ही है उससे भिन्न नहीं । अतः कार्य-करण-भाव को कार्य तथा कारण नामक दोनों सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं माना जा सकता । यदि व्याप्य-व्यापक-भाव अथवा कार्य-कारण भाव-आदि को सम्बन्धियों से भिन्न माना जाये तो जैसा विशेषण-विशेष्य-भाव के सन्दर्भ में दिखाया जा चुका है, उसका द्रव्य आदि ६ पदार्थों में से किसी एक में अन्तर्भाव मानना होगा । किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं । कारण यह है कि अभाव में भी व्यापकत्व रहता है तथा उसमें कारणत्व भी रहता है । यह व्यापकत्व या कारणत्व यदि द्रव्य आदि के रूप में होगा तो अभाव में न रह सकेगा; क्योंकि अभाव में तो कोई द्रव्य आदि रहता ही नहीं ।

यदि कोई कहे कि व्यापकत्व आदि इसी प्रकार जातियाँ (सामान्य) है, जिस प्रकार घटत्व आदि हैं । यह भी ठीक नहीं क्योंकि अभाव में तो कोई सामान्य आदि रह ही नहीं सकती, फिर तो अभाव को व्यापक या कारण आदि न माना जा सकेगा । अतः व्याप्य-व्यापक भाव तथा कारणत्व आदि को भी वस्तु के स्वरूप से भिन्न नहीं माना जा सकता ।

(ii) विशेषण-विशेष्य-भाव उभयाश्रित भी नहीं

वह दोनों सम्बन्धियों में आश्रित (उभयाश्रित) भी नहीं हैं; क्योंकि विशेषण में केवल विशेषणता (विशेषणभाव) रहती है उसमें विशेष्यता (=विशेष्यभाव) नहीं रहती । किञ्च, विशेष्य में केवल विशेष्यता रहती है । उसमें विशेषणता नहीं रहती ।

इस प्रकार विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्धियों के स्वरूप से भिन्न नहीं है ।

सम्बन्ध के लक्षण का द्वितीय अंश है कि सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों में आश्रित रहता है (उभयाश्रितः) । विशेषण-विशेष्य-भाव में यह अंश भी घटित नहीं होता । विशेषण-विशेष्य-भाव का अभिप्राय है विशेषणभाव (=विशेषणता) और विशेष्यभाव (=विशेष्यता) । इनमें से विशेषणता केवल विशेषण में रहती है, विशेष्य में नहीं, अतः वह उभयाश्रित नहीं है । विशेष्यता केवल विशेष्य में रहती है, विशेषण में नहीं, अतः वह भी उभयाश्रित नहीं हैं । जब विशेषणभाव तथा विशेष्यभाव दोनों ही उभयाश्रित नहीं हैं तो विशेषण-विशेष्य-भाव को उभयाश्रित कैसे माना जा सकता है ?

(iii) विशेषण-विशेष्य भाव एक भी नहीं

(विशेषण-विशेष्य-भाव) एक भी नहीं है । विशेषण और विशेष्य (=विशेषणविशेष्य) उन दोनों का भाव (विशेषण-विशेष्य-भाव); इस (विग्रह) में द्वन्द्व

भावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तथा च विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेत्युपपन्नम् । द्वावेतावेकश्च सम्बन्धः ।

तस्माद् विशेषणविशेष्यभावो न सम्बन्धः । एवं व्याप्यव्यापकभावादयोऽपि । सम्बन्धशब्दप्रयोगस्तूभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येणोपचारात् ।

(समास) से परे जो भाव शब्द सुना जाता है, उसका प्रत्येक (विशेषण तथा विशेष्य पद) के साथ सम्बन्ध होता है । इस प्रकार विशेषणभाव और विशेष्यभाव, यह अर्थ हो जाता है । ये विशेषणभाव और विशेष्यभाव तो दो हैं किन्तु सम्बन्ध एक होता है ।

सम्बन्ध के लक्षण का यह तृतीय अंश है कि सम्बन्ध एक होता है (एकः), एक ही सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों में रहा करता है । यह अंश भी विशेषण-विशेष्य भाव में घटित नहीं होता । कैसे ? विशेषण-विशेष्य भाव शब्द का विग्रह है **विशेषणं विशेष्यं च विशेषणविशेष्ये** । इस प्रकार विशेषण तथा विशेष्य दोनों पदों का द्वन्द्व समास होता है तथा समस्त पद का 'भाव' शब्द के साथ षष्ठी समास होता है **विशेषणविशेष्ययोः** (=तयोः) भावः=**विशेषण-विशेष्यभावः** । यहाँ द्वन्द्व समास के अन्त में 'भाव' शब्द जुडा है और नियम यह है कि द्वन्द्व समास के अन्त में आने वाले पद का द्वन्द्व समास के प्रत्येक पद से पृथक् पृथक् अन्वय हुआ करता है (**द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते**) । फलतः यहाँ 'भाव' शब्द का विशेषण तथा विशेष्य दोनों पदों से पृथक्-पृथक् अन्वय होगा । इसलिये विशेषणभाव तथा विशेष्यभाव यह अर्थ हो जायेगा । ये दो पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं एक नहीं । इस प्रकार विशेषण-विशेष्यभाव को एक नहीं कहा जा सकता । किन्तु सम्बन्ध तो एक हुआ करता है यह ऊपर कहा जा चुका है ।

विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता, इस स्थापना का उपसंहार करते हुए पूर्वपक्षी कहता है—

इसलिये (=तस्माद्) विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार व्याप्य-व्यापक-भाव आदि भी (सम्बन्ध नहीं है) । इनके लिये सम्बन्ध शब्द का प्रयोग तो दो के द्वारा निरूपणीय होने की समानता के कारण उपचार (गौण रूप में) से होता है ।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि सम्बन्ध वह कहलाता है जो दोनों सम्बन्धियों से भिन्न होता है (सम्बन्धिभ्यां भिन्नः) दोनों सम्बन्धियों पर आश्रित होता है (उभयाश्रितः) तथा एक होता है (एकश्च) । ये तीन बातें विशेषण-विशेष्य-भाव में नहीं हैं । इसलिये उसे सम्बन्ध नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार व्याप्य-व्यापक-भाव आदि में भी ये तीनों बातें नहीं मिलती अतः वह भी सम्बन्ध नहीं है । अब प्रश्न यह है कि यदि व्याप्य-व्यापक-भाव आदि सम्बन्ध नहीं हैं तो शास्त्र में इनके लिये सम्बन्ध शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है । इसके उत्तर में कहा गया है—

'उभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येण उपचारात् ।'

तथा चासम्बद्धस्याभावस्येन्द्रियेण ग्रहणं न सम्भवति ।

भाव यह है कि व्याप्य-व्यापक-भाव आदि को उपचार से सम्बन्ध कह दिया जाता है वस्तुतः ये सम्बन्ध नहीं हैं । 'उपचार' का अर्थ है एक अर्थ के वाचक शब्द का अन्य अर्थ के लिये प्रयोग, लक्षणा या गौणी वृत्ति । जब कोई शब्द मुख्य अर्थ में बाधित हो जाता है तो मुख्य अर्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है उसका अन्य अर्थ में प्रयोग औपचारिक कहा जाता है । यहाँ 'सम्बन्ध' शब्द का मुख्य अर्थ है १. सम्बन्धिभ्यां भिन्नः २. उभयाश्रितः ३. एकश्च । व्याप्य-व्यापक-भाव आदि में यह अर्थ सम्भव नहीं है अतः 'सम्बन्ध' शब्द साधर्म्य (समानता) के कारण ही व्याप्य-व्यापक भाव आदि का बोध कराता है । यहाँ साधर्म्य यह है कि संयोग, समवाय आदि जो 'सम्बन्ध' शब्द के मुख्य अर्थ हैं वे उभयनिरूपणीय होते हैं; अर्थात् दोनों सम्बन्धियों का कथन (निरूपण) करके ही उन्हें बतलाया जा सकता है; जैसे 'मेज तथा पुस्तक का संयोग है" ऐसा कहा जाता है । यदि हम कहें कि पुस्तक का संयोग है तो किससे संयोग है ? यह आकाङ्क्षा बनी रहती है । फलतः संयोग आदि सम्बन्ध उभयनिरूपणीय (=दोनों सम्बन्धियों द्वारा बतलाये जाने योग्य) हैं । इसी प्रकार विशेषण-विशेष्य-भाव, व्याप्य-व्यापक-भाव आदि भी उभयनिरूपणीय हैं । 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि में 'दण्ड' विशेषण है 'पुरुष' विशेष्य है इत्यादि रूप में ही विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध को बतलाया जा सकता है । इस उभयनिरूपणीयत्व रूप साधर्म्य के कारण विशेषण-विशेष्य-भाव आदि को भी उपचार से सम्बन्ध कह दिया जाता है । वस्तुतः ये सम्बन्ध नहीं होते ।

उपर्युक्त प्रकार से 'नन्विन्द्रियाणि सम्बद्धार्थग्राहकाणि······उपचारात्' के सन्दर्भ में पूर्वपक्षी की युक्तियों का विवेचन करके पूर्वपक्ष का उपसंहार करते हैं:—

(३) इन्द्रिय द्वारा अभाव का ग्रहण संभव नहीं

इस प्रकार (इन्द्रियों से) सम्बद्ध न होने वाले अभाव का इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता ।

संक्षेप में पूर्वपक्ष का अभिप्राय है:—१. यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय स्वसम्बद्ध पदार्थ का ग्रहण करती है, २. इन्द्रिय का अभाव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता; जो नैयायिक कहता है कि इन्द्रिय विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष से अभाव का ग्रहण करती है वह भी युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि विशेषण-विशेष्य-भाव को सम्बन्ध ही नहीं माना जा सकता । फलतः ३. इन्द्रिय के द्वारा अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता । अतः घटाभाव आदि से ग्रहण के लिये 'अभाव' नाम का पृथक् प्रमाण मानना होगा । फिर तो तर्कभाषा का यह कथन युक्तियुक्त नहीं कि चार ही प्रमाण है ।

सत्यम् । भावावच्छिन्नत्वाद् व्याप्तेर्भावं प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयति, नत्वभावमपि। अभावं प्रकाशयदिन्द्रियं विशेषणविशेष्यभावमुखेनैवेति सिद्धान्तः ।

असम्बद्धाभावग्रहेऽतिप्रसङ्गदोषस्तु विशेषणतयैव निरस्तः । समश्च परमते ।

(४) नैयायिक द्वारा पूर्वपक्षी के मत का निराकरण

ठीक है (कि इन्द्रिय सम्बद्ध अर्थ की ग्राहक होती है); किन्तु यह व्याप्ति भाव (पदार्थ) तक ही सीमित है; अर्थात् भाव (पदार्थ) को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय प्राप्त (=सम्बद्ध) अर्थ को ही प्रकाशित करती है न कि अभाव (पदार्थ) को भी । अभाव को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय तो विशेषण-विशेष्य-भाव के द्वारा (=मुख) ही प्रकाशित करती है, यह सिद्धान्त है ।

नैयायिक का कथन है कि 'इन्द्रिय स्वसम्बद्ध अर्थ का ग्रहण करती है' इस नियम को हम भी स्वीकार करते हैं । किन्तु यह नियम भाव पदार्थों में ही लागू होता है, अभाव पदार्थ के विषय में नहीं । हमारे मत में दो प्रकार के पदार्थ हैं—एक भावात्मक दूसरे अभावात्मक । द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय—ये ६ भाव (=भावात्मक) पदार्थ हैं अभाव सप्तम पदार्थ है, जो अभावात्मक है, भावात्मक नहीं । इन्द्रिय द्रव्य आदि ६ भावपदार्थों का तो उनसे सम्बद्ध होकर ही ग्रहण कर सकती है, बिना सम्बन्ध के नहीं । किन्तु अभाव का ग्रहण करने के लिये संयोग या समवाय सम्बन्ध अपेक्षित नहीं है । अनुभव से विदित होता है कि इन्द्रिय विशेषण-विशेष्य-भाव द्वारा ही अभाव का ग्रहण किया करती है । अथवा कहिये कि अनुकूल तर्क तथा अनुपलब्धि के सहकार से इन्द्रिय अपने से असम्बद्ध अभाव का ही ग्रहण कर लेती है ।

नैयायिक से इस मन्तव्य पर यह शङ्का हो सकती है—यदि यह मान लिया जाये कि इन्द्रिय असम्बद्ध अभाव का ग्रहण करती है तब तो सभी पदार्थों का विना सम्बन्ध के ही ग्रहण करने लगेगी और दीवार आदि के दूसरे ओर स्थित (व्यवहित) पदार्थ का भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने लगेगा (चि०) । किञ्च, जिस प्रकार चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव का ग्रहण होता है उसी प्रकार चक्षु से असन्निकृष्ट अन्य स्थलों में घटाभाव का ग्रहण होने लगेगा । किन्तु ऐसा अनुभव के विरुद्ध है और इसे वादी तथा प्रतिवादी दोनों में से कोई स्वीकार नहीं करता । अतः ऐसा मानने पर अतिप्रसङ्ग दोष होता है; अर्थात् जिन विषयों का ग्रहण होना अभिमत नहीं है उनका भी ग्रहण प्राप्त होता है । इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है:—

असम्बद्ध अभाव का ग्रहण मानने पर जो अतिप्रसङ्ग दोष (की आशङ्का) है उसका तो विशेषणता (=इन्द्रियसम्बद्ध-विशेषण-विशेष्य-भाव) के द्वारा ही निराकरण हो जाता है और वह दोष दूसरे (पूर्वपक्षी) के मत में भी समान है ।

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ।।

जहाँ दोनों (पक्षों) में समान दोष होता है और (दोष का) परिहार भी समान होता है, उस प्रकार के अर्थ का विचार करने में एक (पक्ष) पर आक्षेप (पर्यनुयोग) न करना चाहिये ।

इन पंक्तियों में पूर्वपक्षी की शङ्का तथा सिद्धान्ती का समाधान दोनों ही संक्षेप में दिखला दिये गये हैं । **'असम्बद्धाभावग्रहेऽतिप्रसङ्गदोषः'** इस कथन में पूर्वपक्षी की शङ्का को प्रकट किया गया है । इसकी व्याख्या अवतरणिका में की जा चुकी है । **'तु विशेषणतयैव निरस्तः'** इस कथन में उपर्युक्त शङ्का का समाधान किया गया है । समाधान का आशय यह है—

जैसा ऊपर षोढा सन्निकर्ष के सन्दर्भ में दिखलाया गया है, न्या०-वै० के मतानुसार संयोग आदि पञ्चविधसम्बन्धों में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध पदार्थ में विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष (पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्ध-सम्बद्ध-विशेषणता-सन्निकर्ष) के द्वारा अभाव का ग्रहण हुआ करता है । उदाहरणार्थ 'घटाभाववद् भूतलम् (=भूतल घटाभाव वाला है) यहाँ भूतल के साथ इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध है । इस संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध भूतल में विशेषण रूप से घटाभाव का ग्रहण होता है । इसी प्रकार अभाव-ग्रहण के अन्य प्रसङ्गों में भी हुआ करता है । ऐसा मानने पर किसी दोष का प्रसङ्ग नहीं है । (१) न तो व्यवहित पदार्थ का इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है, और (२) न ही इन्द्रिय से असन्निकृष्ट स्थल मे अभाव का ग्रहण होता है; क्योंकि वहाँ व्यवहित पदार्थ अथवा असन्निकृष्टस्थल के साथ संयोग आदि पञ्चविध सम्बन्धों में से कोई भी सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार इन्द्रिय से सम्बद्ध पदार्थ में विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष के द्वारा अभाव का ग्रहण होता है, यह न्याय का मन्तव्य दोषरहित है ।

किञ्च, यदि पूर्वपक्षी कहे कि जब विशेषण-विशेष्य-भाव कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो नैयायिक को इन्द्रिय से असम्बद्ध अभाव का ग्रहण मानना होगा, जो दोष ही है । इस पर नैयायिक का उत्तर है, अभाव प्रमाण को पृथक् मानने वाले के मत में भी यह दोष विद्यमान है कि प्रमाण द्वारा असम्बद्ध अर्थ का ग्रहण होता है । क्योंकि अभाव नामक प्रमाण का घटाभाव आदि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है । और वाद का नियम यह है कि जहाँ वादी-प्रतिवादी दोनों के पक्ष में समान रूप से दोष आता हो तथा उस दोष का परिहार भी समान रूप से ही किया जा सकता हो वहाँ एक पक्ष में उस दोष की उद्भावना न करनी चाहिये ।

इस प्रकार न्याय-मत के अनुसार अभाव नामक पृथक् प्रमाण नहीं है । योग्य पदार्थ की अनुपलब्धि होने पर अनुकूल तर्क के सहकार से प्रत्यक्ष द्वारा ही अभाव का ग्रहण हो जाता है । किञ्च भाट्ट मीमांसक आदि के अभिमत अर्थापत्ति तथा अभाव

नामक प्रमाणों का प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। और चार ही प्रमाण हैं' यह कथन संगत हो है।

टिप्पणी—(i) अतिप्रसङ्गः—जिसके लिये कुछ कहना अभिमत होता है यदि उससे अन्य (अनभिमत) स्थलों में भी वह बात लागू होने लगती है तो अतिप्रसङ्ग दोष कहलाता है—प्रकृतादन्यत्र प्रसञ्जनम्, यस्य बोधो यत्राभिमतस्तदन्यस्यापि बोध-प्रसङ्गत्वम् (सर्वलक्षणसङ्ग्रह)। ऊपर के उदाहरण में यदि इन्द्रिय से असम्बद्ध अभाव का ग्रहण मान लिया जाये तो असम्बद्ध अन्य पदार्थों का भी ग्रहण प्राप्त होता है अथवा इन्द्रिय से असन्निकृष्ट स्थल में भी अभाव का ग्रहण प्राप्त होता है, यही अति-प्रसङ्ग है। (ii) पर्यनुयोगः—दूषणार्थ जिज्ञासा, हलायुधः।

३०. प्रामाण्यवाद

'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस लक्षण के अनुसार प्रमा (=यथार्थ अनुभव) का करण प्रमाण कहलाता है। किन्तु 'प्रमाण' शब्द का यथार्थ ज्ञान के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। 'प्रामाण्यवाद' शब्द में प्रमाण शब्द का अर्थ है—यथार्थ ज्ञान। इस प्रमाण का भाव प्रमाणत्व या प्रामाण्य कहलाता है। अतः प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता (याथार्थ्य)—**ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यम्-तर्कभाषा**। ज्ञान की यथार्थता ही उसका प्रामाण्य है। इस प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य-विषयक विचार (वाद) को ही प्रामाण्यवाद कहा जाता है—**प्रामाण्यसम्बन्धी वादः प्रामाण्यवादः**।

प्रश्न यह है कि कोई ज्ञान यथार्थ (=प्रमाण) है या अयथार्थ, इसका निश्चय कैसे होता है। इसको तर्कशास्त्र की भाषा में इस प्रकार कहा जाता है "ज्ञान का प्रामाण्य कैसे गृहीत होता है ? अथवा "ज्ञानों का प्रामाण्यग्रह कैसे होता है" ? इस प्रश्न को लेकर भारतीय दर्शन में एक रोचक विवाद प्रस्तुत किया गया है। संभवतः प्रथमतः वेद की प्रामाणिकता के विषय में इस प्रकार के विवाद का उदय हुआ था। कालान्तर में यह विचार सामान्यतः सभी ज्ञानों के विषय में किया जाने लगा। अब विवाद का विषय है, 'ज्ञानों के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का कैसे ग्रहण होता है" ?

[विशेष—ज्ञानों के प्रामाण्य पर उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दो दृष्टियों से विचार किया गया है। फलतः प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का स्वतस्त्व दो प्रकार का है एक उत्पत्ति में स्वतस्त्व दूसरा ज्ञप्ति में स्वतस्त्व। उत्पत्ति में स्वतस्त्व का अभिप्राय यह है कि जिस कारण-सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है। ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का अभिप्राय यह है कि जिस साधन के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उसके द्वारा ही ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। इसी प्रकार प्रामाण्य का परतस्त्व भी दो प्रकार का है उत्पत्ति में परतस्त्व तथा ज्ञप्ति में परतस्त्व। उत्पत्ति में परतस्त्व का अर्थ है कि जिस कारणसामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उससे भिन्न कारणों से प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य उत्पन्न होते हैं, इन्द्रिय तथा अर्थ के संयोग आदि से ज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु

गुण अथवा दोष से ज्ञान का प्रामाण्य या अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। ज्ञप्ति में परतस्त्व का अर्थ है, जिस साधन के ज्ञान का ग्रहण होता है उससे अन्य साधन के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय किया जाता है। तर्कभाषा में उत्पत्तिविषयक स्वतस्त्व तथा परतस्त्व का विचार नहीं किया गया है। यहाँ केवल ज्ञप्तिविषयक स्वतस्त्व तथा परतस्त्व का विचार किया गया है।]

प्रामाण्य के ग्रहण के विषय में पूर्व कोटि है कि ज्ञानों के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों स्वतः गृहीत हो जाते हैं (स्वतोग्राह्यत्व)। उत्तर कोटि है कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः गृहीत होते हैं (परतोग्राह्यत्व)। स्वतोग्राह्यत्व का अभिप्राय यह है कि जिस प्रमाण के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उसके द्वारा ही उसके प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है परतोग्राह्यत्व का अर्थ है कि जिस प्रमाण के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उससे अन्य के द्वारा उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का ग्रहण होता है। यहाँ पूर्वकोटि में सांख्य को माना जाता है तथा उत्तर कोटि में न्याय-वैशेषिक को। अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों को इस विषय में विभज्यवादी कहा जा सकता है। वे या तो एक को स्वतः और दूसरे को परतः मानते हैं। अथवा प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को ही कहीं स्वतः और कहीं परतः मानते हैं। इस प्रकार इस विषय में भारतीय दर्शन में निम्नलिखित मत दृष्टिगोचर होते हैं

१. प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः—सांख्य—द्र०, प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः, सर्वदर्शनसंग्रह; मानमेयोदय पृ० १७६; न्यायमञ्जरी भाग १, पु० १६०--१६४; श्लोकवार्तिक, सू० २ श्लोक ४७]

२. प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः—मीमांसा वेदान्त—[द्र० श्लोकवार्तिक तथा शास्त्रदीपिका १ १.२; मानमेयोदय पृ० १७६; १८६, न्यायमञ्जरी भाग १, पृ० १६०--१७४; वेदान्तपरिभाषा]

३. अप्रामाण्य स्वतः प्रामाण्य परतः—बौद्ध (एकदेशी)—सौगतं चरमं स्वतः सर्वदर्शनसंग्रह]

४. प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परतः—बौद्ध-न्याय—[तत्त्वसंग्रह, कारिका ३१२३]

५. उत्पत्ति में दोनों स्वतः ज्ञप्ति में दोनों परतः—जैन—[प्रमाणमीमांसा १·१·८]

६. प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः—न्याय-वैशेषिक=[न्यायमञ्जरी भाग १, पृ० १६६–१७४, न्यायकन्दली]

तर्कभाषा में इन सभी मतों का विवेचन नहीं किया गया। यहाँ तो केवल मीमांसक के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसका निराकरण किया गया है तथा न्याय०-वै० के प्रामाण्यवाद-विषयक सिद्धान्त का संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है। इस सन्दर्भ के मुख्यतः चार अंश हैं—१. प्रामाण्य के विषय में व्यावहारिकी समस्या, २. मीमांसक-मत से उसका समाधान तथा प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व, ३. मीमांसक के मत का निराकरण तथा ४. न्याय-सिद्धान्त का निरूपण।

[ज्ञानानां प्रामाण्यम्]

इदमिदानीं निरूप्यते। जलादिज्ञाने जाते, तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। कश्चित् सन्देहादेव प्रवृत्तः प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति[1] वस्तुगतिः।

१. प्रामाण्य के विषय में व्यावहारिकी समस्या—

अब यह विचार किया जाता है कि कोई तो जल आदि का ज्ञान हो जाने पर उस (ज्ञान) की प्रामाणिकता का निश्चय करके जल आदि (के ग्रहण या त्याग) में प्रवृत्त होता है; किन्तु कोई सन्देह से ही प्रवृत्त होकर प्रवृत्ति के पश्चात् जल आदि की प्राप्ति हो जाने पर (ज्ञान के) प्रामाण्य का निश्चय करता है। यह वास्तविक दशा है।

ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है या परतोग्राह्य इस प्रकार का सन्देह क्यों उत्पन्न होता है? इसका निरूपण करते हुए लोक की वस्तुस्थिति को दिखलाया गया है। लोकयात्रा में ज्ञान का उपयोग यह है—हम किसी वस्तु का ज्ञान करते हैं। यदि उसे अपने लिये हितकर समझते हैं तो उसे लेने का विचार करते हैं (उपादानबुद्धि =ग्रहण करने का निश्चय)। यदि उस वस्तु को अपने लिये हानिकर समझते हैं तो उसे छोड़ देने का विचार करते हैं (हानबुद्धि=त्यागने का निश्चय)। यदि हम सोचते है कि इस वस्तु से हमारा हित या अहित कुछ भी नहीं होने वाला है तो उसके प्रति उदासीन हो जाते हैं (उपेक्षाबुद्धि=तटस्थ भाव)। यही हानोपादानोपेक्षा बुद्धि हमारी प्रवृत्ति का निमित्त हुआ करती है। प्रवृत्ति का अर्थ है किसी वस्तु का ग्रहण या त्याग करने के लिये चेष्टा करना। इस प्रकार ज्ञान हमारी प्रवृत्ति का निमित्त हुआ करता है।

लोक में (१) यथार्थ ज्ञान तथा (२) संशय ज्ञान दोनों से ही प्रवृत्ति देखी जाती है। (१) कभी तो कोई व्यक्ति जानता है कि यहाँ जल है। वह बार-बार यहाँ जल को देखकर जल लेता रहा है। अतः यह भी निश्चय कर लेता है कि मेरा यह जल-ज्ञान प्रामाणिक है। तब पिपासा की शान्ति आदि के लिए जल लेने में प्रवृत्त हो जाता है। (२) कभी किसी व्यक्ति को यह संभावना होती है कि 'वहाँ जल है'। इस सम्भावना (=सन्देह) मात्र से ही वह जल लेने में प्रवृत्त हो जाता है। क्यों? हित प्राप्ति की सम्भावना अथवा सन्देह से भी कार्य में प्रवृत्ति हुआ करती है। अपनी प्रवृत्ति के पश्चात् वह जल को प्राप्त कर लेता है। अतः उसकी प्रवृत्ति सफल हो जाती है। सफल प्रवृत्ति को ही शास्त्रीय भाषा में समर्थ प्रवृत्ति (प्रवृत्तिसामर्थ्यं= ज्ञान के अनुकूल प्रवृत्ति) कहा जाता है। इस सफल प्रवृत्ति से वह व्यक्ति 'वहाँ जल है' इस (सम्भावना-रूप) ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय कर लेता है।

उपर्युक्त दो प्रकार की स्थिति को देखने से यह संशय उत्पन्न होता है कि प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाया करता है अथवा प्रवृत्ति के पश्चात् ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है।

१. द्वेधा, इत्यधिकः पाठः।

अत्र कश्चिदाह । प्रवृत्तेः प्रागेव*' प्रामाण्यमवधार्य पुरुषः प्रवर्त्तते स्वत एव* प्रामाण्यावधाराणात् । अस्यार्थः, येनैव यज्ज्ञानं गृह्यते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि, न तु ज्ञानग्राहकादन्यज् ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम् । तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य । ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतं कथमन्यथा प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात् । अनधिगते धर्मिणि सन्देहानुदयात् । तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते । ततः पुरुषः

टिप्पणी—यहाँ जो लोक में दो प्रकार की स्थिति दिखाई गई है । इनमें से प्रथम प्रवृत्ति अभ्यासदशापन्न ज्ञान की अवस्था में होती है, द्वितीय प्रवृत्ति अनभ्यास दशापन्न ज्ञान की अवस्था में होती है (चि०) अभ्यासदशापन्न (=अभ्यासदशा को प्राप्त) ज्ञान वह है जिसमें हम अभ्यासी हो जाते हैं, जिस प्रकार के ज्ञान से प्रवृत्त होकर हम पहिले फल को प्राप्त कर चुकते हैं; जैसे अपने हाथ आदि के विषय में जो हमारा ज्ञान है, वह अभ्यासदशापन्न ज्ञान है । इसी प्रकार यह 'मेरे घर का द्वार है' यह विश्वविद्यालय का कार्यालय है' इत्यादि ज्ञान अभ्यासदशापन्न ज्ञान है । इन स्थलों पर प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाया करता है, यह आगे दिखलाया जायेगा । अभ्यासदशापन्न ज्ञान से भिन्न अनभ्यासदशापन्न ज्ञान कहलाता है ।

उपर दिखलाये हुए संशय की स्थिति में मीमांसक के मत को प्रस्तुत करते हैं—

२. मीमांसक के मत से समस्या का समाधान तथा प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व

इस विषय में कोई (भाट्ट मीमांसक) कहता है कि प्रवृत्ति से पहले ही प्रामाण्य का निश्चय करके पुरुष प्रवृत्त होता है; क्योंकि (ज्ञान के) प्रामाण्य का निश्चय स्वतः ही हो जाया करता है (=प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है) । इसका अभिप्राय यह है कि जिस (सामग्री) के द्वारा जो ज्ञान गृहीत होता है उस (सामग्री) से ही उस (ज्ञान) में स्थित प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है । ज्ञान के ग्राहक से भिन्न, ज्ञान के धर्म प्रामाण्य का ग्राहक दूसरा नहीं है । इस प्रकार ज्ञान-ग्राहक (सामग्री) से अतिरिक्त (सामग्री) की (प्रामाण्य ग्रहण के लिये) अपेक्षा न होना ही प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व है ।

और, ज्ञान तो प्रवृत्ति से पहिले ही गृहीत हो जाता है । यदि ज्ञान पहिले गृहीत न हुआ करे तो (=अन्यथा) उस ज्ञान की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता का सन्देह कैसे हुआ करे ? न जाने हुए (अनधिगत, अज्ञात) धर्मी में (धर्मविषयक) सन्देह नहीं हुआ करता । इसलिये प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञातता की अन्यथा (=ज्ञान के विना) अनुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान गृहीत हो जाता है तथा ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का भी अर्थापत्ति से ही ग्रहण हो जाता है । उसके पश्चात् पुरुष

प्रवर्तते। न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते, ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन[1] ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते।

प्रवृत्त होता है। ऐसा नहीं कि पहिले ज्ञान गृहीत होता हो, उसके पश्चात् प्रवृत्ति के अनन्तर फल-प्राप्ति के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय किया जाता हो।

प्रस्तुत अवतरण में तीन बातों का निरूपण किया गया है- (१) मीमांसक के अनुसार प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है; क्योंकि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है, (२) स्वतोग्राह्यत्व का स्वरूप; (३) प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान तथा तद्गत प्रामाण्य के ग्रहण में युक्ति।

(१) पूर्वोक्त प्रकार से जो लोकव्यवहार में दो प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है उसके आधार पर ये दो विकल्प हो सकते हैं—(क) ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करने के पश्चात् ही व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है अथवा (ख) प्रवृत्ति के पश्चात् प्रामाण्य का निश्चय होता है। इस विषय में मीमांसक का मन्तव्य है कि प्रामाण्य का निश्चय करने के पश्चात् ही व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है। कैसे? क्योंकि ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः गृहीत हो जाता है—प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है। प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता से यह कैसे सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति से पूर्व ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है? इसका उत्तर देने के लिये प्रथमतः प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता का स्वरूप दिखलाया गया है—

अस्यार्थः··· ··प्रामाण्यस्य।

(२) प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता का स्वरूप—ऊपर कहा गया है कि ज्ञान के प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता (=याथार्थ्य)। यह प्रामाण्य ज्ञान का धर्म है ज्ञान इसका धर्मी है। अथवा कहिये की ज्ञान नामक धर्मी में प्रामाण्य नाम का धर्म रहता है। प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है, इस कथन का अभिप्राय है कि जिस कारण-सामग्री के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उसी के द्वारा उस ज्ञान के (धर्म) प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। ऐसा नहीं होता कि एक सामग्री से ज्ञान का ग्रहण करने के पश्चात् किसी अन्य साधन से ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण होता हो। अतः ज्ञान नामक धर्मी तथा प्रामाण्य नामक उसके धर्म का एक ही कारण-सामग्री से ग्रहण हो जाता है इसी बात को निषेधात्मक रूप से इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण करने के लिये ज्ञान-ग्राहक सामग्री से अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता नहीं होती—ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वम्। मीमांसक के अनुसार ज्ञातता द्वारा (अर्थापत्ति से) ज्ञान का ग्रहण होता है। उस अर्थापत्ति से ही ज्ञानगत प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। उस प्रामाण्य ग्रहण के लिए अर्थापत्ति से भिन्न किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती। यही प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व है।

(३) किन्तु यह भी मान लिया जाये कि अर्थापत्ति से ज्ञान एवं तद्गत प्रामाण्य दोनों का ग्रहण हो जाता है तो भी प्रश्न यह है कि 'प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान का ग्रहण हो जाता है', इसमें में क्या युक्ति है। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—का

१. दर्शने जाते, इति पाठा०।

च······सन्देहानुयात्। यदि प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान का ग्रहण न हुआ करता तो उस ज्ञान के विषय में इस प्रकार का सन्देह न हुआ करता कि यह ज्ञान यथार्थ है अथवा अयथार्थ।

अभिप्राय यह है—किसी व्यक्ति ने दूर से देखा 'वह घट है'। दूरी के कारण वह निश्चय न कर सका और उसे संशय हुआ कि मेरा घटविषयक ज्ञान प्रमाण है या अप्रामाण। यहाँ जो उस व्यक्ति का घटविषयक ज्ञान है उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का संशय होता है। ये प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ज्ञान के ही धर्म हैं। यदि उस व्यक्ति को ज्ञान का ग्रहण न होगा तो उस ज्ञान के विषय में उपर्युक्त प्रकार का संशय न होगा। क्यों ? जिस धर्मी का ज्ञान नहीं होता उसके धर्म के विषय में सन्देह नहीं हो सकता। जैसे यदि हम स्थाणु सा प्रतीत होने वाले पदार्थ (धर्मी) को ही न देखें तो 'यह स्थाणु है या पुरुष' इस प्रकार का संशय नहीं होता है। उपर्युक्त प्रकार का संशय प्रवृत्ति से पूर्व हुआ करता है अतः प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान का ग्रहण हो जाता है, यह मानना ही चाहिए।

प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के ग्रहण के साथ-साथ उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है, यह प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—तस्मात्···गृह्यते। भाट्ट मीमांसक के मत में ज्ञान का ग्रहण अर्थापत्ति नामक प्रमाण से होता है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है दृष्ट या श्रुत अर्थ की अन्यथानुपपत्ति से जहाँ उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है वहाँ अर्थापत्ति नामक प्रमाण होता है। यहाँ ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से अर्थान्तर की कल्पना की जाती है अतः इस अर्थापत्ति को ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूता' कहा गया है। भाव यह है—इन्द्रिय तथा घट आदि के सन्निकर्ष के अनन्तर 'अयं घट;' इत्यादि ज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा घट में कोई धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है जिसे ज्ञातता (जाना गया होना) कहते हैं तभी हमें 'मया ज्ञातो ऽयं घटः' इस प्रकार का अनुभव हुआ करता है; वह ज्ञातता नामक धर्म ज्ञान के विना (=अन्यथा) नहीं बन सकता—अनुपपन्न है। इस ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से अन्य अर्थज्ञान की कल्पना (=अर्थापत्ति) की जाती है। यह अन्यअर्थ (=ज्ञान) की कल्पना ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से उत्पन्न (प्रसूत) होती है। अतः अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है। और उसी अर्थापत्ति से ज्ञान के धर्म' प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। मीमांसक के अनुसार ज्ञान की अर्थबोधकता ही उसका प्रामाण्य है। इस प्रकार भाट्ट मीमांसाक के अनुसार प्रवृत्ति से पूर्व ही अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान एवं ज्ञान के (धर्म) प्रामाण्य का ज्ञान हो जाता है। प्रामाण्य के ग्रहण के लिए ज्ञान के ग्राहक से भिन्न अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। अतः ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है।

मीमांसक के मत का निराकरण

भाट्टमीमांसक के मतानुसार ज्ञातता के द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण

अत्रोच्यते। ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते इति यदुक्तं तदेव वयं न मृष्यामहे, तया प्रामाण्यग्रहस्तु दूरत एव। तथा हि इदं किल परस्याभिमतम्—घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातता प्रतिसन्धीयते। तेन ज्ञाने जाते सति ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जात इत्यनुमीयते। स च ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात् ज्ञाने जाते च जातत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यत इत्यवधार्यते। एवं च ज्ञानजन्योऽसौ ज्ञातता नाम धर्मो ज्ञानमन्तरेण नोपपद्यते कारणाभावे कार्यानुदयात्। तेनार्थापत्त्या स्वकारणं ज्ञानं ज्ञाततयाऽऽक्षिप्यत इति।

होता है तथा अर्थापत्ति से ही ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण हो जाता है अतः प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है। 'अत्रोच्यते' इत्यादि में इस मत का खण्डन किया गया है। इस सन्दर्भ को तीन अंशों में रक्खा जा सकता है:—(१) ज्ञातता और उसके द्वारा ज्ञान का ग्रहण, (२) ज्ञातता का खण्डन तथा (३) प्रामाण्य के स्वतोग्राह्य का निराकरण।

(१) ज्ञातता और उसके द्वारा ज्ञान का ग्रहण

इस विषय में कहना है:—ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, जो यह कहा गया है, उसको ही हम नहीं मानते। फिर उस (अर्थापत्ति) के द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण तो दूर ही होगा। जैसे कि अन्य (भाट्ट मीमांसक) का मत है—घट आदि विषय का ज्ञान होने पर 'मैंने यह घट जान लिया' इस प्रकार घट की ज्ञातता का अनुभव होता है। उससे यह अनुमान किया जाता है कि ज्ञान हो जाने पर (घट में) ज्ञातता नामक कोई धर्म उत्पन्न हो गया है। और यह (ज्ञातता नामक धर्म) ज्ञान से पूर्व उत्पन्न नहीं होता, किन्च ज्ञान होने पर उत्पन्न हो जाता है, इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ऐसा निश्चय किया जाता है कि वह (ज्ञातता नामक धर्म) ज्ञान से उत्पन्न होता। इस प्रकार ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञातता नामक धर्म ज्ञान के बिना नहीं बन सकता; क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञातता अपने कारण ज्ञान का आक्षेप कर लेती है।

ज्ञातता······ इति इत्यादि में ज्ञातता का स्वरूप दिखलाते हुए ज्ञातता के द्वारा (अर्थापत्ति से) ज्ञान के ग्रहण की प्रक्रिया दिखलाई गई है। मीमांसक का मत है:—हम घट आदि को प्रत्यक्ष देखते हैं तो हमें 'अयं घटः' (यह घट है) इस प्रकार का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् 'मया ज्ञातोऽयं घटः' (मैंने इस घट को जान लिया) इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में घट की ज्ञातता (जाना गया होना) या प्रकटता (प्रकटित होना) का भान होता है, घट आदि की ज्ञातता का प्रत्यक्षतः अनुभव हुआ करता है। ज्ञातता का यह अनुभव तभी सम्भव है जब घट में ज्ञातता नाम का कोई धर्म हो, अतः यह अनुमान किया जाता है कि घट का ज्ञान होने

न चैतद्युक्तम् । ज्ञानविषयतातिरिक्ताया ज्ञाततया अभावात् ।
ननु ज्ञानजनितज्ञातताधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम् । तथा

पर उस ज्ञान से घट में ज्ञातता नाम का कोई धर्म उत्पन्न हो गया है या कहिये कि ज्ञान से (विषय में) ज्ञातता उत्पन्न हो जाती है (ज्ञातता ज्ञानजन्या)। ऐसा निश्चय किस आधार पर किया जाता है ? यह बात 'स च······अवधार्यते' इस पंक्ति में स्पष्ट की गई है। भाव यह है कि ज्ञान से पूर्व 'ज्ञातोऽयं घटः' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती और घट-ज्ञान हो जाने पर इस प्रकार की प्रतीति हुआ करती है। अतः यहाँ घट-ज्ञान होने पर ही ज्ञातता की प्रतीति होती है (अन्वय), ज्ञान के अभाव में ज्ञातता की प्रतीति नहीं होती (व्यतिरेक); इस अन्वय-व्यतिरेक से यह निश्चय कर लिया जाता है कि घट-ज्ञान से घट में कोई नवीन धर्म उत्पन्न हो गया हो। उस धर्म का अनुभव 'ज्ञातोऽयं घटः' इस रूप में होता है, अतः उस धर्म को ज्ञातता (ज्ञातस्य भावः, ज्ञात तल्) शब्द से कहा जाता है उसके लिये प्रकटता शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

इस ज्ञातता के द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है। कैसे ? ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है। यह ज्ञातता कार्य है तथा ज्ञान इसका कारण है। ज्ञातता का हमें प्रत्यक्षतः अनुभव होता है किन्तु ज्ञान का नहीं। ज्ञान की तो अर्थापत्ति से प्रतीति होती है। कार्य का यह स्वभाव है कि वह कारण के बिना उत्पन्न नहीं होता। फलतः ज्ञान का कार्य जो ज्ञातता है वह अपने कारण ज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसीलिये ज्ञातता की अन्यथा (ज्ञान के बिना) अनुपपत्ति से ज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है। इस प्रकार भाट्ट मीमांसक के मत में ज्ञान का ग्रहण अर्थापत्ति से होता है, प्रत्यक्ष से नहीं।

यहाँ संक्षेप में ज्ञान की प्रतीति के तीन सोपान दिखलाये गये हैं:—

(क) ज्ञातता का प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव, (ख) ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है (ज्ञातता ज्ञान-जन्या), यह अनुमान तथा (ग) अर्थापत्ति द्वारा ज्ञातता से ज्ञान की प्रतीति। इस समस्त प्रक्रिया का आधार ज्ञातता है। अतः नैयायिक (सिद्धान्ती) प्रथमतः ज्ञातता का खण्डन करता है।

(२) ज्ञातता का खण्डन

इस खण्डन के दो अंश हैं (क) ज्ञानविषयता से भिन्न ज्ञातता कुछ नहीं, (ख) ज्ञातता को विषयता का नियामक मानने में दो दोषों की उद्भावना।

(क) ज्ञानविषयता से भिन्न ज्ञातता नहीं

और यह, (भाट्ट मीमांसक का मत) युक्त नहीं क्योंकि ज्ञानविषयता (ज्ञान का विषय होना) के अतिरिक्त ज्ञातता (कुछ) नहीं होती।

(मीमांसक की शङ्का) ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का आधार होना

हि न तावत् तादात्म्येन विषयता, विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोस्तादात्म्यानभ्युपगमात्। तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः, इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः। तेनेदमनुमीयते, ज्ञानेन घटे किञ्चिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो नान्यः। इत्यतो विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्यापि[1] ज्ञाततासिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण।

ही घट आदि की ज्ञानविषयता (ज्ञान का विषय होना) है। जैसे कि यह विषयता तादात्म्य (सम्बन्ध) से नहीं बन सकती; क्योंकि घट आदि विषय तथा उसके ज्ञान (—विषयी) का तादात्म्य नहीं माना जा सकता। यदि तदुत्पत्ति (जिस वस्तु से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही वस्तु उस ज्ञान का विषय है, इस प्रकार) से विषयता मानें तो इन्द्रिय आदि भी ज्ञान का विषय होने लगेंगे; क्योंकि इन्द्रिय आदि से भी उस ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि ज्ञान ने घट में कुछ (धर्म) उत्पन्न कर दिया है जिससे घट ही उस ज्ञान का विषय है, कोई अन्य (पदार्थ) नहीं। इस प्रकार विषयता की अन्यथा (ज्ञातता के बिना) अनुपपत्ति (न बन सकना) से उत्पन्न होने वाली अर्थापत्ति के द्वारा भी ज्ञतता की सिद्धि होती है; केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं।

जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, मीमांसक के मत में ज्ञान द्वारा घट आदि में एक नवीन धर्म उत्पन्न हो जाता है जिसे ज्ञातता कहते हैं। इस विषय में नैयायिक का कथन है कि ज्ञान का विषय होना (=ज्ञानविषयता) से भिन्न ज्ञातता नाम का कोई धर्म नहीं होता। कोई 'घट अयं घटः' (यह घट है) इत्यादि ज्ञान का विषय है, यही घट की ज्ञातता है, इससे भिन्न कुछ नहीं।

इस पर मीमांसक कहता है कि ज्ञानविषयता ही ज्ञातता नहीं है अपितु उससे भिन्न एक विशेष धर्म है, जो ज्ञानविषयता का निमित्त हुआ करता है; अथवा कहिये कि जिस पदार्थ में ज्ञातता रहती है वही किसी ज्ञान का विषय कहलाता है। इस प्रकार ज्ञानविषयता (ज्ञान का विषय होना) ज्ञातता का कार्य है और ज्ञातता उसका कारण है। इस ज्ञानविषयता से भी अर्थापत्ति द्वारा ज्ञातता की सिद्धि होती है। ऊपर मीमांसक की ओर से कहा गया था कि ज्ञातता का प्रत्यक्षतः अनुभव होता है। यहाँ दिखलाया जा रहा है कि केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं अर्थापत्ति (प्रमाण) के द्वारा भी इस ज्ञातता की सिद्धि होती है। कैसे ?

'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय घट है, पट नहीं, यह सभी को अनुभव होता है। विचारणीय यह है कि घट को इस ज्ञान का विषय किस आधार पर माना जाये; अर्थात् विषयता का नियामक क्या है ? प्रायः भारतीय दर्शन में इस विषयता के नियामक दो निमित्तों की विशेष चर्चा की गई है, तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति। तादात्म्य का अर्थ है—तद्रूपता या तदाकारता। यह कहा जा सकता है कि घट-ज्ञान आदि का

१. अतो विषयत्वान्यथानुपपत्त्यापि, इति पाठा०।

जिस घट आदि के साथ तादात्म्य है, वह घट आदि घटज्ञान आदि का विषय कहलाता है।.ज्ञान तथा विषय का तादात्म्य दो प्रकार से माना गया है। एक तो विज्ञानवादी बौद्ध का मत है, कि प्रत्येक घट आदि बाह्य पदार्थ ज्ञान का आकार है घट आदि का ज्ञान से अभेद (तादात्म्य) है। जो घट आदि जिस ज्ञान का आकार है, वह घट आदि उसी ज्ञान का विषय कहलाता है। दूसरे, सौत्रान्तिक बौद्ध-सम्प्रदाय मानता है कि घट आदि बाह्य विषय की ज्ञान से पृथक् सत्ता है; किन्तु घट आदि के द्वारा उसके आकार का ही ज्ञान उत्पन्न होता है। फलतः जिस पदार्थ के आकार वाला ज्ञान होता है वही पदार्थ उस ज्ञान का विषय कहलाता है, अन्य नहीं। वेदान्त तथा योग के मत में भी बुद्धि, विषयाकार में परिणत हो जाती है—बुद्धि की विषयाकारता मानी जाती है अतः तादात्म्य या तदाकारता ही विषयता की नियामक कही जा सकती है।

मीमांसक का कथन है कि तादात्म्य को विषयता का नियामक नहीं माना जा सकता; क्योंकि घट आदि जो ज्ञान के विषय हैं वे बाह्य पदार्थ हैं और घट-ज्ञान आदि जो विषयी (जिसका कोई विषय होता है) वह आन्तरिक है। फिर दोनों का तादात्म्य कैसे सम्भव है? किञ्च, न तो मीमांसक ज्ञान एवं विषय का तादात्म्य स्वीकार करता है और न नैयायिक ही। अतः वादी तथा प्रतिवादी दोनों के लिये ही तादात्म्य को विषयता का नियामक मानना अभीष्ट नहीं है।

कुछ दार्शनिक तदुत्पत्ति के आधार पर विषयता का नियम मानते हैं, वह भी युक्तियुक्त नहीं। 'तदुत्पत्ति का अर्थ है उससे उत्पत्ति (तस्माद् उत्पत्तिः)। भाव यह है कि जिस पदार्थ से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय है, दूसरा नहीं। जैसे घट से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस घट-ज्ञान का विषय घट ही होगा, पट आदि नहीं। मीमांसक का कथन है कि ऐसा मानना भी ठीक नहीं। क्यों? घट-ज्ञान केवल घट से ही उत्पन्न नहीं होता। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। प्रकाश (आलोक) आदि भी चाक्षुष ज्ञान में कारण होते हैं। यदि तदुत्पत्ति से विषयता की व्यवस्था होगी तब तो आत्मा, मन, चक्षु तथा आलोक आदि भी घट-ज्ञान के विषय होने लगेंगे; क्योंकि उनसे भी तो घट-ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये यह मानना होगा कि तदुत्पत्ति से विषयता की व्यवस्था नहीं होती।

मीमांसक के कथन का उपसंहार करते हुए कहा गया है—तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति से विषयता का निश्चय नहीं हो सकता। इसलिये यह मानना चाहिये कि ज्ञान के द्वारा घट आदि में कुछ नवीन धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है जिससे घट ही ज्ञान का विषय कहलाता है, पट आदि या चक्षु एवं आलोक आदि नहीं। ज्ञान द्वारा घट आदि में उत्पन्न होने वाले इस नवीन धर्म को ज्ञातता कहते हैं। इस ज्ञातता के आधार पर ही विषयता का निश्चय होता है। जो पदार्थ जिस ज्ञान

मैवम् । स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्तेः । अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वाभाविको विशेषो येनानयोर्विषयविषयिभावः ।

इतरथातीतानागतयोर्विषयत्वं न स्यात् । ज्ञानेन तत्र ज्ञातताजननासम्भवादसति धर्मिणि धर्मजननायोगात् ।

किञ्च, ज्ञातताया अपि स्वज्ञानविषयत्वात् 'तत्रापि ज्ञाततान्तरप्रसङ्ग-

---

से उत्पन्न ज्ञातता का आधार होता है वही उस ज्ञान का विषय कहलाता है। इस प्रकार ज्ञातता के बिना विषयता नहीं बन सकती अतः विषयता की अन्यथानुपपत्ति से (अर्थापति द्वारा) भी ज्ञातता की सिद्धि होती है, केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं।

भाट्ट मीमांसक की शङ्का का समाधान करते हुए नैयायिक कहता है—

(**नैयायिक का समाधान**) यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि स्वभाव से ही विषय-विषयि-भाव बन जाता है। अर्थ और ज्ञान की ऐसी ही स्वाभाविक विशेषता है जिससे इन दोनों में विषय-विषयि-भाव हुआ करता है (स्वभाव से ही पदार्थ विषय होता है और ज्ञान विषयी)।

सिद्धान्ती का अभिप्राय है कि ज्ञातता के आधार पर विषयता का निश्चय नहीं होता। ऐसा नहीं है कि घट-ज्ञान के द्वारा घट में ज्ञातता नाम का धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है इसलिये घट उस ज्ञान का विषय कहलाता है। तथ्य यह है कि विषय-विषयिभाव स्वभावतः हुआ करता है। घट आदि का स्वभाव है कि वह विषय होता है, ज्ञान का स्वभाव है कि वह विषयी होता है। अथवा कहिये कि जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह ज्ञान का विषय कहलाती है, और वह ज्ञान विषयी, यह स्वाभाविक है। इसके लिये कोई आधार खोजने की आवश्यकता नहीं। और, पदार्थों के स्वभाव के विषय में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि किसी पदार्थ का यही स्वभाव क्यों है, दूसरा क्यों नहीं।

किञ्च, यदि ज्ञातता के आधार पर ही विषयता का निश्चय किया जायेगा तो दोष भी होगा।

(क) ज्ञातता को विषयता का नियामक मानने में दो दोष

अन्यथा (यदि ज्ञातता को ही विषयता का नियामक माना जाये तो)

(i) अतीत तथा अनागत पदार्थों में विषयता न हो सकेगी; क्योंकि ज्ञान के द्वारा उनमें ज्ञातता का उत्पन्न होना असम्भव है। विद्यमान न होने वाले (=असति) धर्मी में तो धर्म को उत्पन्न करना सम्भव नहीं होता।

(ii) इसके अतिरिक्त (यह भी दोष होगा); ज्ञातता भी अपने (ज्ञातता विषयक) ज्ञान का विषय होती है अतः वहां भी दूसरी ज्ञातता माननी पड़ेगी और

---

१. तत्रातिप्रसङ्गः, इति पाठा० ।

स्तथा चाऽनवस्था । अथ ज्ञाततान्तरमन्तरेणापि स्वाभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः । एवं चेत् तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततयेति ।

अस्तु वा ज्ञातता, तथापि तन्मात्रेण ज्ञानं गम्यते[1] ज्ञातताविशेषेण

इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी। यदि कहो कि दूसरी ज्ञातता के बिना भी ज्ञातता तो स्वभाव से ही (ज्ञान का) विषय हो जाती है तब तो घट आदि में भी ज्ञातता (मानने) से क्या (लाभ) ?

यहाँ ज्ञातता को विषयता का नियामक मानने में दो दोष दिखलाये गये हैं—(i) अतीत तथा अनागत पदार्थ ज्ञान का विषय न हो सकेगा। 'गत दिवस वर्षा हुई थी, आगामी दिवस वर्षा होगी' इत्यादि ज्ञानों में अतीत की वर्षा तथा भविष्यत् की वर्षा भी हमारे ज्ञान का विषय होती है। यदि ज्ञातता के आधार पर ही कोई पदार्थ ज्ञान का विषय माना जाये तो यह अतीत तथा अनागत वर्षा हमारे ज्ञान का विषय न हो सकेगी। क्यों ? हमारे वर्तमानकालीन ज्ञान द्वारा अतीत या अनागत पदार्थ में ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। जो पदार्थ विद्यमान होता है उसमें ही किसी धर्म की उत्पत्ति की जा सकती है। जो पदार्थ भूतकालीन है या जो आगे होने वाला है, वह वर्तमान काल में विद्यमान ही नहीं (=असत्) है। फिर उसमें किसी धर्म का उत्पादन कैसे किया जा सकता है ? जब हमारे वर्तमान ज्ञान द्वारा अतीत या अनागत पदार्थों में ज्ञातता का उत्पादन न किया जा सकेगा तो वे ज्ञान के विषय न हुआ करेंगे। किन्तु वे ज्ञान के विषय होते हैं। अतः यह दोष है।

(ii) दूसरा दोष यह है कि मीमांसक के अनुसार जानी गई (ज्ञात) ज्ञातता से ही अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की प्रतीति होती है। अतः ज्ञातता भी 'यह ज्ञातता है' मैंने ज्ञातता को जान लिया' इत्यादि ज्ञान का विषय है। इस ज्ञातता को ज्ञान का विषय मानने के लिये एक अन्य ज्ञातता की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार उस दूसरी ज्ञातता को भी ज्ञान का विषय बनाने के लिये एक तीसरी ज्ञातता की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। यदि मीमांसक कहे कि ज्ञातता को ज्ञान का विषय मानने के लिये दूसरी ज्ञातता की कल्पना नहीं करनी होती, वह तो स्वभाव से ही ज्ञान का विषय हो जाती है। फिर तो घट आदि को भी स्वभावतः ही ज्ञान का विषय मान लेना चाहिये। यहाँ भी ज्ञातता को मानने की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रकार ज्ञातता की सिद्धि नहीं होती और भाट्ट मीमांसक का यह कथन कि ज्ञातता से ज्ञान एवं ज्ञानगत प्रामाण्य दोनों का ही अर्थापत्ति द्वारा ग्रहण हो जाता है तथा प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है—युक्तिसंगत नहीं।

(३) प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व का निराकरण—

यदि मीमांसक के कथनानुसार ज्ञातता को मान भी लिया जाये तो भी प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता सिद्ध नहीं होती, यह बतलाते हैं—

१. प्रामाण्यं कुतः। अथ ज्ञाततया ज्ञानमात्रं गृह्यते प्रामाण्यं ज्ञातताविशेषेणेत्युच्यते तर्हि ज्ञाततया ज्ञानं गृह्यते, इत्यधिकः पाठः।

प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा प्रामाण्यमिति कुत एव ज्ञानग्राहकग्राह्यता प्रामाण्यस्य । अथ केनचिज्ज्ञाततताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्ये सहैव गृह्येते । एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वक्तुम् । केनचिज्ज्ञाततताविशेषेण अप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रमाण्ये सहैव गृह्येते, इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम्[1] । अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम् । ज्ञानग्राहकादन्वत इत्यर्थः ।

अथवा यदि ज्ञातता को मान भी लिया जाये तो भी केवल ज्ञाततामात्र से ज्ञान गृहीत होता है और प्रमाण ज्ञान के साथ नियम से रहने वाली (= अव्यभिचारी) विशेष प्रकार की ज्ञातता से प्रामाण्य (गृहीत होता है)। इस प्रकार ज्ञान-ग्राहक सामग्री के द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण कैसे हुआ ? यदि कहो (अथ) कि प्रमाण ज्ञान के साथ नियम से रहने वाली किसी विशेष प्रकार की ज्ञातता से ज्ञान तथा प्रामाण्य (दोनों) एक साथ ही गृहीत हो जाते हैं, ऐसा होने पर तो यही बात (ज्ञान के) अप्रामाण्य के विषय में भी कही जा सकती है कि अप्रमाण ज्ञान के साथ नियम से रहने वाली किसी विशेष प्रकार की ज्ञातता से ज्ञान तथा अप्रामाण्य (दोनों) एक साथ ही गृहीत हो जाते हैं । इस प्रकार अप्रामाण्य को भी स्वतोग्राह्य ही मानना होगा । और यदि फिर भी अप्रामाण्य को परतोग्राह्य ही मानते हो तो प्रामाण्य का ग्रहण भी परत., अर्थात् ज्ञानग्राहक (सामग्री) से अन्य के द्वारा ही मानना चाहिये, यह भाव है ।

ऊपर यह विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है कि ज्ञातता का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता फिर उसके आधार पर अर्थापत्ति से ज्ञान तथा प्रामाण्य का ग्रहण मानकर प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता कैसे सिद्ध हो सकती है । यहाँ बतलाते हैं कि यदि अभ्युपगमवाद से ज्ञातता को भी मान लिया जाये तो भी प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता सिद्ध नहीं होती । क्यों ? जिस प्रकार मनुष्य शब्द से सामान्य मनुष्य (मनुष्यमात्र) का बोध होता है, 'बुद्धिमान् मनुष्य' कहने से मनुष्यविशेष (बुद्धिविशिष्ट मनुष्य) का बोध होता है अतः मनुष्य, तथा बुद्धिमान् मनुष्य' में भेद किया जाता है; इसी प्रकार ज्ञान तथा प्रमाण ज्ञान में भी भेद है । फलतः ज्ञान तथा प्रमाण ज्ञान से उत्पन्न होने वाली 'ज्ञातता' में भी भेद होगा; क्योंकि कारण के भेद से कार्य में भेद हो जाया करता है ।

अब, प्रमाण ज्ञान के दो धर्म हैं एक तो ज्ञानत्व और दूसरा प्रमाणत्व = प्रामाण्य । जहाँ प्रमाण ज्ञान के द्वारा ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होगा, उस ज्ञातता में भी दो अंश होंगे एक ज्ञातता (= ज्ञाततामात्र) और दूसरा प्रामाण्य । अतः प्रमाण ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता प्रामाण्यविशिष्ट ज्ञातता होगी । यह प्रामाण्यविशिष्ट

---

१. गृह्येत, इति पाठा० ।

ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गह्यते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन। तथाहि जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा फलवती, अफला चेति। तत्र या

ज्ञातता (ज्ञाततावि‌शेष) प्रमाण ज्ञान से ही उत्पन्न होती है उसके बिना नहीं अतः इसे प्रमाणज्ञानाव्यभिचारी (=प्रमाण ज्ञान के साथ नियम से रहने वाली) कहा गया है। जब मीमांसक के अनुसार ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है तो ज्ञाततामात्र से ज्ञान का ग्रहण होगा और प्रामाण्यविशिष्ट ज्ञातता (ज्ञाततावि‌शेष) से ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण होगा। ज्ञाततामात्र (=सामान्य ज्ञातता) तथा ज्ञाततावि‌शेष (=प्रामाण्य-विशिष्ट ज्ञातता) में भेद है। इसलिये ज्ञान-ग्राहक सामग्री के द्वारा ही ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण न हो सकेगा तथा प्रामाण्य की स्वातोग्राह्यता न सिद्ध हो सकेगी।

यदि मीमांसक कहे कि प्रमाण ज्ञान से जो प्रामाण्यविशिष्ट ज्ञातता (=ज्ञातता विशेष) उत्पन्न होती है उसके द्वारा ही ज्ञान तथा ज्ञानगत प्रामाण्य दोनों का एक साथ ग्रहण हो जाता है। इसलिये ज्ञान-ग्राहक सामग्री द्वारा ही ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण होता है तथा प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता बन जाती है (अथ केनचित्०)। इस पर नैयायिक का कथन है (एवं चेद्·········गृह्यताम्) कि फिर तो अप्रामाण्य को भी स्वतोग्राह्य मानना चाहिये। उसके विषय में भी यही युक्ति दी जा सकती है कि अप्रमाण ज्ञान से उत्पन्न होने वाली विशेष प्रकार की ज्ञातता से ज्ञान तथा ज्ञानगत अप्रामाण्य दोनों का ग्रहण हो जाता है, अतः ज्ञान का अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य है। किन्तु मीमांसक अप्रामाण्य को स्वतोग्राह्य नहीं मानता। उसके मत में दोष-ज्ञान या बाध-ज्ञान से किसी ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है तथा अप्रामाण्य परतो-ग्राह्य होता है।

यदि इस युक्ति के होने पर भी भाट्ट मीमांसक अप्रामाण्य को परतोग्राह्य ही मानता है तब तो उसे प्रामाण्य को भी परतोग्राह्य मानना होगा। यह तो उचित नहीं कि जिस युक्ति के आधार पर वह प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य सिद्ध करता है उसी युक्ति को अप्रामाण्य के विषय में न स्वीकार करे। इस प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य को परतो-ग्राह्य मानना ही युक्तिसंगत है। प्रामाण्य की परतोग्राह्यता का अर्थ है कि ज्ञान-ग्राहक सामग्री से भिन्न-सामग्री द्वारा ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण होता है।

४. प्रामाण्यवाद के विषय में न्याय-सिद्धान्त का निरूपण

सिद्धान्ती (नैयायिक) प्रामाण्य की परतोग्राह्यता का निरूपण करते हुए कहता है—

ज्ञान का तो मानस प्रत्यक्ष से ही ग्रहण हो जाता है किन्तु प्रामाण्य का (ग्रहण) अनुमान से होता है। जैसे कि ('यह जल है' इस प्रकार के) जल ज्ञान के पश्चात् जल के अभिलाषी व्यक्ति की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है एक सफला

१. 'इति' क्वचिन्नास्ति।

फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था[1] तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते।[2] प्रयोगश्च विवादाध्यासितं[3] जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्। यन्न प्रमाणं न तत् समर्थां प्रवृत्तिं जनयति[4] यथा प्रमाणाभास इति केवलव्यतिरेकी।

अत्र च[5] फलवत्प्रवृत्तिजनकं यज्जलज्ञानं तत्पक्षः, तस्य प्रामाण्यं साध्यं याथार्थ्यमित्यर्थः। न तु[6] प्रमाकरणत्वं, स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः। हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वमिति यावत्।

(प्रवृत्ति) और दूसरी विफला। इनमें जो सफल प्रवृत्ति होती है वह समर्था (कहलाती) है। उसके द्वारा ही उस ज्ञान के प्रामाण्य—जिसका स्वरूप है याथार्थ्य—का अनुमान किया जाता है। (अनुमान का) प्रयोग यह है—विवादग्रस्त जलज्ञान प्रमाण है (प्रतिज्ञा), क्योंकि यह सफल प्रवृत्ति का जनक है (हेतु), जो (ज्ञान) प्रमाण नहीं होता वह सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं होता, जैसे प्रमाणाभास (व्यतिरेकी उदाहरण)। यह केवलव्यतिरेकी (अनुमान) है।

और इस (अनुमान) में सफल प्रवृत्ति का जनक जो जलज्ञान है; वह पक्ष है। उसका प्रामाण्य अर्थात् यथार्थता साध्य है प्रमाकरणत्व तो साध्य नहीं है; क्योंकि (यथार्थ) स्मृति में (हेतु का) व्यभिचार होने लगेगा। यहाँ हेतु है—समर्थ-प्रवृत्ति-जनकत्व अर्थात् सफल प्रवृत्ति का जनक होना।

नैयायिक के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही परतोग्राह्य हैं जिस कारण-सामग्री के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उससे भिन्न सामग्री के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण हुआ करता है। संक्षेप में न्याय-सिद्धान्त के अनुसार प्रामाण्य के ग्रहण की प्रक्रिया यह है—

प्रत्यक्ष प्रमाण के सन्दर्भ में बतलाया गया है कि किसी पदार्थ के निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् उसका सविकल्पक ज्ञान होता है। यह सविकल्पक ज्ञान ही किसी अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान है।

इसमें वस्तु का नाम जाति आदि सहित भली-भाँति निश्चय हुआ करता है। इस निश्चयात्मक ज्ञान को व्यावसायात्मक ज्ञान या व्यवसाय कहते हैं। इसका स्वरूप है 'यह घट है' (अयं घटः) 'यह पुस्तक है' इत्यादि। इसके पश्चात् 'मैंने यह घट जान लिया' (मया ज्ञातोऽयं घटः) अथवा मैं घट को जानता हूँ (अहं घटं जानामि) इत्यादि रूप में ज्ञान हुआ करता है। इस ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते है। अनुव्यवसाय का अर्थ है व्यवसाय के अनन्तर होने वाला ज्ञान। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि

---

१. तत्र फलवती प्रवृत्तिः सा या समर्था, इति पाठा०। २. याथार्थ्यमनुमीयते, इति पाठा०। ३. विवादास्पदीभूतम्, इति पाठा०। ४. यत्तु न प्रमाणं न तत् समर्थप्रवृत्तिजनकम्, इति पाठा०। ५. च, क्वचिन्नास्ति ६. प्रमात्वम्, इति पाठा०।

जो 'अयं घटः' इत्यादि व्यवसायात्मक ज्ञान है वह घट-विषयक ज्ञान है, उसका विषय घट है, किन्तु जो 'अहं घटं जानामि' आदि अनुव्यवसाय ज्ञान है वह घटज्ञान का ज्ञान होता है। यह अनुव्यवसाय सभी के अनुभव से सिद्ध है। यह मानस प्रत्यक्ष (मन से किया गया प्रत्यक्ष) कहलाता है। इसमें मन इन्द्रिय (मनस्) द्वारा ज्ञान का प्रत्यक्ष हुआ करता है। इस प्रकार नैयायिक के अनुसार ज्ञान का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष से होता है।

ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण इस मानस प्रत्यक्ष से नहीं होता। यदि ज्ञान के ग्रहण के साथ-साथ उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाया करता तो ज्ञान के मानस-प्रत्यक्ष के पश्चात् जो संशय देखा जाता है, वह न हुआ करता। इसलिये नैयायिक का मत है कि ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय तो प्रवृत्ति द्वारा अनुमान से हुआ करता है। प्रवृत्ति का अर्थ है किसी पदार्थ के ग्रहण या त्याग की चेष्टा। यह प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है सफला तथा अफला। सफला प्रवृत्ति को समर्थ प्रवृत्ति भी कहते हैं। यदि किसी ज्ञान के द्वारा प्रवृत्त हुए व्यक्ति को ज्ञान से जानी गई वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उसकी प्रवृत्ति सफला या समर्था कहलाती है। यदि किसी वस्तु के ज्ञान के द्वारा प्रवृत्त हुए व्यक्ति को वही वस्तु नहीं प्राप्त होती तो उसकी प्रवृत्ति अफला (विफला) कहलाती है। सफला प्रवृत्ति से ज्ञान की यथार्थता(= प्रामाण्य) का अनुमान किया जाता है तथा अफला प्रवृत्ति से ज्ञान की अयथार्थता (= अप्रामाण्य) का।

अनुमान का प्रयोग 'प्रयोगश्च' इत्यादि पंक्तियों में दिखलाया गया है (द्र०- अनुमान)। यहाँ प्रयोग का अर्थ है अनुमान अथवा अनुमान का प्रयोग। यहाँ केवल-व्यतिरेकी अनुमान दिखलाया गया है, क्योंकि इस स्थल में अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान सम्भव नहीं है। इस अनुमान में सफल प्रवृत्ति का जनक जो जलज्ञान है, वह पक्ष है; क्योंकि उसमें प्रामाण्य की सिद्धि करनी है। यहाँ प्रामाण्य साध्य है और जिसमें साध्य का सन्देह होता है वह पक्ष कहलाता है (सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः)। प्रामाण्य साध्य है इस कथन में 'प्रामाण्य' शब्द का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता या याथार्थ्य।

इस पर यह शङ्का हो सकती है कि प्रमाण का भाव प्रामाण्य कहलाता है और 'प्रमाण' शब्द का पारिभाषिक अर्थ है प्रमाकरण; अतः प्रामाण्य का अर्थ 'प्रमाकरणत्व' होना चाहिये, इसका अर्थ 'याथार्थ्य' करना उचित नहीं। उसका समाधान करते हुए कहा गया है **स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः**—यदि यहाँ प्रामाण्य का अर्थ प्रमाकरणत्व मानेंगे तो यथार्थ स्मृति में प्रामाण्य न हुआ करेगा।

भाव यह है—न्याय के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का है स्मृति और अनुभव ये दोनों भी दो-दो प्रकार के होते हैं यथार्थ तथा अयथार्थ। यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं तथा उस प्रमा का करण ही प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार पारिभाषिक जो 'प्रमाण' शब्द है उसके द्वारा यथार्थ स्मृति का ग्रहण नहीं होता—यथार्थ स्मृति प्रमा

अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनानभ्यासदशापन्नस्य[1] ज्ञानस्य प्रामाण्येऽवबोधिते तद्दृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनान्वयव्यति-

के अन्तर्गत नहीं आती है। अब यदि प्रामाण्यवाद की चर्चा में 'प्रामाण्य शब्द का अर्थ प्रमाकरणत्व लिया जायेगा और प्रामाण्य की सिद्धि के लिये समर्थप्रवृत्तिजनकत्व, यह हेतु दिया जायेगा तो हेतु दोषयुक्त होगा। कैसे ? हमने कल एक पुस्तक अल्मारी में देखी थी। आज हमें उस पुस्तक की आवश्यकता हुई। हमें याद आया पुस्तक अल्मारी में है। इस स्मृति से हम लेने के लिये प्रवृत्त हुए और पुस्तक वहीं मिल गई। इस प्रकार के स्थलों में स्मृति भी समर्थ प्रवृत्ति को जनक होती है। अतः इस प्रकार की स्मृति में समर्थ-प्रवृत्तिजनकत्व यह हेतु विद्यमान है किन्तु यहाँ साध्य (प्रामाण्य = प्रमाकरणत्व) तो नहीं है। न्याय की परिभाषा में स्मृति तो प्रमा के अन्तर्गत ही नहीं है। इस प्रकार यह हेतु व्यभिचारी होगा, सद् हेतु नहीं। जब उपर के अनुमान में प्रामाण्य का अर्थ, याथार्थ्य = यथार्थ ज्ञान होना' लिया जाता है तो कोई दोष नहीं रहता; क्योंकि इस प्रकार की स्मृति भी यथार्थ ज्ञान ही है। इसलिये यहाँ प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान की यथार्थता।

ऊपर के अनुमान में जो 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्व' हेतु है उसका अर्थ है सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करना। समर्थ = सफल, न्यायभाष्य में बतलाया गया है—**सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः** (न्या० भा० १.१.१)

संक्षेप में प्रामाण्य के विषय में न्याय का सिद्धान्त यह है—मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है तथा उस ज्ञान से प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति की सफल प्रवृत्ति द्वारा उस ज्ञान के प्रामाण्य का तथा असफल प्रवृत्ति द्वारा अप्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। इसलिये ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय ज्ञान-ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री के द्वारा होता है। फलतः प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही परतोग्राह्य हैं।

अत्र शङ्का यह है कि यदि समर्थ प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है तो जो कहीं-कहीं प्रवृत्ति से पूर्व भी प्रामाण्य का निश्चय देखा जाता है, वह कैसे बन सकेगा। वहाँ 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु तो दिया नहीं जा सकता; क्योंकि उस ज्ञान से प्रवृत्ति हुई ही नहीं। फिर उसे समर्थ प्रवृत्ति का जनक कैसे कहा जा सकता है ? अतः यह तभी संगत से हो सकता है जब प्रवृत्ति से पूर्व स्वतः ही प्रामाण्य का निश्चय माना जाये। इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है—

इस केवलव्यतिरेकी अनुमान से अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाने पर उसके दृष्टान्त से जल के लिये प्रवृत्ति से पूर्व भी 'तज्जातीयत्व (समर्थ प्रवृत्तिजनक-जातीयत्व) हेतु के द्वारा अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान से अन्य अर्थात्

१. नाभ्यासदशापन्नस्य, इति पाठा०।

रेक्यनुमानेनान्यस्य ज्ञानस्याभ्यासदशापन्नस्य[1] प्रामाण्यमनुमीयते। [2]तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यत इति।

अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार प्रामाण्य परतः ही होता है अर्थात् ज्ञान के ग्राहक (साधन) द्वारा (प्रामाण्य का) ग्रहण नहीं किया जाता।

भाव यह है—ज्ञान दो प्रकार का होता है अभ्यासदशापन्न तथा अनभ्यासदशापन्न। इन दोनों शब्दों के अर्थ में विवाद है कुछ व्याख्याकारों के अनुसार जहाँ जलज्ञान के बाद उसकी प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति भी हो चुकी है उस ज्ञान को अभ्यासदशापन्न, ज्ञान कहते हैं।' उससे भिन्न अनभ्यासदशापन्न ज्ञान है। उन्होंने इसी व्याख्या के अनुसार पाठ भी माना है, द्र० टिप्पणी)। वस्तुतः 'अभ्यास का अर्थ है पौनः—पुन्य=बार-बार करना; जिस प्रकार के ज्ञान द्वारा हम पहिले सफल प्रवृत्ति कर लेते हैं ऐसा ज्ञान अभ्यासदशापन्न ज्ञान कहलाता है, उदाहरणार्थ हम अपने घर के द्वार को देखकर उसमें बार बार प्रवेश कर चुके हैं। अब हम जो यह जान रहे हैं कि यह हमारे घर का द्वार है' यह अभ्यासदशापन्न ज्ञान है। इस प्रकार के ज्ञान में प्रवृत्ति से पूर्व ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। हम यह प्रतीक्षा नहीं करते कि जब हम द्वार में प्रवेश कर चुकेंगे तभी हमारा द्वार-विषयक ज्ञान प्रामाणिक होगा।

कतिपय बौद्ध तथा जैन विद्वानों ने अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य बतलाया है। किन्तु न्याय-सिद्धान्त में इस अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य को भी परतोग्राह्य माना गया है। इसके प्रामाण्य का निश्चय भी अनुमान द्वारा ही होता है। फिर भी इसके प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु उपयुक्त नही है। क्यों? इस हेतु से तो अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध हुआ करता है। जहाँ किसी पदार्थ का प्रथम बार ही ज्ञान होता है और उस ज्ञान से होने वाली प्रवृत्ति सफल हो जाती है, वहीं सफल-प्रवृत्ति-जनकत्व हेतु द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय तो प्रवृत्ति से पूर्व हो जाता है। प्रामाण्य-निश्चय के समय तक प्रवृत्ति होती ही नहीं। फिर इस हेतु से उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का अनुमान कैसे किया जा सकता है? इसलिये वहाँ दूसरे प्रकार का अनुमान-प्रयोग होगा, जो इस प्रकार है—

अभ्यासदशापन्नं जलज्ञानं प्रमाणम् (प्रतिज्ञा)
समर्थप्रवृत्तिजनक-जलज्ञान-जातीयत्वात् (हेतु)
अनभ्यासदशापन्नजलज्ञानवत् (अन्वयी उदाहरण) अथवा यन्न प्रमाणं तन्न समर्थां प्रवृत्तिं जनयति यथा प्रमाणाभासः (व्यतिरेकी उदाहरण)

१. ज्ञानस्यानभ्यास०, इति पाठा०।
२. अतः, इति पाठा०।

यह अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान भी समर्थप्रवृत्तिजनक अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का सजातीय होता है, अतः वह प्रमाण होता है। इन दोनों में समानता (सजातीयता) यह है कि जिस प्रकार समर्थप्रवृत्ति का जनक ज्ञान दोष-रहित इन्द्रिय आदि से उत्पन्न होता है, इसी प्रकार यह भी।

इस प्रकार जहाँ प्रवृत्ति से पूर्व प्रामाण्य का निश्चय देखा जाता है, वहाँ भी प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा ही हुआ करता है। इसलिये सभी अवस्थाओं में ज्ञान का प्रामाण्य परतोग्राह्य है। ज्ञान की ग्राहक सामग्री द्वारा ज्ञानगत प्रामाण्य का निश्चय नहीं हुआ करता। ज्ञान का ग्रहण तो अनुव्यवसाय नामक प्रत्यक्ष द्वारा होता है और उसके प्रामाण्य का ग्रहण अनुमान द्वारा ही होता है।

टिप्पणी—(i) न्याय सम्प्रदाय के प्रामाण्यवाद का न्यायमञ्जरी भाग १ में विशद विवेचन किया गया है (ii) **अभ्यासदशापन्न**—इस शब्द की कई प्रकार से व्याख्या की गई है। चिन्नंभट्ट के अनुसार–**अभ्यासदशापत्तिर्नाम, निष्पादितार्थक्रियत्वं प्रमाणान्तरसंवादो वा** (तर्कभाषाप्रकाशिका, पृ० १६५) श्री रुद्रधर झा ने तत्त्वालोक नामक संस्कृत टीका में चिन्नंभट्ट का ही अनुसरण किया है—**अभ्यासदशापन्नस्य = निष्पादितार्थक्रियस्य**। आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि ने लिखा है—ऐसे स्थलों को जहाँ ज्ञान के बाद प्रवृत्ति हो जाती है और उसके बाद प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निश्चय होता है 'अभ्यासदशापन्न' कहते हैं (हिन्दी तर्कभाषा, पृ० १२५)। इसी प्रकार श्री बदरीनाथ शुक्ल ने लिखा है—'वह ज्ञान······ जो अपने विषयभूत अर्थ में ज्ञाता की प्रवृत्ति का सम्पादन कर चुका होता है' (पृ० १६७)। इन व्याख्याओं में चिनंभट्ट की टीका से युक्त संस्करण के पाठ को ही अपनाया गया है। संभवतः वैसा पाठ भी इस प्रकार की व्याख्या में निमित्त रहा है। वह पाठ इस प्रकार है—

अनेन तु केवलव्यतिरेकानुमानेनाभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्येऽवबोधिते तद्दृष्टान्तेन प्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनान्वयतिरेकानुमानेनान्यज्ञानस्यानभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते इति।

किन्तु गोवर्धन की टीका सहित जो तर्कभाषा का संस्करण है उसमें पाठान्तर है, जो प्रस्तुत संस्करण में लिया गया है (द्र० ऊपर) गोवर्धन ने इस पर लिखा है—**अनभ्यासदशापन्नत्वमनवधृतप्रामाण्यसजातीयत्वम्, अभ्यासदशापन्नत्वमवधृतप्रामाण्य-सजातीयत्वमिति संक्षेपः** (पृ० ६१)। यह व्याख्या इन शब्दों के अर्थ को बहुत स्पष्ट तो नहीं करती, फिर भी इनके वास्तविक अर्थ की ओर संकेत अवश्य करती है। इस संस्करण के अंग्रेजी नोट्स में इन शब्दों का अर्थ इस प्रकार किया है–अनभ्यासदशापन्न on the first occasion, अभ्यासदशापन्न = on subsequent occasions.

वस्तुतः यह शब्द बौद्धन्याय में बहुशः प्रयुक्त हुआ है। जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी। (भाग १) में भी इसका कई बार प्रयोग हुआ है। बौद्धन्याय के अनुसार अभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य **स्वतोग्राह्य है** (तत्त्वसंग्रह कारिका ३१२३)। न्यायमञ्जरी में इस मत का निराकरण किया गया है। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से

चत्वार्यत्र प्रमाणानि युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम् ।
केशवो बालबोधाय यथाशास्त्रमवर्णयत् ॥
इति प्रमाणपदार्थः समाप्तः[1] ।

यह विदित होता है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान वह ज्ञान है जिस ज्ञान के पूर्व उस प्रकार के अन्य ज्ञान से हमें किसी वस्तु में सफल प्रवृत्ति का होना विदित होता है ।

(iii) संक्षेप में न्याय का सिद्धान्त यह है–जिस ज्ञान के पूर्व उस प्रकार के किसी अन्य ज्ञान से सफल प्रवृत्ति का होना विदित नहीं होता (अनभ्यासदशापन्न) उस ज्ञान के प्रामाण्य का तो प्रवृत्ति के पश्चात् सफल प्रवृत्ति द्वारा अनुमान किया जाता है, और जिस ज्ञान से पूर्व उस प्रकार के अन्य ज्ञान से किसी वस्तु में सफल प्रवृत्ति का होना विदित होता है (अभ्यासदशापन्न) उस ज्ञान के प्रामाण्य का प्रवृत्ति से पूर्व ही सफल प्रवृत्ति-जनक ज्ञान के सजातीय होने से अनुमान कर लिया जाता है ।

प्रमाण-प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

केशव मिश्र ने बालकों के बोध के लिये (न्याय) शास्त्र के अनुसार संक्षिप्त युक्तियों का कथन करके चार ही प्रमाणों को वर्णित किया है ।

इस प्रकार प्रमाण पदार्थ समाप्त हुआ ।

यहाँ आरम्भ में ग्रन्थ का प्रयोजन तथा न्याय की प्रवृत्ति आदि का निरूपण करने के पश्चात् 'प्रमाण' का लक्षण दिया गया है । प्रमाण-लक्षण के प्रसङ्ग में प्रमा का लक्षण, कारण का लक्षण, कारण के तीन प्रकार, समवाय संयोग सम्बन्ध, करण-लक्षण. प्रमाण-लक्षण तथा अन्योक्त प्रमाण लक्षण का निराकरण आदि दिखलाया गया है । प्रसङ्गानुसार न्या०-वै० के कतिपय विशेष मन्तव्यों की भी व्याख्या कर दी गई है; जैसे प्रथम क्षण में निर्गुण द्रव्य उत्पन्न होता है, विनश्यदवस्था में गुण क्षण भर के लिये निराश्रय ही रहता है ।

तदनन्तर प्रमाण के चार प्रकारों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द) और चारों प्रमाणों के लक्षण एवं प्रभेदों का संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन किया गया है । प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में निर्विकल्पक-सविकल्पक प्रत्यक्ष के त्रिविध करण, व्यापार का लक्षण, षड्विध सन्निकर्ष तथा बौद्ध के प्रत्यक्षविषयक मन्तव्य आदि का निरूपण किया गया है । अनुमान के सन्दर्भ में व्याप्ति का स्वरूप, स्वार्थ एवं परार्थ अनुमान, अन्वय-व्यतिरेकव्याप्ति, अन्वय-व्यतिरेकी आदि त्रिविध हेतु तथा पञ्चविध हेत्वाभास का वर्णन किया गया है । इसी प्रकार शब्द-प्रमाण के सन्दर्भ में वाक्य, आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि तथा पद-स्वरूप आदि का भी विवेचन किया गया है ।

इसके पश्चात् चार ही प्रमाण हैं, इस स्थापना को पुष्ट करते हुए अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत अर्थापत्ति तथा अभाव प्रमाण के स्वरूप का निरूपण करके उनका स्वाभिमत चार प्रमाणों में ही अन्तर्भाव दिखलाया गया है । अन्त में न्या०-वै० के प्रामाण्यवाद-विषयक मन्तव्य का प्रतिपादन किया गया है ।

॥ इति प्रमाणनिरूपणम् ॥

---

१. क्वचिन्नास्ति ।

प्रमेयनिरूपणम्

[प्रमेयम्]

प्रमाणान्युक्तानि, अथ प्रमेयाण्युच्यन्ते।

'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्' इति सूत्रम्।

तत्रात्मत्वसामान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः, प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।[1]

प्रमेयों का निर्देश (१२ प्रमेय)

न्यायदर्शन के 'प्रमाणप्रमेय०' इत्यादि सूत्र में प्रमाण के पश्चात् प्रमेय को रक्खा गया है। अतः यहाँ प्रमेय पदार्थ का निरूपण करते हुए कहा गया है—

प्रमाणों का वर्णन कर दिया गया। अब प्रमेयों का वर्णन किया जाता है।

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन (मनस्) प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग (ये १२) प्रमेय हैं।

यह (न्यायदर्शन का) सूत्र (१.१.६) है।

यहाँ न्यायसम्प्रदाय के अनुसार आत्मा आदि १२ पदार्थों को प्रमेय कहा गया है। प्रमेय शब्द का अर्थ है–प्रमा का विषय। संसार में प्रमा के विषय असंख्य पदार्थ हो सकते हैं। विविध दार्शनिक सम्प्रदायों ने भी अपनी-अपनी रीति से प्रमेय पदार्थों का निरूपण किया है। न्याय के समानतन्त्र वैशेषिक ने ही द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय को पदार्थ बतलाया है। फिर भी यहाँ आत्मा आदि को ही प्रमेय कहा गया है। कारण यह है कि निःश्रेयस के साधन तत्त्वज्ञान का विवेचन करने के लिये यह न्यायशास्त्र प्रवृत्त हुआ है और आत्मा आदि के तत्त्वज्ञान से ही नि.श्रेयस की प्राप्ति होती है अतः यहाँ ये ही प्रमेय हैं।

(i) **टिप्पणी—(i) अस्त्यन्यदपि द्रव्य-गुण-कर्म सामान्य-विशेषसमवायाः प्रमेयम् तद्भेदेन चापरिसंख्येयम्। अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्याज्ञानात् संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेण। (न्या० भा० १.१.६) (ii) न्याय के उक्त सूत्र में आत्मा आदि को इस क्रम से क्यों रक्खा गया है? इसका विवेचन भी व्याख्याकारों ने किया है (द्र० चि०, न्या०-भा० न्याय वा०)।**

(१) आत्मा का निरूपण

आत्मशरीर० इत्यादि सूत्र में प्रमेयों का निर्देश किया गया है। अब क्रमशः उनके लक्षण देते हुए उनकी परीक्षा करते हैं। इन प्रमेयों में आत्मा प्रधान है। सूत्र में उसका ही प्रथम उल्लेख किया गया है। अतः प्रथमतः आत्मा का निरूपण करते हैं–

उन (प्रमेय) में से आत्मत्व जाति (=सामान्य) जिसमें रहती है वह आत्मा है। वह देह, इन्द्रिय से भिन्न है, प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् है, विभु तथा नित्य है।

---

१. नित्यो विभुश्च, इति पाठा०।

आत्मा का लक्षण है आत्मत्वसामान्यवान् । जैसा कि ऊपर कहा गया है, लक्षण के द्वारा वस्तु का सजातीय तथा विजातीय दोनों प्रकार के पदार्थों से भेद दिखला दिया जाता है । यहाँ आत्मा के सजातीय पदार्थ हैं शरीर आदि प्रमेय तथा अन्य प्रमाण आदि सभी इसके विजातीय पदार्थ हैं । उन सभी में आत्मत्व नामक जाति वाला पदार्थ आत्मा है, यह आत्मा का लक्षण है ।

'अहमस्मि (मैं हूँ) इस प्रकार की प्रतीति सभी को होती है । इस 'अहम्' (मैं) प्रतीति का जो आलम्बन है वही आत्मा कहलाता है किन्तु आत्मा के स्वरूप आदि के विषय में अनेक मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं । उन मत-भेदों का निराकरण करने के लिये यहाँ न्या० वै० के अनुसार आत्मा के विषय में चार स्थापनाएँ की गई हैं—(i) देहादिव्यतिरिक्तः, (ii) प्रतिशरीरं भिन्नः, (iii) विभुः, (iv) नित्यः ।

(i) देहादिव्यतिरिक्तः—वह आत्मा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है । यहाँ आदि शब्द से मन का ग्रहण होता है । इन तीनों से भिन्न आत्मा है, यह अभिप्राय है । एक चार्वाक (लोकायत) का मन्तव्य है कि पृथिवी आदि भूतों से ही चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है । 'मैं स्थूल हूँ' मैं कृश हूँ' इत्यादि में देह के विषय में ही 'अहम्' की प्रतीति देखी जाती है । इसलिये चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है । दूसरे चार्वाक का मत है कि 'मैं काना हूँ' मैं बहरा हूँ' इत्यादि में 'अहम्' की प्रतीति इन्द्रियों के विषय में होती है, अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा है । तीसरे चार्वाक का मन्तव्य है कि सुषुप्ति दशा में चक्षु आदि इन्द्रिय का व्यापार रुक जाने पर भी मन से ही समस्त व्यवहारों की सिद्धि हो जाती है अतः मन ही आत्मा है । इन सबके मत का निराकरण करने के लिये कहा गया है कि वह आत्मा देह, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न है ।

(ii) प्रतिशरीरं भिन्नः—आत्मा प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् है । वेदान्ती का मत है कि जिस प्रकार एक ही आकाश उपाधि के भेद से घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में पृथक्-पृथक् भासित होता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म उपाधि के भेद से नाना भासित हुआ करता है अतः आत्मा (ब्रह्म) एक ही है । उसके मत का निराकरण करने के लिये कहा गया है—प्रतिशरीरं भिन्नः ।

(iii) विभुः—वह आत्मा विभु=व्यापक है । रामानुज आदि कुछ विचारक आत्मा को अणु परिमाण वाला मानते हैं । जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देह परिमाण वाला है । वह प्रदीप-प्रभा के समान संकोच विकाश वाला है छोटे शरीर में छोटा और बड़े शरीर में बड़ा हो जाता है । उस मत का निराकरण करने के लिये कहा गया है विभुः । विभु का अर्थ है सर्वत्र रहने वाला व्यापक (सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्) ।

(iv) नित्यः—वह आत्मा नित्य है । बौद्ध का मन्तव्य है कि विज्ञान आदि पञ्चस्कन्ध से भिन्न आत्मा कुछ नहीं है । पञ्चस्कन्ध ही 'अहम्' का आलम्बन है और वह क्षणिक है प्रत्येक क्षण नया-नया उत्पन्न होता रहता है और नष्ट होता रहता है इसका निराकरण करते हुए कहा गया है नित्यश्च ।

स च मानसप्रत्यक्षः । विप्रतिपत्तौ तु बुद्ध्यादिगुणलिङ्गकः । तथा हि बुद्ध्यादयस्तावद्गुणाः, अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात् । गुणश्च गुण्याश्रित एव । तत्र बुद्ध्यादयो न भूतानां गुणा मानसप्रत्यक्षत्वात् । ये हि भूतानां गुणास्ते न मनसा गृह्यन्ते[1] यथा रूपादयः । नापि दिक्कालमनसां गुणाः, विशेषगुणत्वात् । ये हि दिक्कालादिगुणाः संख्यादयो न ते विशेषगुणास्ते हि सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव । बुद्ध्यादयस्तु विशेषगुणाः, गुणत्वे सत्येकेद्रियमात्रग्राह्यत्वाद्, रूपवत् । अतो न दिगादिगुणाः । तस्मादेभ्योऽष्टभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्ध्यादीनां गुणानामाश्रयो वक्तव्यः । स एवात्मा ।

उपर्युक्त चार स्थापनाओं के विषय में आगे युक्तियाँ दी जा रही हैं—

(i)आत्मा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है ।

उस आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है मत-भेद (=विप्रतिपत्ति) होने पर तो बुद्धि आदि गुण ही उसके अनुमापक (लिङ्ग) होते हैं (बुद्ध्यादयो गुणाः लिङ्गं यस्य स तथोक्तः) । जैसे कि प्रथम तो (अनुमान यह है कि) बुद्धि आदि गुण हैं; क्योंकि ये अनित्य होते हुए केवल एक इन्द्रिय द्वारा ग्रहण के योग्य हैं और, (दूसरे) गुण किसी के आश्रित ही रहा करता है ।

अब, बुद्धि आदि भूतों (पृथिवी आदि) के गुण नहीं क्योंकि इनका मानस प्रत्यक्ष होता है; जो भूतों के गुण हैं उनका मन से ग्रहण नहीं हुआ करता, जैसे रूप आदि गुणों का । ये (बुद्धि आदि) दिशा, काल तथा मन के गुण भी नहीं (हो सकते); क्योंकि ये विशेष गुण हैं; जो संख्या आदि दिशा, काल आदि के गुण हैं वे विशेष गुण नहीं हुआ करते, वे तो समस्त द्रव्यों के साधारण गुण ही होते हैं । और, बुद्धि आदि तो विशेष गुण हैं (प्रतिज्ञा); क्योंकि ये गुण होते हुए केवल एक इन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं (हेतु); जैसे रूप (उदाहरण) । अतः बुद्धि आदि दिशा आदि के गुण नहीं होते । और, इसीलिये इन (पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक् तथा मन) आठों से भिन्न बुद्धि आदि गुणों का कोई आश्रय कहना होगा, वही आत्मा है ।

प्रश्न यह है कि देह आदि से भिन्न आत्मा है, इसमें क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में कहा गया है 'स च मानसप्रत्यक्षः' । सभी मनुष्यों को 'मैं हूँ' इस प्रकार का मानस प्रत्यक्ष हुआ करता है । यह मानस प्रत्यक्ष ही आत्मा की सिद्धि में प्रमाण है । मानस प्रत्यक्ष का अर्थ है मन नामक इन्द्रिय से होने वाला प्रत्यक्ष । 'मैं हूँ' इस प्रकार का प्रत्यक्ष मन इन्द्रिय से ही हुआ करता है, चक्षु आदि से नहीं । इस प्रत्यक्ष द्वारा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है । कैसे ? शरीर (देह) का प्रत्यक्ष तो बाह्य इन्द्रिय चक्षु या त्वक् से होता है, मन से नहीं, इन्द्रिय तो अतीन्द्रिय हैं, उनका प्रत्यक्ष ही नहीं होता, अनुमान द्वारा उनकी सिद्धि होती है । इसी प्रकार

---

१. न मानसप्रत्यक्षाः, इति पाठा० ।

मन का भी प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता, उसकी भी अनुमान से सिद्धि होती है। अतः 'मैं हूँ' इस मानस प्रत्यक्ष में जिसकी प्रतीति होती है वह देह, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न है, वही आत्मा है। इस प्रकार मानस प्रत्यक्ष द्वारा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है।

इस पर शङ्का यह हो सकती है कि 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं बधिर हूँ' इत्यादि रूप में शरीर तथा इन्द्रिय आदि के विषय में भी 'अहम्' (मैं) की प्रतीति देखी जाती है; किञ्च, बौद्ध के अनुसार क्षणिक विज्ञान आदि ही इस प्रतीति का विषय है। फिर इस प्रतीति के द्वारा देह, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न आत्मा की सिद्धि कैसे हो सकती है।

इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है 'विप्रतिपत्तौ तु' इत्यादि। यदि किसी को इस विषय में वैमत्य (विप्रतिपत्ति) है कि 'मैं हूँ' इस प्रतीति का विषय देह, इन्द्रिय से भिन्न है तो इसकी सिद्धि के लिये अनुमान प्रमाण उपस्थित है। बुद्धि आदि गुणों के द्वारा ही शरीर आदि से भिन्न आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। अतः बुद्धि (=ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा आदि गुण ही आत्मा के ज्ञापक (=लिङ्ग) हैं। संक्षेप में अनुमान का प्रकार यह है कि बुद्धि आदि गुण हैं तथा गुण किसी गुणी के आश्रित ही रहा करता है। इसलिये बुद्धि आदि का भी कोई आश्रय होना चाहिये। गुणों का आश्रय द्रव्य ही होता है अतः बुद्धि आदि का आश्रय भी कोई द्रव्य है। अब न्या०-वै० ने विश्व में ९ द्रव्य माने है उनमें आत्मा से भिन्न आठ द्रव्य हैं—पञ्चभूत, दिशा, काल और मन। ये आठों तो ज्ञान आदि का आश्रय हो नहीं सकते। इसलिये इन आठ से अतिरिक्त कोई नवम द्रव्य है जो ज्ञान आदि का आश्रय है। उसे ही आत्मा कहते हैं। न्याय के शब्दों में इस प्रकार के परिशेषानुमान के द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। इस अनुमान का शास्त्रीय रूप आगे दिखलाया जायेगा।

इसके अङ्गरूप में जो कहा गया है (क) बुद्धि आदि गुण हैं तथा (ख) आत्मा के अतिरिक्त आठ द्रव्य बुद्धि आदि का आश्रय नहीं हो सकते, यहाँ इन पर विचार करना आवश्यक है—(क) बुद्धि आदि गुण हैं—इसकी सिद्धि के लिये 'अनित्यत्वे सति, एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' यह हेतु दिया गया है। यदि यहाँ 'ग्राह्यत्वात्' इतना ही कहते तो परमाणु आदि में भी गुण का लक्षण चला जाता; क्योंकि परमाणु आदि द्रव्य भी अनुमान द्वारा ग्राह्य होते हैं। यहाँ 'इन्द्रिय' पद रखने पर तो यह दोष नहीं रहता, क्योंकि परमाणु आदि इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। फिर यदि 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना ही हेतु देते तो घट-पट आदि द्रव्यों में भी हेतु चला जाता; क्योंकि वे भी इन्द्रियग्राह्य होते हैं। इसलिये हेतु में 'एक' तथा 'मात्र' शब्द रक्खे गये हैं तथा 'एकेन्द्रियमात्र-ग्राह्यत्वात्' ऐसा कहा गया है। घट-पट आदि तो चक्षु तथा त्वक् दोनों इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं, एकेन्द्रियमात्रग्राह्य नहीं होते अतः उनमें हेतु नहीं जाता। किन्तु अब भी यह हेतु 'सुखत्व' आदि जाति में विद्यमान है; क्योंकि सुखत्व आदि जाति भी

केवल एक इन्द्रिय मन द्वारा ग्राह्य है (येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तदभावस् तत्समवायश्च गृह्यते) । इस दोष के निवारण के लिये अनित्यत्वे सति यह विशेषण दिया गया है । सुखत्व जाति तो अनित्य नहीं है । इस प्रकार उपर्युक्त हेतु से बुद्धि आदि गुण हैं, यह सिद्ध हो जाता है ।

(ख) पृथिवी आदि आठ द्रव्य बुद्धि आदि के आश्रय नहीं

इसे सिद्ध करने के लिये दो अनुमान दिये गये हैं । एक, बुद्धि आदि पृथिवी इत्यादि पाँच भूतों के गुण नहीं हैं (प्रतिज्ञा); क्योंकि इनका मानस प्रत्यक्ष होता है (हेतु), जो भूतों के गुण हैं उनका मन से प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे रूप इत्यादि (व्यतिरेकी उदाहरण) । रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द ये पृथिवी आदि पाँच भूतों के गुण हैं । इनका चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हुआ करता है, मन से इनका प्रत्यक्ष नहीं होता । अत: व्याप्ति यह है कि जो पृथिवी आदि भूतों के गुण हैं उनका मन से प्रत्यक्ष नहीं होता । इसके विपरीत बुद्धि आदि का मन से प्रत्यक्ष होता है अत: ये पृथिवी आदि के गुण नहीं हो सकते ।

दूसरे, बुद्धि आदि दिक्, काल तथा मन के गुण नहीं (प्रतिज्ञा); क्योंकि ये विशेष गुण हैं (हेतु), जो दिक् काल तथा मन के गुण होते हैं वे विशेष गुण नहीं होते (सभी द्रव्यों के साधारण गुण होते हैं); जैसे संख्या इत्यादि (व्यतिरेकी उदाहरण) । संख्या आदि सभी द्रव्यों के साधारण गुण माने गये हैं । संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व तथा अपरत्व ये सात सामान्य गुण माने जाते हैं । शेष गुण विशेष गुण माने गये हैं ।

किन्तु प्रश्न यह है कि बुद्धि आदि ही विशेष गुण हैं, संख्या आदि नहीं, इसमें क्या युक्ति है । इसके उत्तर में यह अनुमान दिया गया है, 'बुद्धयादयस्तु विशेषगुणा;' (द्र० मूल तथा अनुवाद) । यहाँ बुद्धि आदि को विशेषगुण सिद्ध करने के लिये 'गुणत्वे सति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' यह हेतु दिया गया है । इस हेतु में प्रत्येक पद का प्रयोजन (पदकृत्य) इस प्रकार समझना चाहिये । यदि यहाँ 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' (=केवल एक इन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण), इतना ही हेतु दिया जाये 'गुणत्वे सति' यह विशेषण न दिया जाये तो 'रूपत्व' जाति भी विशेष गुण होने लगेगी; क्योंकि रूपत्व जाति का भी केवल एक चक्षु इन्द्रिय से ही ग्रहण हुआ करता है । गुणत्वे सति' विशेषण जोड़ देने पर यह दोष नहीं रहता, क्योंकि 'रूपत्व' तो जाति है गुण नहीं ।

यहाँ किसी-किसी संस्करण में एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' ऐसा पाठ है 'मात्र' पद नहीं है । उसका भी अभिप्राय 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' ही लेना चाहिये । अन्यथा संख्या आदि भी विशेष गुण होने लगेंगे, वे भी एकेन्द्रियग्राह्य तो हैं ही । 'मात्र' शब्द रखने पर तो यह दोष नहीं रहता, क्योंकि संख्या जो चक्षु तथा त्वक् दो इन्द्रियों से ग्राह्य है ।

प्रयोगश्च, बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात् । यस्तु पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितो न भवति, नासौ पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति[1] गुणोऽपि भवति यथा रूपादिरिति केवलव्यतिरेकी ।

अन्वयव्यतिरेकी वा । तथाहि बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात् । यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति, यथा पृथिव्याद्यनाश्रितः शब्दः पृथिव्याद्यतिरिक्ताकाशाश्रय इति । तथा च बुद्धयादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः । तदेवं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तो नवमं द्रव्यमात्मा सिद्धः ।

इस प्रकार उपर्युक्त हेतु एक सद्हेतु है । इनके द्वारा सिद्ध होता है कि बुद्धि आदि विशेषगुण हैं । विशेष गुण होने से ये दिशा आदि के विशेष गुण नहीं हो सकते । मानस प्रत्यक्ष का विषय होने से ये पृथिवी आदि के गुण नहीं हो सकते । अतः बुद्धि आदि गुणों का आश्रय पृथिवी आदि ८ द्रव्यों से भिन्न कोई द्रव्य है, वही आत्मा कहलाता है ।

टिप्पणी—(i) उपर्युक्त प्रकार से आत्मा की सिद्धि में परिशेषानुमान दिखलाया गया है । न्यायसूत्र के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट । शेषवत् को परिशेषानुमान भी कहते हैं (द्र० न्या० भा० १·१५) । (ii) तर्कभाषा में आगे आकाश-निरूपण के सन्दर्भ में परिशेषानुमान का स्वरूप दिखलाया गया है ।

(अनुमान का) प्रयोग यह है । बुद्धि आदि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य में रहते हैं (प्रतिज्ञा); क्योंकि ये पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में नहीं रहते तथा गुण हैं (हेतु), जो पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में नहीं रहता, वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों मे न रहते हुए गुण भी नहीं होता, जैसे रूप आदि (व्यतिरेकी दृष्टान्त) । इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान है ।

अथवा अन्वयव्यतिरेकी (अनुमान) होगा । जैसे कि—बुद्धि आदि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित हैं (प्रतिज्ञा); क्योंकि ये पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुए गुण हैं (हेतु) जो जिस द्रव्य में आश्रित न होने वाला गुण होता है वह उससे भिन्न द्रव्य में आश्रित हुआ करता है; जैसे पृथिवी आदि में आश्रित न होने वाला शब्द पृथिवी आदि से भिन्न आकाश मे आश्रित है (उदाहरण) इसलिये बुद्धि आदि गुण पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न में आश्रित हैं । इस प्रकार पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न नवम द्रव्य आत्मा सिद्ध होता है ।

यहाँ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न आत्मा की सिद्धि करने के लिये दो अनुमान दिये गये हैं एक केवलव्यतिरेकी, दूसरा अन्वयव्यतिरेकी । साध्य यह

---

१. पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यानाश्रितत्वे सति, इति पाठा० ।

स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः, परममहत्परिमाणवानित्यर्थः। विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत्। सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः।

है कि बुद्धि आदि गुणों का आश्रय पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य है। केवल व्यतिरेकी अनुमान को प्रस्तुत करने का अभिप्राय यह है—वह द्रव्य आत्मा नामक ही हो सकता है इसलिये सभी आत्मा पक्ष के अन्तर्गत हैं। अतः कोई अन्वयी दृष्टान्त ऐसा नहीं बन सकता जिसे बुद्धि आदि के आश्रय रूप में दिखलाया जा सके। फलत; यहाँ अन्वयव्याप्ति नहीं बन सकती तथा केवलव्यतिरेकी अनुमान ही हो सकता है।

दूसरी दृष्टि से अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान भी यहाँ संभव है। इसलिये 'अन्वय-व्यतिरेकी वा' ऐसा कहकर अन्वयव्यतिरेकी अनुमान प्रस्तुत किया गया है। जब यत्-तत् शब्दों से बुद्धि आदि गुणविशेष का ग्रहण न करके गुण-सामान्य का ग्रहण करते हैं तब अन्वयव्याप्ति भी बन सकती है। 'जो गुण जिस द्रव्य के आश्रित नहीं होता' वह गुण उससे भिन्न द्रव्य के आश्रित होता है, यह अन्वय व्याप्ति है। इसमें उदाहरण है, जैसे शब्द (गुण) पृथिवी आदि में आश्रित नहीं होता वह पृथिवी आदि से भिन्न आकाश में आश्रित होता है इसी प्रकार बुद्धि आदि गुण पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित नहीं हैं अतः इनसे भिन्न द्रव्य में आश्रित हैं। इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति के होने से आत्मा की सिद्धि में अन्वय व्यतिरेकी अनुमान भी हो सकता है।

(ii) आत्मा का विभुत्व, (iii) नित्यत्व तथा (iv) नानात्व

(ii) वह (आत्मा) विभु (व्यापक) है क्योंकि (उसके) कार्य की सर्वत्र उपलब्धि हुआ करती है। विभु का अर्थ है परममहत् परिमाण वाला। और (iii) विभु होने से वह आकाश के समान नित्य है। (iv) सुख (दुःख) आदि का भेद होने से वह प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् है।

(ii) विभुत्व—आत्मा का परिमाण क्या है, इस विषय में तीन मत दृष्टिगोचर होते हैं (१) वह अणु है, (२) मध्यम परिमाण वाला है, (३) विभु अर्थात् परममहत् परिमाण वाला है। यदि उसे अणु परिमाण वाला माना जाये तो वह शरीर के किसी एक देश में रहेगा। अतः वह न तो समस्त शरीर की क्रियाओं का नियन्त्रण कर सकेगा और न ही शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों में सुख-दुःख आदि का अनुभव कर सकेगा। इसलिये आत्मा को अणु नहीं माना जा सकता। फिर यदि उसे मध्यम-परिमाण वाला अथवा कहिये शरीर-परिमाण वाला। (शरीर-परिच्छन्न) माना जाये (द्र०, उपर जैन मत) तो दोष यह है कि चींटी आदि के छोटे शरीर में संकुचित हुआ करेगा और हाथी आदि के विशाल शरीर में विकसित हुआ करेगा। इस प्रकार वह अवयव वाला (सावयव) होगा अतः वह अनित्य होगा। किन्तु आत्मा को अनित्य नहीं माना जा सकता, यह आगे दिखलाया जा रहा है। इसलिये आत्मा मध्यम परिमाण वाला भी नहीं हो सकता। फलतः आत्मा को विभु ही मानना चाहिये।

विभु का अर्थ है व्यापक, परममहत् परिमाणवाला, समस्त मूर्त्तद्रव्यों (परिच्छिन्न परिमाण वाले द्रव्यों) से संयोग रखने वाला। जो सबसे बड़ा परिमाण है, जिससे बड़ा कोई परिमाण नहीं हो सकता, वह परममहत् परिमाण है, वह अपरिच्छिन्न (अपरिमित) परिमाण भी कहलाता है। इससे भिन्न परिच्छिन्न परिमाण है जो मूर्त्त-परिमाण भी कहलाता है। वह दो प्रकार का है अणु तथा महत्। अणु तथा परिच्छिन्न महत् परिमाण वाले सभी द्रव्य मूर्त्तद्रव्य कहलाते हैं। आकाश का ऐसे सभी द्रव्यों के साथ संयोग है, आकाश व्यापक है। इसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र विद्यमान है, समस्त मूर्त्त द्रव्यों से उसका संयोग है, वह विभु है।

आत्मा की विभुता मे युक्ति दी गई है—**सर्वत्र कार्योपलम्भात्** (सब जगह कार्य उपलब्ध होने से)। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—दो व्यक्ति साथ-साथ समान रूप से बीज, भूमि, पानी, खाद आदि की योजना करके आम्र का वृक्ष लगाते है। उनके दृष्ट साधन समान ही होते हैं फिर भी एक का आम खूब फलता है दूसरे का नहीं। इससे प्रतीत होता है कि दृष्ट साधनों के अतिरिक्त कोई अदृष्ट भी फल के प्रति निमित्त हुआ करता है। उसी के आधार पर फल-प्राप्ति मे भेद हो जाया करता है। किसी व्यक्ति के अदृष्ट का यह प्रभाव सर्वत्र देखा जाता है। एक व्यक्ति के अदृष्ट से दिल्ली में कतिपय भोग प्राप्त होते हैं न्यूयार्क मे भी हो सकते हैं। फलत. विविध भोगों का कारण जो अदृष्ट है उसकी सर्वत्र स्थिति माननी पड़ती है। इस अदृष्ट का समवायी कारण आत्मा है यह अदृष्ट आत्मा का गुण है। जब अदृष्ट के कार्य (फल) की सर्वत्र उपलब्धि होती है तो अदृष्ट का आश्रम जो आत्मा है वह सर्वव्यापक (सर्वत्र विद्यमान) ही होना चाहिये।

(iii) **आत्मा नित्य है**—आत्मा की नित्यता को सिद्ध करने के लिये न्यायसूत्र-भाष्य तथा प्रशस्तपादभाष्य आदि मे अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। तर्कभाषाकार ने उनका उल्लेख नहीं किया। यहाँ तो केवल यह अनुमान दिया गया है—विभुत्वाच्च नित्योऽसो व्योमवत्। अनुमान का स्वरूप है—

आत्मा नित्य है (प्रतिज्ञा); क्योंकि वह विभु है (हेतु), आकाश के समान (उदाहरण)। जो पदार्थ विभु होता है वह नित्य होता है, यह व्याप्ति है।

(iv) **आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है**। इसमें हेतु है सुखादीनां वैचित्र्यात्=सुख दुःख आदि के भेद से। भाव यह है—कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई ज्ञानी है, कोई अज्ञानी, इस प्रकार के पारस्परिक भेद व्यक्तियों मे देखे जाते हैं। सुख-दुःख ज्ञान आदि आत्मा के धर्म है। यदि आत्मा एक ही होता तो एक व्यक्ति के सुखी होने पर सभी व्यक्ति सुखी हो जाया करते; अथवा एक के दुःखी होने पर सभी दुःखी हो जाते। किन्तु ऐसा नहीं होता। परस्पर विरुद्ध धर्म व्यक्तियों के अनुभव से सिद्ध होते हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि सभी व्यक्तियों की आत्मा पृथक्-पृथक् है।

[शरीरम्]

तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि 'शरीरम्'। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो[1] भोगः। स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते तद्भोगायतनम्, तदेव शरीरम्।

टिप्पणी—(i) सभी वैदिक दर्शन आत्मा को शरीर आदि से भिन्न तथा नित्य मानते हैं। वेदान्त सम्प्रदाय एकात्मवाद को स्वीकार करता है किन्तु अन्य वैदिक दर्शन आत्मबहुतत्त्व को। (ii) आत्मा का परिमाण क्या है, इस विषय में भारतीय दर्शन में मतभेद है। सभी वैदिक दर्शन आत्मा को विभु मानते हैं। केवल रामानुजाचार्य ने जीवात्मा को अणु माना है। दूसरी ओर जैन दर्शन आत्मा को शरीर परिमाण वाला मानता है। (iii) आत्मा को विभु मानने में कुछ आपत्तियाँ की गई हैं, जिनका न्या०-वै० की ओर से समाधन भी किया गया है; जैसे (क) यदि सभी आत्मा समान रूप से परममहत् परिमाण वाले (=विभु) हैं तो एक स्थान में अनेक आत्मा साथ-साथ कैसे रह सकते हैं। इसका उत्तर देते हुए कहा जाता है कि दो समानाकारक मूर्तिमान् पदार्थ एक स्थान में साथ-साथ नहीं रह सकते आत्मा तो मर्तिमान् नहीं हैं अतः कोई दोष नहीं। (ख) यदि आत्मा व्यापक है तो एक शरीर का त्याग और दूसरे का ग्रहण (प्रेत्यभाव) कैसे बनेगा? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने पर भी जो शरीर जिस आत्मा के अदृष्ट से उत्पन्न होता है तथा जिसके सुख दुःख आदि के भोग का आश्रय (भोगायतन) होता है, वह शरीर उस आत्मा के द्वारा गृहीत (ग्रहण किया गया) माना जाता है। (ग) सभी आत्मा सर्वव्यापक हैं फिर भी सभी समस्त पदार्थों के भोक्ता नहीं होते, अपितु जो पदार्थ जिस आत्मा के अदृष्ट से भोग्य होता है उस पदार्थ का भोक्ता वही आत्मा होता है। (iv) न्या०-वै० के अनेक ग्रन्थों में आत्मा दो प्रकार का बतलाया गया है जीवात्मा तथा परमात्मा। वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य ने ईश्वर-सिद्धि का विस्तार से विवेचन किया है। किन्तु तर्कभाषाकार ने ईश्वर का उल्लेख भी नहीं किया; इसका क्या कारण है? यह विचारणीय है। (v) पार्थसारथि मिश्र ने आत्मा के विभुत्व में यह युक्ति दी है (क) यदि आत्मा को अणु माना जाये तो 'मेरे सिर तथा पैर में पीड़ा है' इस प्रकार से एक साथ ही सिर तथा पैर की पीड़ा का अनुभव न बन सकेगा। (ख) यदि आत्मा को शरीर परिमाण वाला माना जाये तो वह सावयव होने लगेगा। इसलिये आत्मा का विभु होना ही युक्तियुक्त है (शास्त्रदीपिका पृ० ४६१)।

(२) शरीर

आत्मा का विस्तृत विवेचन करके क्रमप्राप्त शरीर का निरूपण करते हैं—

उस (आत्मा) के भोग का आश्रय (=आयतन) अन्त्य अवयवी शरीर है। सुख दुःख में से किसी एक (अन्यतर) का प्रत्यक्ष अनुभव भोग कहलाता है। और; वह (भोग) जिससे परिमित (अवच्छिन्न) आत्मा में होता है यह भोगायतन है, वही

१. ०तरानुभवो, इति पाठा०।

चेष्टाश्रयो वा शरीरम् । चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया न तु स्पन्दनमात्रम् ।

शरीर है। अथवा चेष्टा का आश्रय शरीर (कहलाता) है। हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार के लिये की जाने वाली क्रिया चेष्टा (कहलाती) है, केवल गति-मात्र (=स्पन्द) चेष्टा नहीं।

यहाँ शरीर का लक्षण किया गया है 'तस्य भोगायतनम् अन्त्यावयवि' = आत्मा के भोग का आयतन जो अन्तिम अवयवी है वह शरीर कहलाता है। यद्यपि आत्मा व्यापक है, वह सर्वत्र विद्यमान है तथापि वह शरीर में सुख दुःख का अनुभव कर सकता है। अथवा कहिये कि जहाँ जिस आत्मा का शरीर है वहीं वह आत्मा सुख दुःख का अनुभव कर सकता है। जहाँ उसका शरीर नहीं वहाँ वह सुख दुःख का अनुभव भी नहीं कर सकता। न्याय की परिष्कृत पदावली में इस बात को इस प्रकार कहा गया है 'स (भोगः) च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते'। भोग का अर्थ है सुख दुःख का साक्षात् अनुभव करना। 'अवच्छिन्न' का अर्थ है परिमित सीमित या विशिष्ट। जिससे परिमित आत्मा में भोग होता है वह आत्मा का भोगायतन है, वही शरीर है।

इस पर प्रश्न यह है कि जब हाथ या पैर में कांटा लग जाता है तो आत्मा हाथ या पैर में (करचरणावच्छिन्न) ही दुःख का अनुभव करता है। अतः वहाँ हाथ या पैर ही भोगायतन है। फिर तो हाथ या पैर में भी शरीर का लक्षण चला जायेगा। किन्तु हाथ पैर आदि तो शरीर के अवयव हैं वे ही शरीर नहीं हैं। इस प्रकार लक्षण में अतिव्याप्ति दोष होगा। इस दोष के निवारण के लिये शरीर के लक्षण में 'अवयवि' पद रक्खा गया है। क्योंकि हाथ पैर अवयव हैं, अवयवी नहीं। उनसे बना शरीर ही अवयवी है। जिसके अवयव होते हैं वही अवयवी कहलाता है। अब भी शङ्का यह हो सकती है कि हाथ-पैर में अङ्गुलियाँ नामक अवयव होते हैं अतः वे भी अवयवी हैं। इसके समाधान के लिये 'अवयवि' शब्द का विशेषण 'अन्त्य शब्द (अन्त्यावयवि) दिया गया है। हाथ-पैर आदि तो अन्त्यावयवी नहीं हैं। अन्त्याव-यवी (=अन्तिम अवयवी) तो वह कहलाता है जो किसी अन्य अवयवी का अवयव नहीं होता—द्रव्यान्तर का आरम्भक नहीं होता। हाथ-पैर आदि अवयवी तो कहे जा सकते हैं किन्तु अन्त्यावयवी नहीं; क्योंकि वे शरीर (द्रव्यान्तर) के आरम्भक या कारण होते है। इसके विपरीत शरीर तो किसी दूसरे अवयवी का अवयव नहीं होता—द्रव्यान्तर का आरम्भक नहीं होता अतः वह अन्त्यावयवी है।

फिर भी यदि 'अन्त्यावयवि शरीरम्' इतना ही लक्षण किया जाये भोगायत-नम्' पद न रक्खा जाये तो भी घट आदि में शरीर के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। घट आदि भी तो अन्त्यावयवी होते हैं वे किसी अन्य द्रव्य के अवयव नहीं होते। शरीर के लक्षण में 'भोगायतनम्' पद रख देने पर तो कोई दोष नहीं रहता।

इन्द्रियम्]

शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम् 'इन्द्रियम्' । अतीन्द्रियमिन्द्रियमित्युच्यमाने कालादेरपीन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तं ज्ञानकरणमिति । तथापीन्द्रियसन्निकर्षेतिप्रङ्गोऽत[1] उक्तं शरीरसंयुक्तमिति । शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियमित्युच्यमाने आलोकादेरिन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तमतीन्द्रियमिति । तानि चेन्द्रियाणि षट्—घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि ।

क्योंकि घट आदि आत्मा के भोगायतन (भोग का आश्रय) नहीं होते । इस प्रकार 'तस्य भोगायतनम् अन्त्यावयवि शरीरम्' यह शरीर का दोष रहित लक्षण है ।

अथवा शरीर का लक्षण है **'चेष्टाश्रयः शरीरम्'** । यह लक्षण न्यायसूत्र का अनुसरण करके किया गया है—चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् (न्या० सू० १.१.११)। विशेष प्रकार की क्रिया को चेष्टा कहते हैं, प्रत्येक क्रिया या गति को चेष्टा नहीं कहते । हित की प्राप्ति या अहित के परिवार के लिये जो क्रिया की जाती है वही चेष्टा कहलाती है । इसलिये चेतन आत्मा के संयोग से ही चेष्टा हुआ करती है । हित तथा अहित का विवेक करना तो चेतन का ही कार्य है फलतः प्रयत्नयुक्त आत्मा का संयोग जिसमें असमवायी कारण होता है ऐसी क्रिया का नाम चेष्टा है इसलिये साईकिल या रेलगाड़ी की गति या क्रिया को चेष्टा नहीं कहा जा सकता । अतः चेष्टा का आश्रय शरीर है । यह लक्षण संगत होता है। इस पर शङ्का यह है कि मृत शरीर में तो चेष्टा नहीं रहती फिर उस शरीर न कहा जा सकेगा । इसका समाधान करते हुए कुछ व्याख्याकारों ने कहा है कि जो कभी भी चेष्टा का आश्रय है वह शरीर है; अतः कोई दोष नहीं (चि०) । अन्य व्याख्याकारों का कथन है कि चेष्टा के आश्रयभूत अन्त्यावयवी में जो जाति रहती है वही मृत शरीर में भी रहती है अतः कोई दोष नहीं (गोवर्धन) ।

(३) इन्द्रिय

इन्द्रिय का लक्षण तथा संख्या का निरूपण करते हुए कहते हैः—

शरीर से संयुक्त अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष का विषय न होने वाला) ज्ञान का करण इन्द्रिय है । यदि (इन्द्रिय के लक्षण में) 'अतीन्द्रियम् इन्द्रियम्' इतना ही कहा जाता तो काल आदि भी इन्द्रिय होने लगते इसलिये 'ज्ञानकरणम् (यह पद) कहा गया है । फिर भी (ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियम् इतना लक्षण करने पर भी) इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष में (इन्द्रिय के लक्षण की) अतिव्याप्ति हो जाती; इसलिये 'शरीरसंयुक्तम्' यह (पद) दिया गया है । 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणम्' इतना ही कहते तो प्रकाश इत्यादि भी इन्द्रिय कहलाने लगते; इसलिये 'अतीन्द्रियम्' कहा गया है। वे इन्द्रियां ६ हैं—(१) घ्राण, (२) रसना, (३) चक्षु, (४) त्वक्, (५) श्रोत्र, (६) मन ।

१. 'इन्द्रियार्थसंनिकर्षे प्रसङ्ग' इति पाठा० ।

इन्द्रिय के लक्षण में मुख्य पद है 'ज्ञानकरणम्' । 'ज्ञानकरणम्' पद के दो विशेषण हैं 'शरीरसंयुक्तम् तथा अतीन्द्रियम् । लक्षण में प्रत्येक पद का जो प्रयोजन (पदकृत्य) है वह ग्रन्थकार ने स्वयं ही दिखला दिया है। यदि इस लक्षण में 'ज्ञान-करणम्' यह पद न रखते तो काल, आकाश आदि में भी इन्द्रिय का लक्षण चला जाता, क्योंकि वे भी शरीर से संयुक्त हैं तथा अतीन्द्रिय भी है। अब यह दोष नहीं है। यह ठीक है कि काल, आकाश आदि न्या०-वै० की दृष्टि से सभी कार्यों के साधारण कारण होते हैं अतः वे ज्ञान के कारण हैं ही; किन्तु वे ज्ञान के करण तो नहीं होते। प्रकृष्ट कारण को करण कहते हैं यह ऊपर कहा जा चुका है।

अब यदि इस लक्षण मे 'शरीरसंयुक्तम्' पद न रक्खा जाता तो इन्द्रिय-सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति हो जाती; क्योंकि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष भी सविकल्पक प्रत्यक्ष का करण होता है और उसका ग्रहण इन्द्रिय द्वारा नहीं होता, वह अतीन्द्रिय है। 'शरीरसंयुक्तम्' पद रखने पर तो यह दोष नहीं रहता। कैसे? नियम है कि दो द्रव्यों का ही परस्पर संयोग हुआ करता है। इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष तो कोई द्रव्य नहीं है। इसलिये शरीर (द्रव्य) के साथ उसका संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता अथवा कहिये वह शरीरसंयुक्त नहीं है।

फिर यदि 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणम् इन्द्रियम्' इतना ही लक्षण किया जाता, इसमें 'अतीन्द्रियम्' पद न रक्खा जाता तो प्रकाश (आलोक) आदि में अतिव्याप्ति हो जाती। क्योंकि प्रकाश शरीर से संयुक्त होता है तथा चाक्षुष प्रत्यक्ष में कारण भी होता है। 'अतीन्द्रियम्' पद रखने से वह दोष नहीं रहता। कैसे? प्रकाश का तो इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है, वह अतीन्द्रिय नहीं है।

न्या०-वै० के अनुसार इन्द्रियाँ ६ हैं—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र—ये ५ बाह्येन्द्रियाँ हैं तथा मन अन्तरिन्द्रिय (अन्तःकरण) है। इन सब इन्द्रियों के विषय में आगे विस्तार से विवेचन किया जा रहा है।

टिप्पणी—(१) इन्द्रिय पाणिनि व्याकरण (५.२.९३) में इन्द्र (आत्मा) शब्द से घ (=इय) प्रत्यय करके इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। इन्द्रिय शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है इन्द्र अर्थात् आत्मा का लिङ्ग (अनुमापक); किन्तु इस अर्थ से इन्द्रिय का लक्षण स्पष्ट नहीं होता। (ii) अतीन्द्रिय शब्द का अर्थ है इन्द्रिय से परे—इन्द्रियों को अतिक्रान्त करने वाला (इन्द्रियम् अतिक्रान्तम्) अथवा इन्द्रियों का विषय न होने वाला। किन्तु ऐसा अर्थ करने पर इन्द्रिय के लक्षण में 'इन्द्रिय' शब्द का ही प्रवेश हो जायेगा तथा आत्माश्रय दोष होगा। इसलिये यहाँ 'अतीन्द्रिय' शब्द का अर्थ है लौकिक प्रत्यक्ष का विषय न होने वाला (योगजधर्माजन्यसाक्षात्काराविषयम् अतीन्द्रियम्, चि०)।

(iii) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को अतीन्द्रिय माना गया है। न्या०-वै० का मन्तव्य यह है जिन द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है उनके संयोग का ही प्रत्यक्ष हो सकता है।

तत्र गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम् । नासाग्रवर्ति । तच्च पार्थिवं गन्धवत्त्वाद् घटवत् । गन्धवत्त्वञ्च गन्धग्राहकत्वात् । यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तदिन्द्रियं तद्गुणसयुक्तं, यथा चक्षू रूपग्राहक रूपवत् ।

उदाहरणार्थ मेज और पुस्तक दोनों पदार्थों का प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है अतः मेज और पुस्तक के संयोग का भी प्रत्यक्ष होता है । जिन दो पदार्थों का संयोग होता है यदि उन दोनों का ही प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण न हो अथवा उनमें से एक का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण न हो तो उनके संयोग का भी प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं हुआ करता । फलतः वायु तथा मेज के संयोग का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता । इसी प्रकार इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष का भी प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि इन्द्रिय तो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है । (iv) तानि चेन्द्रियाणि (वे इन्द्रियाँ ६ हैं) । इन्द्रियों की संख्या के विषय में अन्य मतों का निराकरण करके अपने मन्तव्य का निरूपण करने के लिये यह कहा गया है । न्यायसूत्र तथा भाष्य (६.१.५२) से विदित होता है कि कोई केवल एक इन्द्रिय ही मानते रहे (एकेन्द्रियवादी) न्याय में उसका निराकरण किया गया है । दूसरी ओर सांख्य में एकादश इन्द्रियाँ मानी गई है । वहाँ उपर्युक्त ६ इन्द्रियों के अतिरिक्त ५ कर्मेन्द्रियाँ बतलाई गई हैं 'वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः, यह कहा गया है । न्याय-परम्परा में इस मत का भी निराकरण किया गया है । यद्यपि न्यायसूत्र (१.१.१२) में मन को इन्द्रियों में नहीं गिनाया गया, केवल ५ इन्द्रियों का उल्लेख किया गया है, फिर भी न्याय भाष्य (१.१.४) में यह दिखलाया गया है कि न्याय के अनुसार मन भी इन्द्रिय है । इस प्रकार ६ इन्द्रियाँ है, यह न्याय का सिद्धान्त है ।

(१) घ्राणेन्द्रिय

उनमें से गन्ध की उपलब्धि का साधन जो इन्द्रिय है वह घ्राण है । वह नासिका के अग्रभाग में रहती है । वह पार्थिव है (प्रतिज्ञा), क्योंकि गन्ध वाली है (हेतु), जैसे घट (उदाहरण) । और गन्ध की ग्राहक होने से वह गन्ध वाली है । (व्याप्ति यह है कि) जो इन्द्रिय रूप आदि (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) पांचों में से जिस गुण का ग्रहण करती है वह इन्द्रिय उसी गुण से युक्त होती है, जैसे रूप की ग्राहक चक्षु रूप (गुण) से युक्त होती है ।

घ्राण आदि जो इन्द्रियों के नाम है, वे अन्वर्थ संज्ञाएं है जिघ्रति = गन्ध गृह्णाति अनेन इति घ्राणम् ($\sqrt{}$घ्रा + ल्युट्) जिस इन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण किया जाता है, वह घ्राण कहलाती है । लक्षण में भी यही कहा गया है—गन्धोपलब्धि-साधनम् इन्द्रिय घ्राणम् । यदि इस लक्षण में 'गन्ध' शब्द न रखते 'उपलब्धिसाधनम् इन्द्रियम्' इतना ही कहते तो चक्षु आदि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती; क्योंकि वे भी उपलब्धि के साधन है । अतः लक्षण में गन्ध शब्द रक्खा गया है । अब यदि 'गन्धोपलब्धिसाधनं घ्राणम्' इतना ही लक्षण करते, यहाँ इन्द्रिय शब्द न

रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम् । जिह्वाग्रवर्ति । तच्चाप्यं रसवत्त्वात् । रसवत्त्वञ्च रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाल्लालावत् ।

रखते तो गन्ध तथा घ्राण के सन्निकर्ष (संयुक्तसमवाय इन्द्रियार्थसन्निकर्ष) में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती; क्योंकि वह भी गन्ध की उपलब्धि का साधन है । 'इन्द्रियम्' पद रखने पर तो यह दोष नहीं रहता; क्योंकि वह सन्निकर्ष इन्द्रिय नहीं है ।

घ्राण इन्द्रिय का स्थान है नासिका का अग्रभाग । जब किसी द्रव्य का कोई अंश वायु के द्वारा नासिका के अग्रभाग में पहुँच जाता है तो घ्राण इन्द्रिय के साथ उस गन्ध युक्त द्रव्यांश का संयोग होता है और घ्राण द्वारा संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से गन्ध का ग्रहण हो जाता है ।

सांख्य का मत है कि नासिका अहंकार नामक तत्त्व से उत्पन्न होती है (आहङ्कारिकाणि इन्द्रियाणि) । उस मत का निराकरण करते हुए कहा गया है 'तच्च पार्थिवम्' । घ्राण इन्द्रिय पृथिवीजन्य है, पार्थिव परमाणुओं से बनी है । इस स्थापना की सिद्धि के लिये अनुमान यह है—घ्राण इन्द्रिय पार्थिव है (प्रतिज्ञा); क्योंकि वह गन्ध गुण वाली है (हेतु), घट के समान (उदाहरण) । जो-जो गन्धयुक्त पदार्थ होते हैं वे सब पार्थिव होते हैं, यह नियम है । किन्तु प्रश्न यह है कि अनुभव से तो घ्राण इन्द्रिय में गन्ध की प्रतीति नहीं होती फिर वह गन्धयुक्त है इसमें क्या प्रमाण है । न्या०-वं० के अनुसार इसमें भी अनुमान ही प्रमाण है । यह नियम (व्याप्ति) है कि जो इन्द्रिय रूप आदि पाँच गुणों में से जिस गुण का ग्रहण करती है वह इन्द्रिय उस गुण से युक्त होती है; जैसे चक्षु इन्द्रिय रूप का ग्रहण करती है वह रूप (गुण) से युक्त होती है । घ्राण भी गन्ध गुण की ग्राहक है अतः वह भी गन्ध गुण से युक्त है ।

अन्य इन्द्रियों के लक्षणो में भी इसी प्रकार समझना चाहिये ।

(२) रसनेन्द्रिय

रस की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय रसना है । वह जिह्वा के अग्रभाग में रहती है । और, वह जलीय (=आप्य, जल से उत्पन्न होने वाली) है (प्रतिज्ञा); क्योंकि वह रसयुक्त है (हेतु) । वह रस-युक्त (रसवती) इसलिये है; क्योंकि रूप आदि पाँचों में से केवल रस की ही अभिव्यञ्जक होती है; जैसे (रस की व्यञ्जक) लार (रस से युक्त) होती है ।

जिससे रस का ग्रहण होता है, वह रसना इन्द्रिय है (रसयति=रसं गृह्णाति अनेन इति रसनम्) । इसका लक्षण है—रसोपलब्धिसाधनम् इन्द्रियम् । यहाँ घ्राण के लक्षण के समान ही चक्षु आदि में अतिव्याप्ति-वारण के लिये लक्षण में 'रस' शब्द रक्खा गया है तथा तथा रसनेन्द्रिय एवं रस के सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति-वारण के लिये 'इन्द्रिय' पद रक्खा गया है ।

रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः । कृष्णताराग्रवर्ति । तच्च तैजसं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत् ।

स्पर्शोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक्, सर्वशरीरव्यापि' । तत्तु वायवीयं

रसनेन्द्रिय का स्थान जिह्वा का अग्र भाग है । जब कोई रसयुक्त पदार्थ जिह्वा के अग्रभाग से संयुक्त होता है, रसनेन्द्रिय संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से उसके रस का ग्रहण करती है ।

यहाँ भी रसना को जलीय (जल से उत्पन्न) सिद्ध करने के लिये, 'तच्चाप्यम्' इत्यादि अनुमान दिया गया है । यह इन्द्रिय रस का आश्रय या रस से युक्त (रसवती) है, यह सिद्ध करने के लिये 'रसवत्त्वञ्च' इत्यादि अनुमान दिखलाया गया है । 'लाला' का अर्थ है मुख में निकलने वाला लार (दन्तान्तर्गतोदकम्, चि०) । यह अनुभव से सिद्ध है कि जब हम कोई पदार्थ खाते हैं तो मुख में लार निकलता है और 'यह मधुर है, यह तिक्त है', इत्यादि प्रकार से रस का व्यञ्जक होता है । यह लार केवल रस का ही व्यञ्जक होता है । रूप आदि का नहीं तथा वह रस का आश्रय (रसवत्) होता है । इसी प्रकार रसना भी केवल रस की व्यञ्जक होती है रूप आदि की नहीं अतः यह रसवती है ।

(३) चक्षु इन्द्रिय

रूप की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय चक्षु है। वह (नेत्र की) काली पुतली (=कृष्ण तारा) के अग्रभाग में रहती है । वह तैजस (तेजस् से उत्पन्न) है (प्रतिज्ञा) क्योंकि रूप आदि पाँचों में से केवल रूप की ही अभिव्यञ्जक होती है (हेतु) जैसे (केवल रूप का अभिव्यञ्जक) प्रदीप (तैजस) है (उदाहरण) ।

जिससे रूप का ग्रहण किया जाता है वह इन्द्रिय चक्षु कहलाती है (चष्टे= रूपं पश्यति अनेन इति) । यहाँ भी घ्राण आदि में अतिव्याप्ति के परिहार के लिये लक्षण में रूप शब्द दिया गया है चक्षु एवं रूप के सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'इन्द्रिय' पद रखा गया है ।'

चक्षु इन्द्रिय का स्थान आँख का तारा माना गया है । चक्षु तैजस है अतः उसमें भी अन्य तैजस पदार्थों के समान रश्मियाँ (किरणें) होती हैं। चक्षु की रश्मियाँ कृष्णतारा से बाहर जाती हैं और इनका किसी रूपयुक्त द्रव्य के साथ संयोग (सन्निकर्ष) होता है । किञ्च, उस द्रव्य में स्थित रूप के साथ संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है । इस प्रकार दोनों सन्निकर्षों के द्वारा चक्षु इन्द्रिय रूपवद् द्रव्य तथा उसके रूप का ग्रहण करती है ।

चक्षु तैजस है, इसकी सिद्धि के लिये 'तच्च तैजसम् इत्यादि अनुमान दिया गया है ।

(४) स्पर्शनेन्द्रिय

स्पर्श की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय त्वक् है । वह समस्त शरीर में रहती

---

१. त्वक्स्थानम्, इत्यधिकः पाठः ।

रूपादिषु पञ्चसु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत् ।

शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम् । तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव, न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात् । तदपि शब्दग्राहकत्वात् । यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यद्गुणव्यञ्जकं तत् तद्गुणसंयुक्तं यथा चक्षुरादि रूपादिग्राहकं रूपादियुक्तम् । शब्दग्राहकञ्च श्रोत्रमतः शब्दगुणकम् ।

है । वह वायवीय (वायु से उत्पन्न) है (प्रतिज्ञा) ? क्योंकि रूप आदि पांचों में से केवल स्पर्श की ही अभिव्यञ्जक होती है (हेतु) ? जैसे शरीर में लगे हुए जल की शीतलता की अभिव्यञ्जक पंखे (—व्यजन) की वायु (केवल स्पर्श की अभिव्यञ्जक होती है) ।

यहाँ त्वक् (त्वचा) में स्थित इन्द्रिय को त्वक् इन्द्रिय कहा गया है । वस्तुतः उसका स्पर्शनेन्द्रिय नाम से व्यवहार किया जाता है । जिससे स्पर्श किया जाता है वह स्पर्शनेन्त्रिय है (स्पृशति अनेन इति) । यहाँ भी चक्षु आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिये लक्षण में 'स्पर्श' पद दिया गया है, स्पर्श तथा स्पर्शनेन्द्रिय के सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति के परिहार के लिये 'इन्द्रिय' पद दिया गया है ।

त्वक् इन्द्रिय समस्त शरीर में रहती है । जब किसी स्पर्श से युक्त द्रव्य के साथ त्वक् इन्द्रिय का संयोग होता है तो त्वक् इन्द्रिय से संयोग सन्निकर्ष द्वारा उस द्रव्य का ग्रहण होता है तथा संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष द्वारा उसके स्पर्श का ग्रहण होता है ।

त्वक् इन्द्रिय वायवीय है । इसकी सिद्धि के लिये 'तच्च वायवीयम्' इत्यादि अनुमान दिया गया है । जो रूप आदि गुणों में से केवल स्पर्श का ही अभिव्यञ्जक होता है, वह वायवीय होता है, जैसे शरीर के प्रस्वेद जल की शीतता की अभिव्यञ्जक पंखे की वायु है, यह अन्वयव्याप्ति है ।

(५) श्रोत्रेन्द्रिय

शब्द की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय श्रोत्र है । और, वह कर्ण के छिद्र (=शष्कुली) से अवच्छिन्न (घिरा हुआ) आकाश ही है, कोई अन्य द्रव्य नहीं ? क्योंकि वह शब्द गुण का आश्रय (शब्दगुणत्व) है । वह शब्द का आश्रय (तद्—शब्दगुणत्व) है । (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह शब्द का ग्राहक है (हेतु), जो इन्द्रिय रूप आदि में से जिस गुण की अभिव्यञ्जक होती है, वह उसी गुण से युक्त होती है । जैसे रूप आदि की ग्राहक चक्षु आदि रूप आदि से युक्त हैं (उदाहरण), और श्रोत्र भी शब्द का ग्राहक है (उपनय) अतः वह शब्द गुण वाला है (निगमन) ।

जिस इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण किया जाता है, वह श्रोत्र है (शृणोति शब्दं गृह्णाति अनेन इति) । चक्षु आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिये श्रोत्र के लक्षण में 'शब्द' पद दिया गया है तथा शब्द के ग्राहक समवाय सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः । तच्चाणुपरिमाणं हृदयान्तर्वर्ति[1]।

वारण के लिए 'इन्द्रिय' पद दिया गया है। श्रोत्र अपने भीतर समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्द का समवाय सन्निकर्ष से ग्रहण करता है।

ऊपर कहा गया है कि घ्राण आदि इन्द्रियाँ पृथिवी आदि से उत्पन्न होती हैं वे 'पार्थिव' आदि हैं। श्रोत्र के विषय में यह बात नहीं है। श्रोत्र आकाश जन्य नहीं अपि तु आकाशात्मक है। जिस प्रकार घट से घिरा हुआ आकाश घटावच्छिन्न आकाश या घटाकाश कहलाता है। उसी प्रकार जो कर्णशष्कुली (=कान का छिद्र) है उससे घिरा हुआ आकाश या कहिये कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र कहलाता है। आकाश से भिन्न श्रोत्र नहीं है; श्रोत्र आकाशात्मक ही है। इसकी सिद्धि के लिये अनुमान है 'तच्च' इत्यादि। यहाँ शब्दगुणत्व (शब्द गुण वाला) होने से श्रोत्र की आकाशात्मकता सिद्ध की गई है। किन्तु श्रोत्र शब्द गुण का आश्रय (शब्दगुणत्व) है, यह भी तो सिद्ध नहीं है अतः इसकी सिद्धि के लिये दूसरा अनुमान दिया गया है 'तदपि शब्दग्राहकत्वात्' इत्यादि (द्र० अनुवाद)।

किन्तु यदि आकाश ही श्रोत्र है तब तो बधिर को भी शब्द की उपलब्धि होनी चाहिये। क्योंकि १ आकाश तो विभु एवं नित्य है, वह सदा ही सर्वत्र रहता है। इसके समाधान के लिये न्या० वै० की ओर से कहा जाता है कि हमारे मत में सभी कार्यों तथा भोगों का निमित्त अदृष्ट भी है अतः अदृष्ट विशिष्ट आकाश ही श्रोत्र है। अदृष्ट के सहायक न होने से बधिर को शब्द का श्रवण नहीं हुआ करता।

(६) मन (मनस्)

सुख आदि की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय मन (कहलाता) है। वह अणु परिमाण वाला है और हृदय के भीतर रहता है।

जिस इन्द्रिय से आत्मा में स्थित सुख आदि का ग्रहण होता है वह मन है। मन के लक्षण में 'सुख' शब्द इसलिये दिया गया है जिससे कि चक्षु आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाये। सुख आदि का ग्रहण करने वाले संयुक्तसमवायसन्निकर्ष में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये लक्षण में 'इन्द्रिय' पद दिया गया है। सुख आदि के अनुभव की प्रक्रिया यह है—मन का पुरीतत् नाड़ी से भिन्न प्रदेश में आत्मा से संयोग होता है तथा स्वसंयुक्त आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सुख आदि का मन से संयुक्तसमवाय नामक सन्निकर्ष द्वारा ग्रहण हो जाता है।

मन का परिमाण अणु है। क्यों? जब श्रोत्र तथा चक्षु आदि कई इन्द्रियों का एक साथ ही अपने अपने विषय (शब्द एवं रूप आदि) के साथ सम्बन्ध होता है तब भी एक साथ कई विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु क्रमशः एक-एक विषय का प्रत्यक्ष हुआ करता है। इससे विदित होता है कि मन अणु है जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होता है उसके द्वारा अपने विषय का प्रत्यक्ष किया जाता है दूसरी के

१. हृदयान्तर्वर्ति, इति क्वचिन्नास्ति।

ननु चक्षुरादीन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणम् ? उच्यते । अनुमानमेव। तथाहि रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः, क्रियात्वात् , छिदिक्रियावत् ।

[अर्थाः]

अर्थाः षट्पदार्थाः । ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः।

द्वारा नहीं । फलतः एक काल में एक इन्द्रिय द्वारा ही प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ करता है, दूसरी के द्वारा नहीं । इस प्रकार ज्ञानों की क्रम से उत्पत्ति संगत होती है । यदि मन व्यापक (विभु) होता तो एक साथ सभी इन्द्रियों के साथ उसका सम्बन्ध हो जाता और एक काल में कई इन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विषय का प्रत्यक्ष हो जाया करता (द्र० न्या० मु०) । न्यायसूत्र में इसी आधार पर मन की सिद्धि की गई है, युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (न्याय० सू० १.१.१.६) । सांख्य में मन को अहङ्कार का परिणाम माना गया है, तथा इसे विभु माना गया है ।

मन हृदय के भीतर स्थित रहता है और तीव्र गति वाला होने के कारण शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में जाया करता है । इसलिये समस्त इन्द्रियों से संयुक्त होकर मन इन्द्रियों के विषय का ग्रहण करता है तथा पादाग्र से लेकर सिर तक के सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है ।

इन्द्रियो की सत्ता में प्रमाण

(प्रश्न) चक्षु आदि इन्द्रियों की सत्ता में क्या प्रमाण है ?

(उत्तर) बतलाते हैं । अनुमान (प्रमाण) ही है । जैसे कि रूप आदि की उपलब्धि किसी करण से होती है (प्रतिज्ञा) ? क्योंकि यह क्रिया है (हेतु), जैसे छेदन (काटना) क्रिया (कुठार आदि करण से होती है) ।

चक्षु आदि के जो गोलक दिखाई देते हैं न्या०-वै० के अनुसार वे ही इन्द्रियाँ नही हैं, अपितु कृष्णतारा आदि मे रहने वाली सूक्ष्म इन्द्रियाँ है । इन इन्द्रियों का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं होता , अतः प्रश्न यह है कि इन्द्रियों की सत्ता में क्या प्रमाण है ? न्या० वै० का उत्तर है कि इन्द्रियों की सत्ता अनुमान द्वारा सिद्ध होती है। व्याप्ति यह है—जो भी क्रिया होती है वह किसी करण द्वारा साध्य होतो है; जैसे कोई कुठार (फरसे) से लकड़ी काटता है. यहाँ कटना (छिदि = छेदन) क्रिया है, उसका करण है कुठार । वह छिदि क्रिया कुठार रूप करण से साध्य होती है । इसी प्रकार रूप आदि की उपलब्धि भी क्रिया है, उसका कोई करण होना चाहिये, जो उसका करण है व.ी इन्द्रिय है ।

४. अर्थ नामक प्रमेय

प्रमेयों में चतुर्थ प्रमेय 'अर्थ' है । अर्थ का निरूपण करते हुए कहते हैं—

(वैशेषिक में बतलाये गये) ६ पदार्थ अर्थ हैं । और वे हैं (१) द्रव्य (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य (५) विशेष तथा (६) समवाय । यद्यपि प्रमाण आदि का

प्रमाणादयो यद्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्तनम् ।[1]

इनमें ही अन्तर्भाव हो जाता है तथापि (विशेष) प्रयोजन से उनका पृथक् कथन किया गया है ।

तर्कभाषाकार ने यहाँ 'अर्थ' शब्द से वैशेषिक सूत्र में बतलाये गये द्रव्य आदि ६ पदार्थों का ग्रहण किया है । न्यायसूत्र या भाष्य के अनुसार यहाँ 'अर्थ' शब्द का यह तात्पर्य नहीं है । वे तो यहाँ 'अर्थ' शब्द से गन्ध आदि ५ इन्द्रिय-विषयों का ग्रहण करते हैं—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः (न्या० सू० १. १. १४) । वैशेषिक सम्प्रदाय में अर्थ शब्द से द्रव्य, गुण तथा कर्म तीन पदार्थों का ग्रहण किया जाता है । किन्तु तर्कभाषाकार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय इन ६ पदार्थों को अर्थ कहते हैं ।

तर्कभाषाकार की इस प्रकार की व्याख्या का कारण यह कहा जा सकता है—उत्तर काल में न्याय वैशेषिक दोनों सम्प्रदायों का एक सम्मिलित (संस्कृत) रूप विकसित हुआ था (द्र० भूमिका) । उस समय कुछ प्रकरण ग्रन्थों में न्याय को आधार बनाकर दोनों सम्प्रदायों के मन्तव्यों का निरूपण किया गया, अन्यों में वैशेषिक को आधार बनाकर । तर्कभाषा एक ऐसा प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें न्याय को मुख्य आधार बनाकर सम्मिलित न्या०-वै० सम्प्रदाय के मन्तव्यों का निरूपण किया गया है । यहाँ मुख्य रूप से न्याय के प्रमाण आदि १६ पदार्थों का निरूपण किया गया है तथा 'अर्थ' के अन्तर्गत वैशेषिक के द्रव्य आदि पदार्थों का वर्णन कर दिया गया है । इसलिये तर्कभाषाकार ने 'अर्थ' शब्द की उपर्युक्त व्याख्या की है ।

अब शङ्का यह है कि यदि 'अर्थ' शब्द के द्वारा द्रव्य आदि ६ पदार्थों का ग्रहण किया जाता है तो न्याय के प्रमाण आदि १६ पदार्थों का अर्थ में ही अन्तर्भाव हो जायेगा; क्योंकि विश्व के समस्त भाव पदार्थ द्रव्य आदि में अन्तर्भूत हो जाते हैं, यहाँ गुण के भीतर 'बुद्धि' (ज्ञान) में प्रमाण आदि का भी अन्तर्भाव कर लिया गया है । इस शङ्का का समाधान करने के लिये कहा गया है—प्रयोजनवशात् भेदेन कीर्तनम ।

भाव यह है—यद्यपि अर्थ में सभी प्रमाण आदि का अन्तर्भाव हो जाता है तथापि प्रमाण आदि के पृथक् ग्रहण का विशेष प्रयोजन है । इस प्रयोजन के दो अंश हैं एक तो यह कि प्राणधारियों के उपकार के लिये चार विद्याओं का उपदेश किया गया है आन्वीक्षिकी (न्यायविद्या), त्रयी (वेदत्रयी), वार्ता (अर्थशास्त्र, शिल्प आदि) तथा दण्डनीति (राजनीति) । उनमें आन्वीक्षिकी या न्यायविद्या यह न्यायशास्त्र है, जो समस्त विद्याओं का प्रदीप है, सब कर्मों का उपाय है और सब धर्मों का आश्रय है (न्या. भा० १. १. १) । प्रमाण आदि का पृथक्-पृथक् निरूपण करके ही न्यायविद्या का भली भाँति विवेचन किया जा सकता है, इसके बिना नहीं । तब तो यह

१. कीर्तिताः, इति पाठा०

तत्र समवायिकारणं द्रव्यम् । गुणाश्रयो वा । तानि च द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ।

उपनिषदों के समान अध्यात्मविद्यामात्र रह जायेगी । अतः प्रमाण आदि का पृथक् विवेचन आवश्यक है (मि०, तत्र संशयादीनां पृथक् वचनमनर्थकम्, न्या० भा० १.१.१) ।

दूसरे, प्रमाण प्रमेय आदि के तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का निमित्त कहा गया है । इसलिये द्रव्य आदि अर्थों से पृथक् प्रमाण-प्रमेय आदि का विवेचन आवश्यक है। न्यायभाष्य में कहा गया है "यद्यपि आत्मा आदि से भिन्न द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य विशेष तथा समवाय भी प्रमेय हैं और उनके भेद ये वे असंख्य हो सकते हैं, तथापि विशेष रूप से आत्मा आदि का (प्रमेय रूप में) उपदेश इसलिये किया गया है क्योंकि इनके तत्त्वज्ञान से अपवर्ग तथा मिथ्या ज्ञान से संसार होता है (अस्त्यन्यदपि इत्यादि न्या० भा० १. १. ९) ।

इस प्रकार यहाँ 'अर्थ' शब्द के द्वारा द्रव्य आदि ६ पदार्थों का ग्रहण करने पर भी कोई दोष नहीं रहता ।

टिप्पणी-प्रयोजनवशात्—तेनापि रूपेण तत्त्वज्ञानस्योपयोगित्वादित्यर्थः (गोवर्धन) । तस्मात् सर्वविद्यानुग्राहकत्वान् निःश्रेयसहेतोस्तत्त्वज्ञानस्य च निमित्तत्वात् पृथक्-प्रस्थानत्वं ज्ञापयितुं प्रमाणादिषोडशपदार्थानां भेदेन कीर्तनम् (चि०) । प्रमाणादीनां साक्षात् निःश्रेयसाङ्गत्वविवक्षया प्राधान्येन कीर्तनम् (?)

(१) द्रव्य का निरूपण

न्यायसूत्र के प्रमेयों में स्थित अर्थ शब्द से वैशेषिकोक्त द्रव्य आदि ६ पदार्थों का ग्रहण करके वैशेषिकोक्त पदार्थों का निरूपण करते हैं—

उन (द्रव्य आदि ६ पदार्थों) में जो समवायी कारण है वह द्रव्य (कहलाता) है । अथवा गुण का आश्रय (द्रव्य) है । और, वे द्रव्य ९ ही हैं—पृथिवी, जल (अप), तेज (तेजस्), वायु, आकाश, काल, दिक् (दिशा), आत्मा (आत्मन्) तथा मन (मनस्) ।

यहाँ द्रव्य के दो लक्षण दिये गये हैं । जैसा कि समवायी कारण के सन्दर्भ में कहा गया है (द्र० पृ० ३९) सामान्यतः द्रव्य का लक्षण है गुणाश्रयो द्रव्यम्' । किन्तु न्या०-वै० के मतानुसार 'प्रथम क्षण में घट आदि की उत्पत्ति होती है । इसलिये प्रथम क्षण में घट आदि द्रव्य गुण का आश्रय नहीं होता तथा उसमें 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह द्रव्यलक्षण घटित नहीं हो सकता । इसी हेतु यहाँ पहले द्रव्य का निर्विवाद लक्षण दिया जा रहा है । जो समवायी कारण होता है, वह द्रव्य होता है । इस लक्षण में यदि 'समवायि' पद न रक्खा जाता, केवल 'कारणं द्रव्यम्' ऐसा ही लक्षण किया जाता तो उस लक्षण की गुण तथा कर्म में भी अतिव्याप्ति हो जाती है; क्योंकि ऊपर बतलाया गया है कि गुण तथा कर्म भी किसी कार्य के असमवायी कारण तथा निमित्त कारण हुआ करते हैं । इस दोप के निवारण के लिये लक्षण में

[पृथिव्यादिद्रव्याणि]

तत्र पृथिवीत्वसामान्यवती पृथिवी। काठिन्यकोमलत्वाद्यवयवसंयोग-विशेषेण युक्ता । घ्राण—शरीर-मृत्पिण्ड-पाषाण-वृक्षादिरूपा। रूप-रस-गन्ध-

---

'समवायि' पद दिया गया है । अब यदि यहां 'कारण शब्द न रक्खा जाता, 'समवायि द्रव्यम्' इतना ही कहा जाता तो भी गुण तथा कर्म में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि गुण तथा कर्म में भी गुणत्व तथा कर्मत्व जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है, वे भी समवायविशिष्ट (समवायी) हैं। लक्षण में 'कारणम्' शब्द रखने पर यह दोष नहीं रहता। यह ठीक है कि गुण और कर्म में जाति का समवाय है: किन्तु जाति तो नित्य होती है, गुण या कर्म उसके जनक या कारण नहीं होते ।

गुणाश्रयो वा—यद्यपि इस लक्षण में पूर्वपक्षी ने उपर्युक्त दोष दिखलाया है तथापि यहां योग्यता के आधार पर गुणों का आश्रय मानने पर कोई दोष नहीं रहता। गुणाश्रय=गुण के आश्रय होने की योग्यता रखने वाला और योग्यता का अर्थ है गुणों के अत्यन्ताभाव का अभाव । यद्यपि प्रथम क्षण के घट आदि में गुणों का अभाव होता है तथापि वहां गुणों का अत्यन्ताभाव (त्रैकालिक अभाव) तो नहीं होता । अत: 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह लक्षण भी संगत ही है ।

नवैव—यहाँ पृथिवी आदि ९ द्रव्यों का कथन करके वे नौ ही हैं, ऐसा कहा गया है । इस कथन का अभिप्राय यह है कि नौ से अधिक द्रव्य नहीं हैं। मीमांसक का मत है कि अन्धकार (तमस्) दशम द्रव्य है । उसका प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है और वह रूप से युक्त (गुणाश्रय) तथा कर्म से युक्त है अत: उसका द्रव्य होना सिद्ध होता है । किञ्च उक्त नौ द्रव्यों में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता । वह गन्धशून्य है अतः वह पृथिवी नहीं हो सकता । वह नील रूप वाला है, अतः जल आदि में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता । इसीलिये उसे पृथक् द्रव्य (दशम द्रव्य) मानना चाहिये । इस मत का निराकरण करते हुए न्या०-वै० में कहा गया है कि अन्धकार कोई द्रव्य नहीं है, अतः उसके दशम द्रव्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता । वस्तुतः प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है । जो उसमें नील रूप की प्रतीति होती है वह तो भ्रान्ति है, इसी प्रकार उसमें क्रिया (चलना आदि) की प्रतीति भी भ्रान्ति है (द्र० न्या० मु० का० ३) ।

जो किन्हीं ने सुवर्ण को ९ द्रव्यों से अतिरिक्त माना है वह भी न्या०-वै० को अभीष्ट नहीं । उसके अनुसार सुवर्ण का तेज में ही अन्तर्भाव हो जाता है, यह आगे दिखलाया जायेगा ।

(i) पृथिवी

उन (९ द्रव्यों) में पृथिवीत्व जाति वाली पृथिवी (कहलाती) है । यह कठिन-कोमल आदि अवयव संयोग-विशेष से युक्त होती है । वह घ्राण शरीर तथा मृत्पिण्ड-

स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कारवती। सा च द्विविधा नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा, अनित्या कार्यरूपा। द्विविधायाः पृथिव्या रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा अनित्याः पाकजाश्च। पाकस्तु तेजः संयोगः, तेन पृथिव्याः पूर्वरूपादयो नश्यन्त्यन्ये जन्यन्त इति पाकजाः।

पाषाण वृक्ष आदि के रूप में होती है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्ता-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कार (१४) गुण) वाली है। वह दो प्रकार की है नित्या तथा अनित्या। नित्या परमाणु रूप है और अनित्या कार्यरूप है। दोनों प्रकार की पृथिवी के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श (गुण) अनित्य तथा पाकज होते हैं। तेज का संयोग पाक (कहलाता) है। उससे पृथिवी के पूर्व रूप आदि नष्ट हो जाते है तथा दूसरे उत्पन्न हो जाते है। इसलिये ये पाकज (पाकजन्य = अग्नि-संयोग से उत्पन्न कहलाते) हैं।

यहाँ पृथिवी का लक्षण किया गया है पृथिवीत्व सामान्यवती, जिसमें पृथिवीत्व नामक सामान्य रहती है वह पृथिवी है। ऊपर केवलव्यतिरेकी अनुमान के सन्दर्भ में कहा गया था 'पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम्' न्या०-वै० के कुछ अन्य ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का लक्षण किया गया है। ये दोनों लक्षण तात्पर्यतः एक ही हैं; क्योंकि गन्धवत्त्व अर्थात् गन्ध की समवायिकारणता का नियामक धर्म (समवायिकारणतावच्छेदक) पृथिवीत्व को ही माना गया है। इसी प्रकार जल आदि के लक्षण में भी समझना चाहिये।

पृथिवी दो प्रकार की है नित्या और अनित्या। नित्या पृथिवी परमाणु रूप है और अनित्या कार्यरूप। द्वयणुक से लेकर दृश्यमान पार्थिव पदार्थों तक सभी कार्यरूपा है, यह अनित्य है। किन्तु प्रभाकर के अनुयायी कहते हैं कि पृथिवी इस रूप में कभी बनी नहीं, समस्त सृष्टि के समान यह स्थूल पृथिवी भी अनादि है (चि०)। उनके प्रति स्थूल पृथिवी की कार्यता सिद्ध करने के लिये न्या०-वै० की ओर से सावयवत्व हेतु दिया गया है। अनुमान है-स्थूल पृथिवी कार्या, सावयवत्वात्। यहाँ पृथिवी में सावयवत्व दिखलाने के लिये कहा गया है काठिन्य इत्यादि। इसका अर्थ है कठिन तथा कोमल अवयवसंयोग से युक्त। काठिन्य का अर्थ है कठोरता, निविडता; जहाँ अवयवों का संयोग कठोर होता है वह पार्थिव भाग कठिन कहलाता है जैसे पाषाण आदि। जहाँ अवयवों का संयोग शिथिल होता है, वहाँ कोमलता कही जाती है जैसे रूई आदि में। 'काठिन्य-कोमलत्वादि' में 'आदि' शब्द से अत्यन्तकाठिन्य (अतिनिविडता) का ग्रहण होता है।

प्रशस्तपाद भाष्य में कार्यरूपा पृथिवी तीन प्रकार की बतलाई गई है शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। तर्कसंग्रह आदि प्रकरणग्रन्थों में भी ऐसा ही कहा गया है। यहाँ उन तीनों भेदों का उल्लेख नहीं किया गया तथापि अनित्या पृथिवी के तीन रूप

दिखलाये गये हैं। यहाँ शरीर का पृथक् उल्लेख किया गया है, घ्राण इन्द्रिय है तथा मृत्पिण्ड, पाषाण और वृक्ष आदि विषय हैं। विषय का अभिप्राय है—शरीर तथा इन्द्रिय से भिन्न आत्मा के भोग का साधनभूत द्रव्य (शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमात्मनो भोगसाधनं द्रव्यं विषयः, न्यायकन्दली)।

पाकजाः—पृथिवी में रूप आदि १४ गुण हैं। इनमें रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये चार विशेष गुण हैं तथा शेष दस सामान्य गुण हैं। रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये चारों गुण परमाणु रूप (नित्य) पृथिवी में भी अनित्य होते है। ये पृथिवी में पाकज हैं, पाक से उत्पन्न हुआ करते हैं। पाक का अर्थ है तेजः–संयोग या अग्नि का संयोग। उससे पृथिवी के पूर्व-पूर्व रूप आदि नष्ट हो जाते हैं ओर, दूसरे रूप आदि उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ कच्चा आम हरा है (रूप), उसका रस खट्टा है, गन्ध स्पष्ट नहीं, वह स्पर्श में कठोर है, उस आम को पाल में रखकर उष्णता दी जाती है—तेजः संयोग या पाक होता है उससे आम का रंग पीला पड़ जाता है, रस मधुर। उसमें सुगन्ध उत्पन्न हो जाती है और उसका कोमल स्पर्श हो जाता है। इसी प्रकार अन्य पार्थिव द्रव्यों में भी पाक से पूर्व-पूर्व रूप आदि का नाश हो जाता है तथा नये रूप आदि उत्पन्न हो जाते हैं, अतः ये पाकज हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि रूप आदि पृथिवी में ही पाकज होते हैं, जल आदि में नहीं। जल को अनेक बार गर्म करने पर भी उनके रूप आदि में परिवर्तन नहीं होता। किन्तु पृथिवी में रूप आदि सदा पाकज ही होते हैं, यह नियम नहीं है। जहाँ बिना पाक के ही अवयवों के गुण से अवयवी का गुण उत्पन्न होता है, वहाँ रूप आदि पाकज नहीं होते। उदाहरणार्थ हरे तन्तुओं से जो पट बनता है, उस पट का हरित वर्ण (रूप) तन्तुओं के हरित वर्ण से जन्य होता है, पाकज नहीं।

रूप आदि चारों गुण पृथिवी में पाकज भी होते हैं, इस विषय में न्याय तथा वैशेषिक दोनों एक मत हैं, किन्तु पाकजोत्पत्ति की प्रक्रिया में दोनों में मत-भेद है। इसी आधार पर वैशेषिक-परम्परा का पीलुपाकवाद तथा न्याय-परम्परा का पिठरपाकवाद दो वाद भारतीय दर्शन में प्रसिद्ध हैं (द्र०, टि०)।

टिप्पणी—(i) पाकजाः—कार्यद्रव्यों के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुण दो प्रकार के होते हैं पाकज तथा अपाकज। ये पृथिवी में ही पाकज होते हैं। अपाकज तो पृथिवी में भी होते हैं तथा यथायोग्य अन्य द्रव्यों में भी। अपाकज रूप आदि की उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक होती है अर्थात् कार्यद्रव्यों के कारण (अवयवों) में रहने वाले गुणों से अपने जैसे (सजातीय गुण) कार्यद्रव्यों में उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे रक्त घट की रक्तिमा (लालिमा) घट के अवयवों (कपालों) की लालिमा से उत्पन्न होता है और उन कपालों की लालिमा अपने अवयवों की लालिमा से। इसी प्रकार सबसे छोटे विभाग परमाणु की लालिमा से ही द्वयणुक आदि की लालिमा उत्पन्न हुआ करती है।

(ii) पीलुपाक तथा पिठरपाक – प्रश्न यह है कि कच्चा घट जो श्याम रूप

का है आवे में रखकर पकाने से लाल हो जाता है, इस श्याम रूप से लाल रूप में बदलने की प्रक्रिया क्या है ? इस पर वैशेषिक का कथन है—घट आदि कच्चे द्रव्य के साथ अग्नि का सम्बन्ध होने पर नोदन या अभिघात से घट के आरम्भक अणुओं में क्रिया होती है । क्रिया से परमाणुओं में विभाग हो जाता है । विभाग से परमाणुओं के संयोग का नाश हो जाता है तथा घट (कार्यद्रव्य) का नाश हो जाता है। तब उन अलग हुए परमाणुओं में अग्नि के संयोग से श्याम रूप का नाश हो जाता है और पाकज रक्तता उत्पन्न हो जाती है । उसके पश्चात् भोग करने वाले आत्माओं के अदृष्ट तथा आत्मा एवं परमाणुओं के संयोग से पाकज रूप से युक्त परमाणुओं में क्रिया होती है । क्रिया से संयोग होता है । तब द्वयणुक आदि के क्रम से घट आदि कार्य द्रव्य उत्पन्न हो जाता है । इस घट आदि में कारणगुण के क्रम से रूप आदि की उत्पत्ति होती है । (प्रश० भा० पृ०, २५७–२६०) ।

इस प्रक्रिया को स्वीकार करने में वैशेषिक की युक्ति यह है कि घट आदि के अवयव एक-दूसरे से नितान्त संयुक्त (अत्यन्त सटे हुए) होते हैं उनके बीच में कोई अन्तर नहीं होता । अतः उनके मध्य में अग्नि के परमाणुओं का प्रवेश नहीं हो सकता । जब परमाणु परस्पर विभक्त हो जाते हैं तभी ऊनके मध्य अग्नि के परमाणुओं का प्रवेश हुआ करता है और, तभी घट के भीतर तक का प्रत्येक परमाणु लाल हो जाता है । इसलिये घट आदि अवयवी में पाक नहीं होता अपितु उसके परमाणुओं में ही पाक होता है, यह मानना चाहिये । वैशेषिक के इस मन्तव्य को पीलुपाकवाद कहा जाता है । 'पीलु' का अर्थ है परमाणु, उसका ही पाक होता है, ऐसा वाद (विचार) ही पीलुपाकवाद है ।

नैयायिक का मन्तव्य इसके विपरीत है । उसका कथन है कि इस प्रकार अनन्त अवयवों का नाश तथा उत्पत्ति मानने में गौरव है, किञ्च, यह सामान्य बुद्धि तथा अनुभव के भी विरुद्ध है अतः परमाणुओं में पाक नहीं होता अपितु अवयवी (कार्य-द्रव्य) में ही पाक हो जाता है । इस मन्तव्य को पिठरपाकवाद कहते हैं। पिठर का अर्थ है पात्र (वर्तन घट आदि) या पिण्ड (अवयवी) । भाव यह है कि घट आदि के आरम्भक परमाणु एक-दूसरे से बिल्कुल मिले नहीं होते अपितु वे छिद्र-युक्त होते हैं—उनके बीच में अन्तर होता है । इसलिए अग्नि के सूक्ष्म अंश उनके बीच में प्रविष्ट हो जाते हैं और परमाणुओं के विभक्त हुए बिना ही घट आदि में रक्तिमा की उत्पत्ति हो जाती है । घट आदि के आरम्भक अणुओं के बीच में सूक्ष्म अन्तर होता है, यह इस बात से ही सिद्ध है कि मिट्टी के घड़े में जब घृत या तैल आदि रक्खा जाता है तो उसकी चिकनाई बाहर झलकने लगती है ।

वस्तुतः दोनों मतों में दृष्टि का भेद है । वैशेषिक के अनुसार घट आदि के परमाणुओं के बीच अग्नि का प्रवेश हो जाने से उनके संयोग का नाश हो जाता है और कार्यद्रव्य घट आदि का नाश हो जाता है । दूसरी ओर नैयायिक के मत में

अप्त्वसामान्ययुक्ता आपः। रसनेन्द्रियशरीरसरित्समुद्रहिमकरकादि-रूपाः गन्धवर्जस्नेहयुक्तपूर्वोक्तगुणवत्यः नित्या अनित्याश्च। नित्यानां रूपादयो नित्या एव। अनित्यानां रूपादयोऽनित्या एव।

तेजस्त्वसामान्यवत् तेजः। चक्षुःशरीरसवितृसुवर्णवह्निविद्युदादिप्रभेदम्। रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वाऽपरत्व द्रवत्व-संस्कारवद्। नित्यमनित्यञ्च पूर्ववत्। तच्चतुर्विधम्। १. उद्भूतरूपस्पर्शम्। २. अनुद्भूतरूपस्पर्शम्। ३. अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शम्। ४. उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शञ्चेति।

अग्नि मा प्रवेश होने पर भी घट के आरम्भक परमाणुओं के संयोग का नाश नहीं होता और घटनाश नहीं कहा जा सकता।

(ii) जल (अप्)

जलत्व (अप्त्व) जाति से युक्त जल (अप्) है। वह रसनेन्द्रिय, शरीर तथा नदी-हिम-ओला (करक) आदि के रूप में है। 'गन्ध' को छोड़कर तथा 'स्नेह' को जोड़कर पूर्वोक्त (पृथिवी के सम्बन्ध में कथित १४) गुण वाला है। वह भी नित्य तथा अनित्य (दो प्रकार का) होता है। नित्य के रूप आदि नित्य ही होते है तथा अनित्य के रूप आदि अनित्य ही।

टिप्पणी—(i) आपः (अप्) जलवाचक नित्यबहुवचनान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द है। इसलिए इसके विशेषण रूप में स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त शब्दों का प्रयोग किया गया है जैसे अप्त्वसामान्ययुक्ताः, गुणवत्यः इत्यादि। (ii) जल भी शरीर, इन्द्रिय तथा विषय के भेद से तीन प्रकार का है। न्या०-वै० का कथन है कि जलीय शरीर अयोनिज होते हैं, वे वरुण लोक में होते हैं। (न्या० मु०), जलीय इन्द्रिय रसना है। नदी, समुद्र आदि जलीय विषय हैं। (iii) जल में रूप, रस, स्नेह तथा स्पर्श ये चार विशेष गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार ये दश सामान्य गुण हैं।

(iii) तेज (तेजस्)

तेजस्त्व सामान्य से युक्त तेज है। वह चक्षु शरीर तथा सूर्य-सुवर्ण-अग्नि विद्युत् आदि भेद वाला है। रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा संस्कार (११ गुणों) वाला है। पहिले (पृथिवी आदि) के समान ही नित्य तथा अनित्य (दो प्रकार का) होता है वह (अनित्य तेज) चार प्रकार का है--(१) उद्भूत रूप तथा स्पर्श वाला, (२) अनुद्भूत रूप तथा स्पर्श वाला, (३) अनुद्भूत रूप तथा उद्भूत स्पर्श वाला और (४) उद्भूत रूप वाला, तथा अनुद्भूत स्पर्श वाला।

उद्भूतरूपस्पर्शं यथा[1] पिण्डीभूतं तेजो वह्न्यादिकम् ।

सुवर्णन्तु उद्भूताभिभूतरूपस्पर्शम् । तदनुद्भूतरूपत्वेऽचाक्षुषं स्यात्, अनुद्भूतस्पर्शत्वे त्वचा न गृह्येत । अभिभवस्तु वलव सजातीयेन पार्थिवरूपेण स्पर्शेन च कृतः । अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजो यथा चक्षुरिन्द्रियम् । अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा तप्तवारिस्थं तेजः । उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं यथा प्रदीपप्रभामण्डलम् ।

---

(१) उद्भूत रूप तथा स्पर्श वाला तेज है, जैसे पिण्ड रूप में होने वाला तेज अग्नि आदि । सुवर्ण तो उद्भूत होकर अभिभूत हो जाने वाले रूप तथा स्पर्श से युक्त है । यदि यह अनुद्भूत रूप वाला होता तो चक्षु द्वारा ग्राह्य न (=अचाक्षुष) होता । यदि अनुद्भूत स्पर्श वाला होता तो स्पर्शन (इन्द्रिय) से गृहीत न होता (इस लिये इसके रूप तथा स्पर्श उद्भूत ही हैं) किन्तु बलवान् तथा समान जाति वाले पार्थिव रूप एवं स्पर्श ने उसका अभिभव कर दिया है । (२) अनुद्भूत रूप तथा (अनुद्भूत) स्पर्श वाला तेज है, जैसे चक्षु इन्द्रिय । (३) अनुद्भूत रूप वाला तथा उद्भूत स्पर्श वाला तेज है जैसे तपे हुए जल में स्थित तेज है (४) उद्भूत रूप वाला तथा अनुद्भूत स्पर्श वाला तेज है, जसे दीपक का प्रभामण्डल ।

तेज (तेजस्) भी नित्य तथा अनित्य दो प्रकार का होता है । अनित्य तेज भी शरीर, इन्द्रिय तथा विषय के भेद से तीन प्रकार का है । (तेजस् से उत्पन्न) शरीर अयोनिज माने गये हैं जो सूर्यलोक आदि में हैं (न्या० मु०), चक्षु इन्द्रिय तैजस है, यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है । सूर्य, सुवर्ण, अग्नि तथा विद्युत् आदि तैजस विषय हैं । तेज में ११ गुण माने गये हैं जिनमें रूप तथा स्पर्श दो विशेष गुण हैं और शेष सामान्य गुण हैं । तेज का रूप भास्वर (दीप्तियुक्त) शुक्ल है, उसका स्पर्श उष्ण है । यही उसके रूप तथा स्पर्श का पृथिवी आदि के रूप तथा स्पर्श आदि से भेद है ।

रूप तथा स्पर्श ये दोनों गुण उद्भूत अवस्था में भी होते है तथा अनुद्भूत अवस्था में भी । रूप आदि का एक विशेष धर्म ही उद्भूतता है जिसके कारण ये रूप आदि इन्द्रिय-ग्राह्य हो जाया करते हैं । उससे विपरीत धर्म अनुद्भूतता है (इन्द्रियग्रहणयोग्यत्वापादको धर्मविशेष उद्भूतस्तद्विपरीतश्चानुद्भूतः, चि०) । रूप तथा स्पर्श के अलग-अलग उद्भूत तथा अनुद्भूत होने से तेज चार प्रकार का हो जाता है—

(१) **उद्भूतरूपस्पर्श**—वह तेज है जिसके रूप तथा उष्ण स्पर्श दोनों उद्भूत होते हैं। तेज का भास्वर शुक्ल रूप है तथा उष्ण स्पर्श है । इस प्रकार के तेज में ये दोनों ही इन्द्रियग्राह्य होते हैं, जैसे पिण्डीभूत अग्नि है, अग्नि की लपटें आदि हैं। उनमें चक्षु द्वारा भास्वर शुक्ल रूप का ग्रहण होता है तथा स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा उष्ण स्पर्श का । इसी प्रकार सूर्य आदि हैं ।

---

१. यथा सौरा दितेजः०, इति, पाठा० ।

इस प्रथम प्रकार के तेज का एक अवान्तर भेद भी है। उसमें भी रूप तथा स्पर्श दोनों ही उद्भूत होते हैं। वह भेद है सुवर्ण (सोना) किन्तु प्रश्न यह है कि यदि सुवर्ण तैजस है और उसमें उद्भूत रूप तथा स्पर्श हैं तो उसमें भास्वर शुक्ल रूप तथा उष्णस्पर्श का अनुभव क्यों नहीं होता। इसके उत्तर में कहा जाता है कि स्वर्ण में जो उद्भूत रूप तथा स्पर्श हैं, वे अभिभूत हो गये हैं, उनका पार्थिव रूप तथा स्पर्श से अभिभव हो गया है। अभिभव का अर्थ है किसी शक्तिशाली समानजातीय पदार्थ के द्वारा दब जाना। न्या०-वै० के अनुसार सुवर्ण की उत्पत्ति तैजस परमाणुओं से होती है, किन्तु उसमें पार्थिव अवयवों का संयोग रहता है (मि०, न्या० क० पृ० ११२)। कारण गुण से उत्पन्न होने वाला सुवर्ण का जो उद्भूत भास्वर शुक्ल रूप है वह पार्थिव पीत वर्ण से अभिभूत हो गया है। इसी प्रकार उसके उष्ण स्पर्श का भी पार्थिव अंश के अनुष्णाशीत स्पर्श से अभिभव हो गया है। अब शङ्का यह है कि यदि सुवर्ण मे तैजस रूप तथा स्पर्श का प्रत्यक्षतः अनुभव नहीं होता तो इसमें क्या प्रमाण है कि ये दोनों उद्भूत अवस्था में हैं। इसका समाधान करने के लिये कहा गया है:—तदनुद्भूत ·····गृह्यते। भाव यह है कि उद्भूत रूप वाले द्रव्य का ही चक्षु द्वारा ग्रहण हुआ करता है। यदि सुवर्ण में उद्भूत रूप न होता तो उसका चक्षु द्वारा ग्रहण न हुआ करता, जैसे जल में स्थित तेज का चक्षु द्वारा ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार उद्भूत स्पर्श वाले द्रव्य का ही त्वचा से ग्रहण हुआ करता है। यदि सुवर्ण में उद्भूत स्पर्श न होता तो उसका त्वचा से ग्रहण न हो सकता। इसलिये सुवर्ण में उद्भूत रूप तथा स्पर्श ही मानना चाहिये। तैजस रूप तथा तैजस स्पर्श का पार्थिव रूप एवं स्पर्श से अभिभव हो गया है अतः उसका प्रत्यक्ष से अनुभव नहीं होता।

(२) **अनुद्भूतरूपस्पर्श**—वह तेज है, जिसमें रूप तथा स्पर्श दोनों अनुद्भूत होते हैं। उसमें रूप तथा स्पर्श इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। उदाहरणार्थ चक्षु इन्द्रिय है। यह तैजस है अतः इसमें भास्वरशुक्ल रूप तथा उष्ण स्पर्श हैं। किन्तु वे उद्भूत नहीं हैं। इसलिये चक्षु में इन दोनों का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं होता।

(३) **अनुद्भूतरूप-अनुद्भूतस्पर्श**—वह तेज है, जिसमें रूप उद्भूत नहीं होता किन्तु स्पर्श उद्भूत होता है; जैसे गर्म जल में जो तेज होता है उसमें शुक्ल भास्वर रूप का अनुभव नहीं होता किन्तु उष्ण स्पर्श का अनुभव हुआ करता है।

(४) **उद्भूतरूप-अनुद्भूत स्पर्श**—वह तेज है, जिसमें रूप तो उद्भूत होता है किन्तु स्पर्श उद्भूत नहीं होता, जैसे दीपक की प्रभा है। उसके भास्वर शुक्ल रूप का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होता है किन्तु उष्ण स्पर्श का अनुभव नहीं होता।

टिप्पणी—मीमांसकों ने सुवर्ण को पृथिवी आदि से पृथक् एक द्रव्य माना है. किन्तु न्या०-वै० में सुवर्ण को तेजस् द्रव्य का ही एक भेद माना गया है। सुवर्ण तैजस है, यह बात अनुमान द्वारा सिद्ध की गई है (द्र० न्या० मु०, का० ४२)।

वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः। त्वगिन्द्रियप्राणवातादिप्रभेदः। स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-वेगवान्। स च स्पर्शानुमेयः[1]। तथाहि योऽयं वायौ वाति, अनुष्णाशीतस्पर्श उपलभ्यते स गुणत्वाद् गुणिनमन्तरेणानुपपद्यमानो गुणिनमनुमापयति। गुणी च वायुरेव। पृथिव्या अनुपलब्धेः।[2] वायुपृथिवीव्यतिरेकेण अनुष्णाशीतस्पर्शाभावात्। स च द्विविधो नित्याऽनित्यभेदात्। नित्यः परमाणुरूपो वायुः, अनित्य कार्यरूप एव।

(iv) वायु

वायुत्व (सामान्य) के (समवाय) सम्बन्ध वाला वायु है। उसके त्वक् इन्द्रिय, प्राण तथा (बाह्य) पवन आदि भेद हैं। वह स्पर्श, संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग (९ गुणों) वाला है और स्पर्श आदि के द्वारा अनुमेय है। जैसे कि जो यह पवन के चलने पर अनुष्ण एवं अशीत स्पर्श उपलब्ध होता है वह गुण होने से गुणी के बिना उपपन्न नहीं होता अतः गुणी का अनुमान कराता है। वह गुणी वायु ही है। क्योंकि पृथिवी की उपलब्धि नहीं होती। और, वायु तथा पृथिवी के अतिरिक्त कहीं अनुष्ण एवं अशीत स्पर्श नहीं होता। वह (वायु) नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार का है। परमाणुरूप वायु नित्य है तथा कार्यरूप वायु अनित्य है।

वायु का लक्षण है वायुत्व + अभिसम्बन्धवान्। यहाँ अभिसम्बन्ध का अर्थ है अभिमत सम्बन्ध। वायुत्व जाति (सामान्य) है जो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहती है। इसलिये अभिसम्बन्ध का अभिप्राय है समवाय सम्बन्ध। फलतः जिसमें समवाय सम्बन्ध से वायुत्व नामक जाति रहती है वह वायु है। यहाँ वायु के दो ही प्रकार दिखलाये गये हैं इन्द्रिय तथा विषय। न्यायमुक्तावली आदि में वायवीय शरीर का भी उल्लेख किया गया है—तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम् (न्या० मु०, का० ४३)। यहाँ विषय के रूप में प्राणवायु तथा वात दो का कथन किया गया है। शरीर के भीतर संचरण करने वाली वायु प्राणवायु है। कार्य के भेद से उसके प्राण-अपान-समान-उदान-व्यान ये पाँच नाम हो जाते हैं। 'वात' शब्द से उस वायु का ग्रहण है जिसके स्पर्श का हमें अनुभव हुआ करता है।

प्राचीन न्या०-वै० में वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना गया। वहाँ यह माना गया है कि बाह्य इन्द्रियों से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में रूप भी कारण होता है (बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम्, न्या०, मु० का० ५६)। किन्तु नवीन नैयायिक यह स्वीकार करते हैं कि वायु का प्रत्यक्ष होता है (वही)। यहाँ प्राचीन मत का अनुसरण करते हुए कहा गया है—**स च स्पर्शानुमेयः**। वायु की सिद्धि परिशेषानुमान से की जाती है। वायु के चलने पर एक ऐसे स्पर्श का अनुभव होता है जो न उष्ण है न

१. स्पर्शाद्यनुमेयः, इति पाठा०। २. पृथिव्याद्यनुपलब्धेः, इति पाठा०।

[कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः]

तत्र पृथिव्यादीनां चतुर्णां कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते-द्वयोः परमाण्वोः क्रियया संयोगे सति द्वयणुकमुत्पद्यते। तस्य परमाणू समवायिकारणम्, तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्, अदृष्टादि निमित्तकारणम्। ततो द्वयणुकानां

शीत है। वह अनुष्णाशीत स्पर्श प्रत्यक्ष से जाना जाता है। वह स्पर्श एक गुण है। और, यह नियम है कि गुण किसी गुणी (द्रव्य) में ही रहता है। वह अनुष्णाशीत स्पर्श जिस द्रव्य में आश्रित रहता है वही वायु कहलाता है। अनुमान का प्रयोग है:—

उपलभ्यमान (विलक्षण) स्पर्श किसी द्रव्य में आश्रित है (प्रतिज्ञा),
क्योंकि यह गुण है (हेतु),

जो गुण होता है वह गुणी में आश्रित होता है, जैसे रूप आदि (उदाहरण)

भाव यह है कि न्या०-वै० की दृष्टि से जो ९ द्रव्य हैं उनमें से केवल पृथिवी, जल, तेज तथा वायु इन चारों में ही स्पर्श रहता है। उनमें भी जल का स्पर्श शीत होता है, तेज का उष्ण होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। इसलिये इस अनुष्ण-अशीत स्पर्श का आश्रय जल या तेज नहीं हो सकता। पृथिवी भी इस अनुभूयमान अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय नहीं हो सकती। क्यों? नियम यह है कि पृथिवी में जहां उद्भूत (इन्द्रियग्राह्य) स्पर्श होता है वहाँ उद्भूत रूप भी होता है। यदि इस अनुभूयमान अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय पार्थिव पदार्थ होता तो वह पदार्थ उद्भूत रूप वाला भी होता तथा चक्षु इन्द्रिय द्वारा उसका प्रत्यक्ष हुआ करता। किन्तु ऐसा नहीं होता। परिणामतः इस अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय पृथिवी आदि से भिन्न कोई द्रव्य है। वही वायु है।

टिप्पणी—यहाँ 'पृथिव्याद्यनुपलब्धेः' यह पाठान्तर है जो उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि अनुष्णाशीत स्पर्श का प्रसङ्ग केवल पृथिवी में ही हो सकता है अन्य किसी द्रव्य में नहीं।

कार्यद्रव्यों के उत्पत्ति विनाश का क्रम

ऊपर कहा गया है कि पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये चारों दो-दो प्रकार के होते हैं नित्य तथा अनित्य। अनित्य पृथिवी आदि कार्यरूप में होते हैं, इन्हें स्थूलभूत भी कहा जाता है। इनकी अपने कारणों से उत्पत्ति हुआ करती है तथा फिर विनाश हो जाया करता है। परमाणु रूप पृथिवी आदि स्थूलभूतों के कारण होते हैं। परमाणु रूप पृथिवी आदि को सूक्ष्म भूत भी कहते हैं। इन परमाणु रूप पृथिवी आदि में स्थूल पृथिवी आदि की उत्पत्ति कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

अब पृथिवी आदि चार कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति तथा विनाश का क्रम बतलाया जाता है। दो परमाणुओं में क्रिया होने से (उनका) संयोग होने पर (एक) द्वयणुक उत्पन्न होता है उस (द्वयणुक) के दो परमाणु (=परमाणू) समवायी

त्रयाणां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकमुत्पद्यते। तस्य द्वचणुकानि समवायिकारणम्। शेषं पूर्ववत्। एवं त्र्यणुकैश्चतुर्भिश्चतुरणुकम्। चतुरणुकैरपरं स्थूलतरं, स्थूलतरैरपरं स्थूलतमम्। एवं क्रमेण महापृथिवी, महत्य आपो, महत् तेजो महांश्च वायुरुत्पद्यते।

कार्यगता रूपादयः स्वाश्रयसमवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायात्।

कारण हैं, उनका संयोग असमवायी कारण है, (आत्माओं का) अदृष्ट आदि निमित्त कारण हैं। उसके पश्चात् तीन द्वचणुकों में क्रिया होने से (उनका) संयोग होने पर (एक) त्र्यणुक उत्पन्न होता है। उस (त्र्यणुक) के समवायी कारण (तीन) द्वचणुक होते हैं, शेष पूर्ववत् (द्वचणुक की उत्पत्ति के समान) है। इसी प्रकार चार त्र्यणुकों से चतुरणुक, चतुरणुकों से दूसरा स्थूलतर (द्रव्य), उन स्थूलतरों से स्थूलतम (द्रव्य) उत्पन्न होता है। इस प्रकार क्रम से स्थूल पृथिवी, स्थूल जल, स्थूल तेज और स्थूल वायु उत्पन्न हो जाते हैं।

यहाँ दो परमाणुओं की क्रिया से उनका संयोग बतलाया गया है। किन्तु प्रश्न यह हो सकता है कि जड़ परमाणुओं में यह क्रिया किस निमित्त से होती है। इसका उत्तर आगे स्पष्ट होता है—**अदृष्टादि निमित्तकारणम्**'। यहाँ 'आदि' शब्द से ईश्वर की इच्छा तथा प्रयत्न आदि का ग्रहण होता है। (आदिशब्देनेश्वरेच्छादीनां ग्रहणम्, चि०)। भाव यह है:—आत्माओं के जो अदृष्ट (धर्म तथा अधर्म) होते हैं, उनके भोग के लिये ईश्वर की इच्छा तथा प्रयत्न से परमाणुओं में क्रिया होती है। क्रिया से संयोग होता है और दो परमाणुओं में एक द्वचणुक की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार त्र्यणुक, चतुरणुक आदि के क्रम से स्थूल पृथिवी आदि उत्पन्न हो जाते हैं (द्र० अनुवाद)। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि तीन द्वचणुकों से त्र्यणुक तथा चार त्र्यणुकों से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है। त्र्यणुक को त्रुटि या त्रसरेणु भी कहते हैं।

कार्य गुण की उत्पत्ति की प्रक्रिया

कार्य (पृथिवी आदि) में होने वाले रूप आदि अपने आश्रय के समवायी कारण में स्थित रूप आदि से उत्पन्न होते हैं; क्योंकि यह नियम है कि कारण के गुण कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं।

परमाणुओं में जो रूप आदि गुण होते हैं उसी प्रकार के रूप आदि उनसे उत्पन्न द्वचणुक में हुआ करते हैं। इसी प्रकार द्वचणुकों के रूप आदि से त्र्यणुक के रूप आदि, त्र्यणुकों के रूप आदि से चतुरणुकों के रूप आदि उत्पन्न हुआ करते हैं। इस तथ्य को **कार्यगता:—जायन्ते**, इस वाक्य द्वारा कहा गया है। यहाँ 'स्व' (अपना) शब्द से रूप आदि का ग्रहण होता है। रूप आदि के आश्रय जो द्वचणुक आदि हैं उनके समवायी कारण परमाणु आदि में होने वाले रूप आदि से द्वचणुक

इत्थमुत्पन्नस्य रूपादिमतः[1] कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयवेषु कपालादिषु नोदनादभिघाताद्वा क्रिया जायते। तया विभागस्तेनावयव्यारम्भकस्यासमवायिकारणीभूतस्य संयोगस्य नाशः क्रियते, ततः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयविनो नाशः। एतेनावयव्यारम्भकासमवायिकारणनाशेन[2] द्रव्यनाशो दर्शितः। क्वचित् समवायिकारणनाशेन द्रव्यनाशो यथा पूर्वोक्तस्यैव पृथिव्यादेः संहारे सञ्जिहीर्षोर्महेश्वरस्य सञ्जिहीर्षा जायते। ततो द्वचणुकारम्भकेषु परमाणुषु क्रिया, तया विभागः, ततस्तयोः संयोगनाशे सति द्वचणुकेषु नष्टेषु स्वाश्रयनाशात् त्र्यणुकादिनाशः। एवं क्रमेण पृथिव्यादिनाशः। यथा वा तन्तूनां नाशे पटनाशः।

के रूप आदि उत्पन्न होते हैं, यह भाव है। इसी कथन की पुष्टि के लिये वैशेषिक का सूत्र नियम (न्याय) के रूप में उद्धृत किया गया है—कारणगुणाः, इत्यादि। वहाँ कारण का अर्थ है समवायी कारण। समवायी कारण के गुण अपने कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं, यह अभिप्राय है। उदाहरणार्थ जब नील तन्तुओं से कोई वस्त्र (पट) बुना जाता है तो वहाँ तन्तुओं का जो नील रूप है, वह पट में भी नील रूप को उत्पन्न करता है। इस प्रकार सर्वत्र समवायी कारण के गुणों से कार्य में उनके समान गुण उत्पन्न हुआ करते हैं।

कार्यद्रव्यों के नाश की प्रक्रिया

(क) इस प्रकार उत्पन्न हुए रूप आदि से युक्त कार्यद्रव्य घट आदि के अवयव जो कपाल आदि हैं उनमें नोदन अथवा अभिघात से क्रिया उत्पन्न होती है। उस (क्रिया) से विभाग, उस (विभाग) से अवयवी (घट) के उत्पादक असमवायी कारण होने वाले (कपालों के) संयोग का नाश हो जाता है। उस (कपाल-संयोग के नाश) से घट आदि अवयवी का नाश हो जाता है। इस प्रकार अवयवी के उत्पादक असमवायी कारण का नाश होने पर (कार्य) द्रव्य का नाश दिखलाया गया है।

(ख) कभी समवायी कारण के नाश से द्रव्य का नाश होता है। जैसे उपर्युक्त पृथिवी आदि के संहार के समय (संहार से पहिले) संहार के इच्छुक महेश्वर को संहार की इच्छा (सञ्जिहीर्षा) होती है। उस (सञ्जिहीर्षा) से द्वचणुक के उत्पादक परमाणुओं में क्रिया होती है, उस (क्रिया) से विभाग होता है। उस (विभाग) से उन (दोनों परमाणुओं) के संयोग का नाश हो जाने पर, तथा द्वचणुकों के नष्ट हो जाने पर अपने (—स्व = त्र्यणुक) आश्रय का नाश हो जाने से त्र्यणुक आदि का नाश होता है। इस प्रकार क्रम से पृथिवी आदि का नाश हो जाता है। अथवा जैसे तन्तुओं का नाश होने पर पट का नाश हो जाता है।

१. इत्युत्पत्तिमतः कार्यद्रव्यस्य, इति पाठा०।
२. नाशे, इति पाठा०।
३. ततोऽणुषु, इति पाठा०।

'इत्थमुत्पन्नस्य' आदि में कार्यद्रव्यों के नाश की प्रक्रिया दिखलाई गई है। कार्यद्रव्य का नाश दो प्रकार से होता है—(क) असमवायी कारण के नाश से और (ख) समवायी कारण के नाश से। कार्यद्रव्य अवयवी के रूप में होता है उसके अवयव ही उसके समवायी कारण होते हैं। उन अवयवों का संयोग उसका असमवायी कारण होता है। (क) उस अवयव-संयोग का नाश हो जाने पर जो अवयवी (कार्यद्रव्य) का नाश हो जाता है वही असमवायी कारण के नाश से कार्यद्रव्य का नाश है। उदाहरणार्थ घट एक अवयवी है, उसके अवयव हैं कपाल (घट के भाग)। उन कपालों के परस्पर मिलने (संयोग) से घट बनता है कपाल-संयोग घट का असमवायी कारण है। यदि किसी प्रकार कपालों में क्रिया हो जाती है और उस क्रिया से वे कपाल विभक्त हो जाते हैं (विभाग) तो घट का असमवायी कारण जो कपाल-संयोग है वह नष्ट हो जाता है और घट भी नष्ट हो जाता है।

(ख) समवायी कारण के नाश से कार्यद्रव्य के नाश का उदाहरण है—तन्तुओं के नाश से होने वाला द्रव्य ना नाश। पट के समवायी कारण तन्तु हैं। यदि अग्नि से जलकर तन्तु ही नष्ट हो जायें तो पट कहाँ रहेगा? इसी प्रकार सर्वत्र समवायी कारण के नाश से कार्य द्रव्य का नाश हो जाता है।

पृथिवी आदि कार्यद्रव्य का नाश भी इसी प्रक्रिया से होता है। सृष्टि के संहार से पूर्व (संहारे=संहारपूर्वकाले) महेश्वर की सृष्टि का संहार करने की इच्छा (सञ्जिहीर्षा=संहर्तुम् इच्छा) होती है। इस इच्छा से प्रत्येक द्व्यणुक के उत्पादक जो दो-दो परमाणु हैं उन परमाणुओं में क्रिया हो जाती है। क्रिया से विभाग होता है और विभाग से दो परमाणुओं के संयोग का नाश हो जाता है। अतः द्व्यणुक का नाश हो जाता है। ऊपर कहा गया है कि तीन द्व्यणुकों से से त्र्यणुक बनता है, द्व्यणुक ही त्र्यणुक के समवायी कारण हैं अपने समवायी कारण (आश्रय) के नाश से त्र्यणुक भी नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार त्र्यणुक के नाश से चतुरणुक नष्ट हो जाते हैं और क्रमशः महती पृथिवी आदि भी नष्ट हो जाते हैं तथा सृष्टि का संहार हो जाता है। सृष्टि के नाश की इस प्रक्रिया में त्र्यणुक से लेकर पृथिवी आदि तक का नाश तो अपने समवायी कारण के नाश से होता है; किन्तु द्व्यणुक का नाश असमवायी कारण के नाश से होता है। द्व्यणुक का असमवायी कारण दो परमाणुओं का संयोग है। उसके नाश से द्व्यणुक का नाश हो जाता है। द्व्यणुक के समवायी कारण तो परमाणु हैं। वे नित्य हैं, उनका नाश नहीं होता।

टिप्पणी—(i) नोदन—प्रेरणा, दबाव, खिसकाना। विशेष प्रकार का संयोग ही नोदन (संयोगविशेष) है, जो गुरुत्व, द्रवत्व या प्रयत्न के निमित्त से होता है; जैसे पङ्क के ऊपर धीरे से रक्खा हुआ पत्थर का टुकड़ा क्रमश पङ्क के साथ नीचे चला जाता है। वहाँ पत्थर तथा पङ्क का संयोग नोदन है, जो गुरुत्व से उत्पन्न होता है। (ii) अभिघात—पटकना, वेगपूर्वक होने वाला संयोगविशेष (प्रश० पृ० ७२५

तद्गतानां रूपादीनां स्वाश्रयनाशेनैव नाशः। अन्यत्र तु सत्येवाश्रये विरोधिगुणप्रादुर्भावेण विनाशः। यथा पाकेन घटादौ रूपादिनाश इति।

---

७२६); जैसे मिट्टी के ढेले पर मुद्गर का प्रहार। (iii) स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगो नोदना, स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यसंयोगोऽभिघातः (गोवर्धन)।

कार्यगुण के नाश की प्रक्रिया

उपर्युक्त प्रकार से कार्यद्रव्य के नाश के दो प्रकार दिखलाकर अब कार्यगुण के नाश की प्रक्रिया दिखलाते हैं—

उन (कार्यद्रव्यों) में स्थित रूप आदि का अपने आश्रय का नाश हो जाने से तो नाश हो ही (नाशेन नाश एव) जाता है। कहीं आश्रय के विद्यमान रहने पर ही (=सति एव) विरोधी गुण की उत्पद्यमानता से (रूप आदि का) नाश हो जाता है। जैसे पाक (अग्निसंयोग) से घट आदि में रूप आदि का नाश हो जाया करता है।

रूप आदि गुण दो प्रकार के होते हैं नित्य तथा कार्य (अनित्य)। जो गुण कार्य-रूप हैं उनके नाश की भी दो प्रक्रियाएँ हैं (क) समवायी कारण के नाश से रूप आदि का नाश और (ख) विरोधी गुण के प्रादुर्भाव से रूप आदि का नाश। ये दोनों प्रकार **तद्गतानां · रूपादिनाशः** इस अवतरण में बतलाये गये हैं। (क) जब रूप आदि का आश्रय (=समवायी करण) जो द्रव्य होता है वह नष्ट हो जाता है तो अग्रिम क्षण में रूप आदि भी नष्ट हो जाते हैं। जैसे पट का नाश हो जाने से पट गत रूप का नाश हो जाता है। (ख) कभी रूप आदि गुण का आश्रय नष्ट नहीं होता, वह विद्यमान रहता है। किन्तु उस रूप आदि के विरोधी गुण के प्रादुर्भाव से रूप आदि का नाश हो जाता है। यहाँ-प्रादुर्भाव शब्द का अर्थ है उत्पद्यमानता। भाव यह है कि जब विरोधी गुण उत्पन्न होने को होता है, उसकी उत्पत्ति की सामग्री उपस्थित हो जाती है तो उसकी उत्प मानता की अवस्था होती है उसी से पूर्व रूप आदि का नाश होता है। उदाहरणार्थ जब पाक (अग्निसंयोग) के द्वारा घट आदि में श्याम रूप का विरोधी रक्त रूप उत्पन्न होने वाला होता है तो रक्त रूप की उत्पद्यमानता (प्रादुर्भाव) से श्याम रूप का नाश हो जाता है। यहाँ घट के विद्यमान रहते हुए ही विरोधी गुण के प्रादुर्भाव से पूर्व गुण का नाश होता है। यह कथन नैयायिक के पिठर-पाकवाद की दृष्टि से ही संगत है। वैशेषिक के पीलुपाकवाद के अनुसार तो यहाँ भी समवायी कारण के नाश से घट रूप का नाश कहा जा सकता है।

टिप्पणी=गुण के नाश के विषय में जो न्याय का मन्तव्य यहाँ दिया गया है शङ्कराचार्य ने उसका खण्डन किया है (शारीरक भाष्य २.२.१२)।

परमाणु की सत्ता में प्रमाण

उपर्युक्त प्रकार से सृष्टि तथा प्रलय का निरूपण तभी किया जा सकता है जब परमाणु की सत्ता सिद्ध हो जाये। अतः यहाँ प्रश्न तथा उत्तर के द्वारा परमाणु

किं पुन परमाणुसद्भावे प्रमाणम् ?

उच्यते, यदिदं जालसूर्यमरीचिस्थं सर्वतः सूक्ष्मतमं रज उपलभ्यते तत् स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धं कार्यद्रव्यत्वात् घटवत्। तच्च द्रव्यं कार्यमेव महद्द्रव्यारम्भकस्य कार्यत्वनियमात् । तदेवं द्व्यणुकाख्यं द्रव्यं[1] सिद्धम्। तदपि स्वल्पपरिमाणसमवायिकारणारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत् । यस्तु द्व्यणुकारम्भक स एव परमाणुः। स च नारब्ध एवेति ।

की सत्ता सिद्ध की जाती है। इस परमाणु-सिद्धि के दो अंश हैं (१) जो दृश्यमान सूक्ष्मतम द्रव्य (रजःकण) है उसका सबसे छोटा खण्ड परमाणु है। (२) उस परमाणु के अवयव नहीं होते।

फिर परमाणु के अस्तित्व में क्या प्रमाण है ?

बतलाते है। जो यह जाली की सूर्यकिरणों में स्थित सब (दृश्यमान पदार्थों) से सूक्ष्मतम धूलिकण (=रजः) दिखलाई देता है वह अपने से छोटे परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न हुआ है (प्रतिज्ञा); क्योंकि वह कार्यद्रव्य है (हेतु) जैसे, घट (उदाहरण)। वह (छोटे परिमाण वाला) द्रव्य भी कार्य ही है, क्योंकि यह नियम है कि महद् द्रव्य का आरम्भक (=समवायी कारण) कार्यद्रव्य ही होता हैं। इस प्रकार द्व्यणुक नामक द्रव्य सिद्ध हो जाता है। वह (द्व्यणुक) भी अपने से छोटे परिमाण वाले समवायी करण से उत्पन्न हुआ है (प्रतिज्ञा); क्योंकि वह कार्यद्रव्य है (हेतु), जैसे घट (उदाहरण)। जो प्रद्वणुक का आरम्भक है, वही परमाणु है। और, वह किसी से उत्पन्न न होने वाला (—अनारब्ध) ही है।

यहां परमाणु की सिद्धि के लिए दो अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं (द्र० अनुवाद)। प्रथम अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि त्र्यणुक के आरम्भक (= समवायी कारण) द्व्यणुक होते है और दूसरे अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जो द्व्यणुक के आरम्भक होते हैं वे ही परमाणु कहलाते हैं।

प्रथम अनुमान का सारांश यह है—जाली में सूर्य की किरणों के आने से छोटे छोटे रजःकण दिखलाई देते हैं, जो कि अन्य सभी दृश्यमान द्रव्यों से सूक्ष्म होते हैं (सर्वतः सूक्ष्मतमम्) वे रजः कण कार्यरूप हैं क्योंकि चक्षुः से दिखलाई देते हैं (चि०)। और, जिस प्रकार घट नामक कार्यद्रव्य अपने से छोटे परिमाण वाले कपाल आदि द्रव्यों से बनता है इसी प्रकार रजः कण नामक कार्यद्रव्य भी अपने से छोटे परिमाण वाले द्रव्यों से बना होगा, यह अनुमान किया जाता है। इस अनुमान से त्र्यणुक के आरम्भक उनसे छोटे द्रव्यों को सिद्धि होती है, वे ही द्व्यणुक कहलाते हैं।

१. द्रव्यान्तरम्, इति पाठा०।

ननु कार्यद्रव्यारम्भकस्य[1] कार्यद्रव्यत्वाव्यभिचाराद् तस्य कथमनारब्धत्वम्? उच्यते, अनन्तकार्यपरम्परादोषप्रसङ्गात्। तथा च सत्यनन्तद्रव्यारब्धत्वाविशषेण मेरुसर्षपयोरपि तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गः[2]। तस्मादनारब्ध एव परमाणुः।

अब प्रश्न यह है कि त्र्यणुक के आरम्भक को ही परमाणु क्यों नहीं मान लेते। उसके उत्तर में कहा गया है 'तच्च' इत्यादि। भाव यह है कि त्र्यणुक का आरम्भक द्रव्य कार्य ही हो सकता है। क्यों? त्र्यणुक चक्षु द्वारा गृहीत होता है अतः वह महत् परिमाण वाला है, यह निश्चित है। और, यह नियम है कि जो महत् परिमाण वाले द्रव्य के आरम्भक (=समवायी कारण) होते हैं वे कार्य द्रव्य ही होते हैं। फलतः त्र्यणुक के आरम्भक जो द्रव्य सिद्ध होते हैं, वे कार्यद्रव्य ही हैं, उन्हें द्व्यणुक कहते हैं। परमाणु तो कार्यद्रव्य नहीं, नित्य हैं अतः वे त्र्यणुक के आरम्भक नहीं हो सकते।

द्व्यणुक के जो आरम्भक हैं वे परमाणु कहलाते हैं। यह अभी बतलाया गया है कि द्व्यणुक एक कार्यद्रव्य है। इससे अनुमान किया जाता है कि वह अपने से छोटे परिमाण वाले द्रव्यों से बना है, जैसे घट। इस द्व्यणुक से छोटे परिमाण वाले परमाणु ही हैं। अतः द्व्यणुक के आरम्भक द्रव्य परमाणु हैं, यह सिद्ध होता है। न्या०-वै० का मन्तव्य है कि परमाणु किसी का कार्य नहीं होता अपि तु नित्य द्रव्य है।

परमाणु नित्य कैसे हैं? यह शङ्का तथा समाधान द्वारा सिद्ध करते हैं—

(शङ्का) वह (परमाणु) अनारब्ध (अनुत्पन्न) कैसे (माना जा सकता) है जब कि कार्यद्रव्य का आरम्भक कार्यद्रव्य ही होता है, यह नियम है?

(समाधान) बतलाते हैं। (यदि परमाणु को अनारब्ध = अनुत्पन्न न माना जाये तो) कार्य-परम्परा के अनन्त होने का दोष होने लगेगा। और वैसा (=कार्य परम्परा का आनन्त्य) होने पर मेरु (पर्वत) तथा सरसों का भी तुल्य परिमाण होने लगेगा; क्योंकि दोनों ही समान रूप से अनन्त द्रव्यों से उत्पन्न होने वाले होंगे। इस लिये परमाणु उत्पन्न होने वाला नहीं (अनारब्ध) है।

शङ्का का आशय यह है—न्या०-वै० में परमाणु को द्व्यणुक का आरम्भक माना जाता है। द्व्यणुक एक कार्यद्रव्य है। और नियम यह है कि जो कार्यद्रव्य का आरम्भक होता है वह कार्यद्रव्य ही होता है। अतः परमाणु भी एक कार्यद्रव्य ही होना चाहिये। फिर उसे अनारब्ध = उत्पन्न न होने वाला = नित्य कैसे कहा जा सकता है?

समाधान का अभिप्राय यह है—जो कार्यद्रव्य का आरम्भक होता है वह कार्यद्रव्य ही होता है, इस नियम को नहीं माना जा सकता; क्योंकि इस नियम के अनुसार किसी द्रव्य के अवयव कार्य रूप होंगे, फिर उन अवयवों के अवयव भी कार्य रूप होंगे और इस प्रकार इस कार्य-परम्परा का कहीं अन्त न होगा तथा अनवस्था हो

---

१. कार्यतया व्यभिचारात्, इति पाठ०।

२. ० प्रसङ्गात्' इति पाठा०।

द्व्यणुकं तु द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यामारभ्यते । एकस्यानारम्भकत्वात्, त्र्यादिकल्पनायां प्रमाणाभावात् । त्र्यणुकं तु त्रिभिरेव द्व्यणुकैरारभ्यते । एकस्यानारम्भकत्वात् । द्वाभ्यामारम्भे [1]कार्यगतमहत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गात् । कार्ये हि महत्त्वं कारणमहत्त्वाद्वा कारणबहुत्वाद्वा । तत्र प्रथमस्यासम्भवाच्चरममेषितव्यम् । न च चतुरादिकल्पनायां प्रमाणमस्ति त्रिभिरेव महत्त्वारम्भोपपत्तेरिति ।

जायेगी । यदि कहो कि प्रामाणिकी अनवस्था तो माननी ही पड़ेगी, इसके उत्तर में कहा गया है तथा च सति इत्यादि । भाव यह है कि यदि प्रत्येक कार्य-द्रव्य के अनन्त अवयव होंगे तो मेरु पर्वत जैसे विशालतम अवयवी के भी अनन्त अवयव होंगे तथा सरसों के छोटे दाने के भी अनन्त अवयव होंगे । इस प्रकार दोनों का तुल्य परिमाण होने लगेगा, क्योंकि दोनों के अनन्त अवयव हैं । इसलिये परमाणु को कार्यद्रव्य सिद्ध करने के लिये जो अनुमान दिया गया है उसमें प्रतिकूल तर्क बाधक है । फलतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि अवयव-धारा का कहीं विश्राम हो जाता है अर्थात् किसी अवयव (खण्ड) के आगे और खण्ड नहीं हो सकते । वह अन्तिम अवयव ही परमाणु कहलाता है, वह नित्य है । अब मेरु जैसी विशाल वस्तु अधिक संख्या वाले परमाणुओं से बनी है और सरसों का दाना न्यून संख्या के परमाणुओं से बना है अतः दोनों के परिमाण में भेद है ।

टिप्पणी—परमाणु-सिद्धि के लिये द्रष्टव्य न्यायकन्दली पृ० ७६ तथा आगे, न्यायसूत्र तथा भाष्य ४·२·१७, न्यायमुक्तावली का० ३६–३७ ।

सृष्टि की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में कहा गया है कि दो परमाणुओं से द्व्यणुक बनता है तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक बनता है तथा क्रम से चतुरणुक आदि की उत्पत्ति होते हुए पृथिवी आदि महाभूतों की उत्पत्ति हो जाती है । इस पर प्रश्न यह है कि ऐसा मानने में क्या युक्ति है । इसके उत्तर में कहा गया है—

द्व्यणुक तो दो परमाणुओं से ही उत्पन्न होता है क्योंकि एक (परमाणु) आरम्भक नहीं होता तथा तीन आदि (परमाणुओं से द्व्यणुक बनता है, इस प्रकार) की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है; त्र्यणुक तो तीन द्व्यणुकों से ही उत्पन्न होता है; क्योंकि एक आरम्भक नहीं होता और यदि दो (द्व्यणुकों) से (त्र्यणुक की) उत्पत्ति मानें (=आरम्भे) तो कार्य (त्र्यणुक) में महत्त्व (परिमाण) न हो सकेगा; क्योंकि कारण के महत्त्व अथवा कारण के बहुत्व से ही कार्य में महत्त्व (महत् परिमाण) हुआ करता है । यहाँ (त्र्यणुक के महत् परिमाण के विषय में) इसमें से पहला (कारण) संभव नहीं है अतः अन्तिम ही मानना होगा । और चार आदि द्व्यणुकों को (त्र्यणुक का कारण) मानने में कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि तीन (द्व्यणुकों) से महत् परिमाण की उत्पत्ति हो जाती है ।

---

१. कार्यगुण०, इति पाठा० ।

दो परमाणु से हो द्व्यणुक बनता है, इस नियम का आधार यह है—यदि दो परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति न मानी जाये तो दो विकल्प शेष रहते हैं (क) एक परमाणु से द्व्यणुक की उत्पत्ति हुआ करे या (ख) तीन या अधिक परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति हुआ करे। इनमें से प्रथम विकल्प युक्तिसंगत नहीं। क्यों? एक परमाणु किसी कार्य का आरम्भ नहीं हो सकता। यदि एक ही परमाणु कार्य की उत्पत्ति में समर्थ हो जाये तो कार्य सदा ही होता रहे; क्योंकि परमाणु तो नित्य है और, उसे किसी दूसरे की अपेक्षा न होगी। किञ्च, इस प्रकार कार्य नित्य भी होने लगेगा, जो अभीष्ट नहीं है। अतः एक परमाणु को किसी कार्य का आरम्भक नहीं माना जा सकता। दूसरा विकल्प भी युक्तियुक्त नहीं। बात यह है कि जब दो अणुओं से ही द्व्यणुक बन सकता है फिर तीन या अधिक परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति मानने में क्या प्रमाण है? और अप्रामाणिक अर्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः दो परमाणुओं से ही द्व्यणुक बनता है यही मानना युक्तिसंगत है।

इसी प्रकार यह भी नियम है कि तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक बनता है। यदि इस नियम को न मानें तो (क) एक द्व्यणुक से त्र्यणुक की उत्पत्ति माननी होगी या (ख) दो द्व्यणुकों से अथवा (ग) चार, पांच आदि द्व्यणुकों से। इसमें प्रथम विकल्प ठीक नहीं; क्योंकि अभी कहा गया है एक कारण किसी कार्य का आरम्भक नहीं होता। द्वितीय विकल्प भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि यदि दो द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानी जाये तो त्र्यणुक (कार्य) में महत् परिमाण (महत्त्व) न उत्पन्न हुआ करेगा। न्या०-वै० के मन्तव्य के अनुसार महत्त्व की उत्पत्ति के दो कारण हैं एक कारण-महत्त्व और दूसरा कारण-बहुत्व। भाव यह है कि किसी कार्य में महत् परिमाण तब उत्पन्न हो सकता है जब या तो उसके कारणों में महत् परिमाण हो अथवा उसके कारणों में बहुत्व संख्या हो अर्थात् वे कारण दो से अधिक हों। यदि दो द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानी जाये तो इन दोनों में से कोई भी कारण विद्यमान न होगा। क्यों? त्र्यणुक का कारण द्व्यणुक है वह अणु परिमाण वाला है अतः प्रथम कारण (कारण-महत्त्व) यहाँ नहीं है। किञ्च, द्व्यणुक दो हैं। अतः कारण-बहुत्व भी नहीं हो सकता। इस प्रकार त्र्यणुक में महत् परिमाण ही उत्पन्न न होगा। किन्तु त्र्यणुक महत् परिमाण वाला है, यह कहा जा चुका है। फलतः दो द्व्यणुकों से त्र्यणुक होता है, यह मानना ठीक नहीं।

न्या०-वै० सिद्धान्त के अनुसार तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। अतः कारण-बहुत्व से ही त्र्यणुक में महत् परिमाण उत्पन्न हो जाता है। और, जब तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानने से ही यह मन्तव्य युक्तिसंगत हो जाता है, तो चार या पांच द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मनाने में कोई युक्ति या प्रमाण नहीं है। किञ्च, इस प्रकार का कोई नियामक भी नहीं है कि चार द्व्यणुकों से ही या पांच द्व्यणुकों से ही त्र्यणुक की उत्पत्ति होगी, अधिक या न्यून से नहीं। अतः तीन द्व्यणुकों से ही त्र्यणुक की उत्पति होती है, यही मानना युक्तियुक्त है।

शब्दगुणमाकाशम् । शब्द-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवत् । एकं विभु नित्यञ्च । शब्दलिङ्गकञ्च[1] । शब्दलिङ्गकत्वमस्य कथं ? परिशेषात्[2] । 'प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः'[3] । तथाहि शब्दस्तावद् विशेषगुणः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वाद् रूपादिवत् । गुणश्च गुण्याश्रित[4] एव । न चास्य पृथिव्यादिचतुष्टयमात्मा च गुणी भवितुमर्हति, श्रोत्रग्राह्यत्वाच्छब्दस्य । ये हि पृथिव्यादीनां गुणा न ते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यन्ते, यथा रूपादयः, शब्दस्तु श्रोत्रेण गृह्यते । न दिक्कालमनसां गुणो विशेषगुणत्वात् । अत एभ्योऽष्टभ्योऽतिरिक्त शब्दगुणी एषितव्यः, स एवाकाश इति । स चैको, भेदे प्रमाणाभावात्, एकत्वेनैवोपपत्ते । एकत्वाच्चाकाशत्वं नाम

इस प्रकार पृथिवी आदि की उत्पत्ति के प्रसङ्ग से सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय तथा परमाणु आदि का निरूपण करके क्रमप्राप्त आकाश का निरूपण करते हैं—

(v) आकाश

जिसमें शब्द गुण है वह आकाश है । वह शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग (इन ६ गुणों से युक्त) है । वह एक है, व्यापक (=विभु) है तथा नित्य है और उसका अनुमापक शब्द है (शब्दः लिङ्गं यस्य तत् शब्दलिङ्गकम् = शब्द है लिङ्ग जिसका ऐसा) आकाश शब्दलिङ्गक कैसे है ? परिशेष (अनुमान) से । परिशेष (अनुमान) वह है जहाँ प्राप्त (पदार्थों) का प्रतिषेध कर देने पर अन्य किसी की प्राप्ति (=प्रसङ्ग) न होने से शेष रहने वाले (पदार्थ) में प्रतीति (=संप्रत्ययः, अनुमिति) हो जाती है । जैसे कि (आकाश की सिद्धि में परिशेषानुमान यह है) प्रथम तो शब्द विशेष गुण है (प्रतिज्ञा); क्योंकि वह सामान्य-युक्त होकर हमारी एक बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य है (हेतु), जैसे रूप आदि (उदाहरण) । और, जो गुण है वह गुणी के आश्रित ही रहता है । पृथिवी आदि चार तथा आत्मा इस (शब्द) के आश्रय (गुणी) नहीं हो सकते; क्योंकि शब्द का श्रोत्र द्वारा ग्रहण होता है । जो पृथिवी आदि के गुण हैं वे श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा गृहीत नहीं हुआ करते; जैसे रूप आदि हैं । किन्तु शब्द तो श्रोत्र से गृहीत होता है । (यह शब्द) दिशा, काल तथा मन का गुण भी नहीं; क्योंकि विशेष गुण है (दिशा आदि में तो कोई विशेष गुण नहीं रहा करता) । इसलिये इन आठों से भिन्न शब्द (नामक गुण) का गुणी मानना होगा, वही आकाश है । वह (आकाश) एक है, क्योंकि उसके अनेक होने (भेद) में कोई प्रमाण नहीं है तथा एक होने से ही सब युक्तियुक्त हो जाता है (उपपत्तेः) । और एक होने के कारण ही आकाशत्व नामक सामान्य (जाति) भी आकाश में नहीं होती । क्योंकि सामान्य तो

१. शब्दलिङ्ग च, इति पाठा० ।
२. पारिशेष्यात् इति पाठा० ।
३. प्रसक्त···परिशेषः, इति क्वचिन्नास्ति ।
४. गुणनिष्ठ इति पाठा० ।

सामान्यमाकाशे न विद्यते सामान्यस्यानेकवृत्तित्वात् । विभु चाकाशं परममहत्परिमाणवदित्यर्थः, सर्वत्र तत्कार्योपलब्धेः । अतएव विभुत्वान्नित्यमिति ।

अनेकों में रहने वाली होती है । किञ्च आकाश व्यापक है, परममहत् परिमाण वाला है, यह अर्थ है; क्योंकि सर्वत्र (उसका) कार्य उपलब्ध होता है । इसलिये विभु होने से वह नित्य है ।

आकाश का विशेष गुण शब्द है । संख्या आदि पाँच सामान्य गुण हैं आकाश का लक्षण है 'शब्दगुणम्' । शब्द उसका असाधारण धर्म है । आकाश के विषय में यहाँ चार बातें बतलाई गई हैं, जिनकी आगे व्याख्या की गई है—

(क) आकाश एक है—अनेक आकाश मानने में कोई प्रमाण नहीं है । इसलिये आकाश एक है । इस पर शङ्का हो सकती है कि शब्द तीव्र है, तीव्रतर है, तीव्रतम है' इत्यादि के रूप में जो शब्दों का भेद जाना जाता है उससे ही आकाश के भेद प्रतीत होते हैं, क्योंकि कारण-भेद से ही कार्य-भेद हुआ करता है । इसके समाधान के लिये कहा गया है एकत्वेनैवोपपत्तेः । भाव यह है कि एक आकाश से ही आकाश-सम्बन्धी समस्त व्यवहार बन जाते हैं अतः अनेक आकाश नहीं माने जा सकते । शब्द में जो तीव्र-तीव्रतर आदि के भेद देखे जाते हैं उनसे भी आकाश का भेद सिद्ध नहीं होता; क्योंकि शब्द के उत्पादक जो अभिघात (संयोगविशेष) आदि हैं उनके भेद से शब्द में तीव्रता आदि का भेद हो जाया करता है । जब आकाश एक है तो उसमें रहने वाली आकाशत्व नाम की जाति भी नहीं हो सकती । क्यों ? सामान्य या जाति तो वह धर्म है जो नित्य है तथा अनेकों में रहता है–'नित्यत्वे सति, अनेकसमवेतत्वम्'–उदाहरणार्थ अनेक घटों में रहने वाला जो नित्य घटत्व है वह जाति या सामान्य कहलाता है । आकाशत्व जो धर्म है वह नित्य तो है किन्तु अनेकों में नहीं रहता; अत वह जाति नहीं । 'आकाशत्व' आदि को न्या०-वै० में उपाधि कहते हैं ।

(ख) आकाश विभु है—वह व्यापक है, समस्त भूत द्रव्यों के साथ संयुक्त रहता है अथवा कहिये परममहत् परिमाण वाला है । इसमें हेतु दिया गया है सर्वत्र कार्योपलब्धेः । आकाश शब्द का समवायी कारण है । शब्द उसका कार्य है । वह शब्द सर्वत्र उपलब्ध होता है, एक काल में ही विविध स्थानों पर शब्दों की उपलब्धि हुआ करती है । यह तभी सम्भव है जब शब्द का आश्रय सर्वत्र विद्यमान हो; क्योंकि गुणी के बिना गुण नहीं रह सकता । इससे अनुमान किया जाता है कि शब्द का आश्रय सर्वत्र है । किन्तु यह एक है अतः विभु है । इस प्रकार आकाश के विभुत्व में हेतु है एकत्वे सति सर्वत्र कार्योपलब्धेः ।

(ग) आकाश नित्य है—इसमें हेतु है विभुत्वात्=विभु होने से । जो विभु द्रव्य हैं वे नित्य होते हैं; जैसे आत्मा है ।

(घ) आकाश शब्दलिङ्गक है—आकाश का प्रत्यक्ष तो होता नहीं । फिर उसकी

सत्ता में क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में कहा गया है शब्दलिङ्गं च। शब्द नामक लिङ्ग के द्वारा आकाश का अनुमान किया जाता है। आकाश की सिद्धि के लिये जो अनुमान दिया गया है वह न्या० वै० में परिशेषानुमान के नाम से प्रसिद्ध है परिशेषा-नुमान क्या है ? यह 'प्रसक्तप्रतिषेध' इत्यादि न्यायभाष्य (१.१.५) के वचन द्वारा बतलाया गया है (द्र० अनुवाद)। इस अनुमान के तीन अङ्ग होते हैं—(क) जो प्रसक्त (प्राप्त) होते हैं, उनका प्रतिषेध कर दिया जाता है (प्रसक्तप्रतिषेधे), (ख) प्राप्त से भिन्न पदार्थों में यह दिखला दिया जाता है कि वहाँ प्रसङ्ग (प्राप्ति) ही नहीं है, (ग) जो शेष रहता है उसमें होने का निश्चय किया जाता है (शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः)। यहाँ शब्द नामक गुण के आश्रय का अनुमान करना है। अनुमान का प्रयोग होगा—शब्द कहीं आश्रित है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह गुण है (हेतु), जैसे रूप (उदाहरण)। (क) यहाँ शब्द के आश्रयरूप में पृथिवी आदि आठ द्रव्य प्राप्त (प्रसक्त) होते हैं (आकाश तो अभी साध्य ही है अतः वह प्रसक्त नहीं होता)। अतः पृथिवी आदि आठों शब्द के आश्रय नहीं हो सकते, यह दिखलाना प्रसक्तप्रतिषेध है। यह प्रतिषेध दो अनुमानों द्वारा किया गया है। प्रथम अनुमान है—शब्द पृथिवी-जल-तेज-वायु तथा आत्मा का गुण नहीं (प्रतिज्ञा), क्योंकि शब्द श्रोत्रग्राह्य है (हेतु); जो पृथिवी आदि के गुण होते हैं वे श्रोत्रग्राह्य नहीं होते (व्यतिरेकी उदाहरण)।

दूसरा अनुमान है—दिशा-काल तथा मन का गुण नहीं (प्रतिज्ञा), क्योंकि यह विशेषगुण है (हेतु), जैसे रूप आदि (अन्वयी उदाहरण)। शब्द विशेषगुण है इसकी सिद्धि के लिये भी 'शब्दस्तावद् विशेषगुणः' इत्यादि अनुमान प्रस्तुत किया गया है (द्र० अनुवाद)।

इस प्रकार दो अनुमानों द्वारा प्रसक्त-प्रतिषेध किया गया है (ख) गुण कर्म आदि में शब्द का आश्रय होना प्राप्त नहीं। प्रश्न ही नहीं उठता कि गुण, कर्म आदि में शब्द रह सकता है; क्योंकि गुण आदि में गुण नहीं रहा करते। यही अन्यत्र अप्रसङ्ग है। (ग) अब शब्द के आश्रय के रूप में जिस द्रव्य का अनुमान किया जाता है, वह आठों द्रव्यों से अतिरिक्त कोई नवम द्रव्य है, उसका नाम आकाश है (परिशिष्यमाणे सम्प्रत्ययः)। इस प्रकार परिशेषानुमान से आकाश की सिद्धि की जाती है।

टिप्पणी—(i) केवल एक व्यक्ति में रहने वाला धर्म जाति नहीं माना जाता। इस विषय में उदयनाचार्य की यह कारिका भी है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥

(ii) ऊपर आत्मा की सिद्धि के लिये भी परिशेषानुमान प्रस्तुत किया गया है। वहाँ बुद्धि आदि को विशेषगुण सिद्ध करने के लिये 'गुणत्वे सति, एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' यह हेतु दिया गया है। यह चिन्तनीय है कि दोनों स्थलों पर हेतु के रूप में अन्तर किस आधार पर किया गया है।

कालोऽपि दिग्विरीतपरत्वापरत्वानुमेयः । संख्या-परिमाण-पृथक्त्व संयोग-विभागवान् । एको नित्यो विभुश्च । कथमस्य दिग्विपरीतपरत्वा[1] परत्वानुमेयत्वम् । उच्यते सन्निहिते वृद्धे सन्निधानादपरत्वार्हे तद्विपरीतं परत्वं प्रतीयते व्यवहिते यूनि व्यवधानात् परत्वार्हे तद्विपरीतमपरत्वम् । तदिदं[2] तत्तद्विपरीतपरत्वमपरत्वञ्च कार्यं तत्कारणस्य दिगादेरसम्भवात् कालमेव कारणमनुमापयति । स चैकोऽपि वर्तमानातीतभविष्यत्क्रियोपाधि-वशाद् वर्तमाना-देशं लभते । पुरुष इव पच्यादिक्रियोपाधिवशात् पाचक-पाठकादिव्यपदेशम् । नित्यत्वविभुत्वे चास्य पूर्ववत् ।

(iv) काल

दिशा (के परत्व-अपरत्व) से भिन्न परत्व अपरत्व द्वारा काल का अनुमान किया जाता है । वह संख्या, परिमाण-पृथक्त्व, संयोग, विभाग (इन पाँच गुणों) वाला है, एक, नित्य तथा विभु है । उसका दिशा से विपरीत परत्व-अपरत्व द्वारा कैसे अनुमान किया जाता है ? बतलाते हैं । समीप स्थित वृद्ध में, जो समीपता के कारण (दैशिक) अपरत्व के योग्य है, उस (अपरत्व) के विपरीत परत्व प्रतीत होता है । इसी प्रकार दूरस्थित युवक में, जो दूरी के कारण (दैशिक) परत्व के योग्य है, उस (परत्व) के विपरीत अपरत्व प्रतीत होता है । उस (दैशिक अपरत्व तथा परत्व) के विपरीत जो यह (तदिदम्) परत्व तथा अपरत्व है, वह कार्य है । उसका कारण दिशा आदि तो हो नही सकते अतः वह अपने कारण के रूप में काल का ही अनुमान कराता है । और, वह (काल) एक है तथापि वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् क्रिया की उपाधि के निमित्त से वर्तमान आदि व्यवहार (=व्यपदेश) को प्राप्त होता है । जिस प्रकार कोई पुरुष पकाना, (पचि) आदि क्रिया की उपाधि से पाचक, पाठक आदि व्यवहार को प्राप्त होता है इस (काल) की नित्यता और विभुता पहिले (आकाश) के समान ही हैं ।

आगे बतलाया जायेगा कि परत्व तथा अपरत्व तो गुण हैं । ये सामान्य-गुण हैं । परत्व और अपरत्व दो प्रकार के होते हैं एक दिशा-सम्बन्धी (दैशिक) और दूसरे काल-सम्बन्धी (कालिक) । कुरुक्षेत्र से पानीपत की अपेक्षा दिल्ली पर (परे) है तथा कुरुक्षेत्र से दिल्ली की अपेक्षा पानीपत अपर है, इत्यादि व्यवहार में दैशिक (देशकृत=स्थानकृत) परत्व और अपरत्व का भान होता है । समीप स्थित वस्तु में दैशिक अपरत्व होता है तथा दूर स्थित वस्तु में दैशिक परत्व । परन्तु जब किसी युवक की अपेक्षा समीप में स्थित वृद्धजन के विषय में हम कहते हैं कि "यह वृद्ध, उस युवक की अपेक्षा पर (बड़ा) है और युवक वृद्ध की अपेक्षा अपर (छोटा) है" तो वहाँ ये परत्व तथा अपरत्व दैशिक परत्व-अपरत्व के विपरीत होते हैं (दिग्विपरीत

१. दिक्कृतविपरीतं, इति पाठा० ।

२. सद्, इति पाठा० ।

दिग्[1] एका नित्या विभ्वी च। संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-गुणवती। सा च[2] पूर्वादिप्रत्ययैरनुमेया; तेषामन्यनिमित्तासम्भवाद्। पूर्वस्मिन् पश्चिमे वा[3] देशे स्थितस्य वस्तुनस्तादवस्थ्यात्। सा चैकापि सवितुस्तत्तद्देशसंयोगोपाधिवशात् प्राच्यादिसंज्ञां लभते।

परत्वापरत्व=दिक्कृत परत्व-अपरत्व के विपरीत परत्व तथा अपरत्व) इस प्रकार के परत्व तथा अपरत्व का निमित्त दिशा नहीं हो सकती। इस ? परत्व-अपरत्व के आधार पर ही काल का अनुमान किया जाता है। कैसे ? परत्व-अपरत्व कार्य हैं। प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है अतः उपर्युक्त परत्व तथा अपरत्व का भी कोई कारण है, वही काल है। काल को एक, नित्य तथा विभु (व्यापक) माना गया है। उसके जो वर्तमान आदि भेद हैं तथा जो क्षण, घण्टा, दिन आदि के भेद हैं वे सभी औपाधिक हैं; जैसे सूर्योदय से सूर्यास्त तक का समय दिन कहलाता है इत्यादि (मि० परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः, न्या० मु०, का० ४५)।

(vii) दिशा (दिक्)

दिशा एक, नित्य तथा विभु है। वह संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग (५ गुणों) वाली है। पूर्व आदि प्रतीति से उसका अनुमान किया जाता है; क्योंकि उन (पूर्व आदि प्रतीतियों) का अन्य निमित्त नहीं हो सकता, पूर्व या पश्चिम देश में स्थित वस्तु तो उस (एक) ही अवस्था में रहती है। यह दिशा एक है तथापि सूर्य के भिन्न-भिन्न (तत् तत्=उस उस) के साथ संयोग के निमित्त से 'पूर्व आदि संज्ञा को प्राप्त होती है।

हम एक स्थान पर बैठकर 'अमुक स्थान इससे पूर्व में है, अमुक स्थान पश्चिम में है' इत्यादि के रूप में अनुभव किया करते हैं। यह जो पूर्व आदि की प्रतीति (= अनुभव) है यह कार्य है, किसी कारण से उत्पन्न होने वाली है। अतः इसका कोई कारण होना चाहिये, वही दिशा है। इस प्रकार तर्कभाषाकार के अनुसार पूर्व आदि की प्रतीति से दिशा का अनुमान किया जाता है। अनुमान का आधार होगा—पूर्व आदि की प्रतीति का कोई कारण है, क्योंकि यह कार्य है, अन्य कार्यों के समान। इस अनुमान से केवल किसी कारण की सिद्धि होती है। किन्तु पृथिवी आदि आठों द्रव्य इस प्रतीति का कारण नहीं हो सकते। परिशेषात् इस प्रतीति का निमित्त पृथिवी आदि के अतिरिक्त कोई द्रव्य है, वही दिशा है।

यह दिशा एक है, नित्य है तथा विभु है। दिशा एक होने पर भी भिन्न-भिन्न देश (स्थान) के साथ सूर्य का संयोग होने से पूर्व आदि संज्ञाएँ हो जाती हैं। यहाँ सूर्य तथा दिक्प्रदेशों का जो संयोग है वही 'प्राची' (पूर्व) आदि संज्ञाओं का

१. कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिग् एका०, इत्यपि पाठः।
२. सा च, इति क्वचिन्नास्ति।
३. देशे स्थितस्य, इति क्वचिन्नास्ति।

आत्मत्वाभिसम्बन्धवान् आत्मा । सुखदुःखादिवैचित्र्यात् 'प्रतिशरीरं भिन्नः । स चोक्त एव । तस्य [2]सामान्यगुणाः संख्यादयः पञ्च, बुद्ध्यादयो नव विशेषगुणाः । नित्यत्व-विभुत्वे पूर्ववत् ।

मनस्त्वाभिसम्बन्धवन्मनः । अणु, संयोगि[3], अन्तरिन्द्रियम् सुखाद्युपलब्धिकरणं नित्यञ्च । संख्याद्यष्टगुणवत् । तत्संयोगेन बाह्येन्द्रियम् अर्थ-ग्राहकम् । अतएव सर्वोपलब्धिसाधनम् । तच्च न प्रत्यक्षम् अपि त्वनुमान-गम्यम् । तथाहि सुखाद्युपलब्धयश्चक्षुराद्यतिरिक्तकरणसाध्याः, असत्स्वपि

निमित्त (उपाधि) होता है; जैसे जिस दिशा में सूर्य का प्रथम संयोग होता है वह प्राची कहलाती है । इसी प्रकार प्रतीची (पश्चिम) आदि संज्ञाएँ भी हैं ।

टिप्पणी—अधिकांश पुस्तकों में दिक्-निरूपण के आरम्भ में 'कालविपरीत-परत्वापरत्वानुमेया' यह पाठ है । किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि (i) इस प्रकार दिशा और काल के अनुमान अन्योन्याश्रित हो जायेंगे, (ii) 'पूर्व' आदि की प्रतीति से ही जब आगे दिशा का अनुमान दिखलाया जा रहा है तो उसके लिये दूसरा अनुमान अनावश्यक है ।

(viii) आत्मा

आत्मत्व (जाति) के (समवाय) सम्बन्ध वाला आत्मा है । वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होता है; क्योंकि (प्रत्येक व्यक्ति में) सुख-दुःख आदि का भेद हुआ करता है । उस (आत्मा) का निरूपण किया ही जा सकता है । संख्या आदि पाँच उसके सामान्य गुण हैं तथा बुद्धि आदि नव विशेष गुण है । उसकी नित्यता तथा विभुता पहिले (आकाश) के समान ही हैं ।

टिप्पणी—ऊपर (पृ० १७५—१८२) आत्मा का विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है ।

(ix) मन

मनस्त्व (जाति) के (समवाय) सम्बन्ध वाला मन है । वह अणु परिमाण वाला तथा संयोग युक्त आन्तरिक इन्द्रिय है । सुख आदि की उपलब्धि का करण होता है, नित्य है । संख्या आदि आठ (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, संस्कार) गुणों वाला है । उस (मन) के संयोग से बाह्य इन्द्रिय अर्थ (=विषय का ग्रहण करती हैं । इसीलिये वह सब (विषयों) की उपलब्धि का साधन है । उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, वह अनुमान से जाना जाता है । जैसे कि (अनुमान है) सुख आदि का अनुभव चक्षु आदि से भिन्न (किसी) करण द्वारा किया जाता (=साध्य) है

१. नानाभूत एव, इति पाठा० ।

२. सामान्य०, इति क्वाचिन्नास्ति ।

३. आत्मसंयोगि, इति पाठा० ।

चक्षुरादिषु जायमानत्वात् । [1]यद्वस्तु यद्विनैवोत्पद्यते तत् तदतिरिक्तकरण-साध्यं, यथा कुठारं विनोत्पद्यमाना पचनक्रिया तदतिरिक्तवह्न्यादिकरण-साध्या । यच्च करणं तन्मनः । [2]तच्च चक्षुराद्यतिरिक्तम् । तच्चाणुपरि-माणम् ।

इति द्रव्याण्युक्तानि ।

(प्रतिज्ञा); क्योंकि चक्षु आदि के न होने पर भी हुआ करता है (हेतु), जो वस्तु जिस के विना ही उत्पन्न हो जाती है वह उससे भिन्न करण द्वारा साध्य होती है जैसे पाक क्रिया कुठार के बिना उत्पन्न हो जाती है', वह उस (कुठार) से भिन्न अग्नि आदि करण द्वारा सिद्ध होती है (उदाहरण) । और (सुख आदि का) जो करण है वह मन है । वह चक्षु आदि से भिन्न है और वह अणु परिमाण वाला है ।

इस प्रकार द्रव्यों का निरूपण किया गया ।

मन के विषय में ऊपर प्रमेय के सन्दर्भ में भी बतलाया गया है । यहाँ द्रव्य के सन्दर्भ में मन का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है । वैशेषिक के पदार्थों का न्याय के पदार्थों के साथ समन्वय करने के कारण यहाँ आत्मा तथा मन आदि के निरूपण में पुनरुक्ति का प्रसङ्ग आ गया है ।

मन का लक्षण है—जिसमें मनस्त्व जाति रहती है वह मन है । वह अणु अर्थात् अणु परिमाण वाला है यह ऊपर दिखलाया जा चुका है । यदि उसे मध्यम परिमाण वाला माना जाये तो वह अनित्य होने लगेगा । और, यदि विभु माना जाये तो एक साथ ही चक्षु तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों से अनेक ज्ञान होने लगेंगे ।

मन संयोग सम्बन्ध वाला है (संयोगि) । चिन्नंभट्ट के अनुसार इसका अभिप्राय यह है—स्वर्ग या नरक को प्राप्त होने वाले जीव का मन वहाँ भी अतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर से संयुक्त होकर ही संचरण करता है । (शरीर के बिना तो मन दूर जा नहीं सकता) वहाँ जाकर अपने कर्माशय के अनुरूप दूसरे शरीर से संयुक्त हो जाता है । इस प्रकार शरीर संयुक्त ही मन स्थानान्तर में जाता है । इसी अभिप्राय से कहा गया है, 'संयोगि' । किन्हीं पुस्तकों में 'आत्मसंयोगि' पाठ है । उसका अर्थ है आत्मा से संयुक्त ।

मन नित्य है; क्योंकि अवयवरहित द्रव्य है । वह आन्तरिक इन्द्रिय या अन्तः-करण है । सुख आदि की उपलब्धि का करण मन है । यद्यपि बाह्येन्द्रिय भी मन के संयोग से ही अपने विषयों का ग्रहण करती हैं फिर भी रूप आदि के प्रत्यक्ष में मन करण नहीं होता, निमित्त (कारणमात्र) होता है । मन के बिना बाह्य इन्द्रिय किसी

---

१. यद्वस्तु···साध्या, इति क्वचिन्नास्ति ।

२. तच्च···रिक्तम्, इति क्वचिन्नास्ति ।

[गुणाः]

'अथ गुणा उच्यन्ते। सामान्यमान् असमवायिकारणं अस्पन्दात्मा गुणः। स च द्रव्याश्रित एव। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार-भेदाच्चतुर्विंशतिधा[2]।

विषय (अर्थ) का ग्रहण नहीं कर सकती। इसलिये मन को समस्त विषयों की उपलब्धि का साधन (कारण) माना जाता है।

मन की सत्ता में क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में कहा गया है तच्च न प्रत्यक्षम् इत्यादि। मन का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं होता; क्योंकि वह रूप रहित द्रव्य है तथा उसमें महत् परिमाण नहीं है। मन की सत्ता में अनुमान ही प्रमाण है। व्याप्ति यह है कि जो वस्तु जिसके बिना उत्पन्न हो जाती है वह उससे भिन्न करण द्वारा उत्पन्न हुआ करती है। उदाहरणार्थ कुठार (कुल्हाड़े) के न होने पर भी पाक क्रिया हो जाती है वह पाक क्रिया कुठार से भिन्न अग्नि आदि के द्वारा साध्य होती है। प्रकृत में हम देखते हैं कि चक्षु आदि के न होने पर भी सुख आदि की उपलब्धि हुआ करती है। अतः यह सुख आदि की उपलब्धि चक्षु आदि से भिन्न किसी करण द्वारा साध्य होनी चाहिये सुख आदि की उपलब्धि का जो करण है, वही मन है।

(२) गुणों का निरूपण

अब गुणों का निरूपण करते हैं। सामान्य से युक्त, असमवायी कारण होने वाला, कर्म स्वरूप न होने वाला गुण (कहलाता) है: वह द्रव्य के आश्रित ही रहा करता है। वह रूप आदि के भेद से २४ (चौबीस) प्रकार का है।

गुण के लक्षण में तीन पद हैं। यहाँ सामान्यवान् यह पद रखने से सामान्य विशेष तथा समवाय में गुण का लक्षण नहीं जाता, क्योंकि उनमें सामान्य (=जाति) नहीं रहा करती। 'असमवायिकारणम्', यह पद रखने से द्रव्य में यह लक्षण नहीं जाता क्योंकि द्रव्य तो समवायी कारण हुआ करता है। 'अस्पन्दात्मा' यह पद रखने से कर्म में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। 'स्पन्द' का अर्थ है क्रिया (=कर्म)। स्पन्दात्मा=कर्मस्वरूप, जो कर्मस्वरूप नहीं वह अस्पन्दात्मा अर्थात् कर्म-भिन्न।

गुण द्रव्य के आश्रित ही रहता है, यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। रूप आदि २४ गुण हैं। इनका न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में विस्तार से निरूपण किया गया है (द्र०, प्रशस्त०, न्यायकन्दली, न्यायमुक्तावली आदि)। उसी के आधार पर यहाँ संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

---

१. अथ, इति क्वचिन्नास्ति।

२. चतुर्विंशतिरेव, इति पाठा०।

१–तत्र रूपं चक्षुर्मात्रग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादित्रयवृत्ति। तच्च शुक्लाद्यनेकप्रकारकम्[1]। पाकजञ्च पृथिव्याम्। [2]तच्चानित्यं पृथिवीमात्रे। आप्यतैजसपरमाण्वोर्नित्यम्। आप्यतैजसकार्येष्वनित्यम्। शुक्लभास्वरमपाकजं तेजसि। तदेवाभास्वरमप्सु।

टिप्पणी—(i) ऊपर बुद्धि को गुण सिद्ध करने के लिये 'बुद्धयादयस्तावद् गुणाः, अनित्यत्वे सति—एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्'' यह हेतु दिया गया है, उसमें भी गुण का लक्षण निहित है किन्तु यहाँ भिन्न प्रकार से गुण का लक्षण दिखलाया गया है। ऐसा क्यों किया गया है, यह चिन्तनीय है। (ii) ऊपर के लक्षण का सारांश है—'कर्मद्रव्यभिन्नत्वे सति जातिमत्त्वम्'—गोवर्धन।

(१) रूप

उनमें 'रूप' वह विशेषगुण है जो केवल चक्षु से ग्राह्य है। वह पृथिवी आदि तीन (पृथिवी, जल, तेज) में रहता है। शुक्ल आदि अनेक प्रकार का है। पृथिवी में पाकज भी होता है। और, वह पृथिवी मात्र (नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार की पृथिवी) में अनित्य होता है। जल और तेज के परमाणुओं में नित्य और जल तथा तेज के कार्यरूपों में अनित्य होता है। तेज में शुक्ल भास्वर एव अपाकज होता है और वही (अपाकज) अभास्वर शुक्ल जल में होता है।

यदि रूप के लक्षण में 'चक्षुर्ग्राह्यो विशेषगुणः' इतना ही कहा जाता 'मात्र' पद न दिया जाता तो संख्या में अतिव्याप्ति हो जाती; क्योंकि संख्या भी चक्षुर्ग्राह्य है किन्तु संख्या केवल चक्षु से ही ग्राह्य नहीं है, उसका ग्रहण स्पर्शनेन्द्रिय से भी होता है अतः लक्षण में 'मात्र' पद रखने से अतिव्याप्ति दोष नहीं रहता। फिर यदि इस लक्षण में 'गुण' पद न रखते तो रूपत्व जाति में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती; क्योंकि वह भी चक्षुमात्रग्राह्य है। किन्तु रूपत्व तो जाति है, गुण नहीं; अतः लक्षण में 'गुण' पद रखने से यह दोष नहीं रहता। अब, यदि इस लक्षण में 'विशेष' पद न रखते तो प्रभा की संख्या में अतिव्याप्ति हो जाती। जैसे कहीं सूर्य आदि की प्रभा ५ भिन्न-भिन्न दीवारों पर पड़ रही है। यहां प्रभा की पञ्चत्व (५) संख्या चक्षुमात्र-ग्राह्य है और संख्या गुण भी है। लक्षण में 'विशेष' पद रखने से तो यह दोष नहीं रहता; क्योंकि (प्रभा की) संख्या सामान्य गुण है, विशेष गुण नहीं। विशेषगुण का लक्षण उपर आत्मा तथा आकाश के सन्दर्भ में दिया जा चुका है। रूप के समान ही 'रस' आदि के लक्षणों के विषय में भी समझना चाहिये।

न्या०-वै० में सात प्रकार का रूप माना गया है शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित कपिश और कर्बुर (=चित्र)। चित्र रूप पृथक् है या नहीं, इस विषय में विवाद

१. प्रकारम्, इति पाठा०।

२. तच्च ···ष्वनित्यम्, इति क्वचिन्नास्ति।

२—रसो रसनेन्द्रियाग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां मधुरादिषट प्रकारः[1] पाकजश्च।अप्सु मधुरोऽपाकजो नित्योऽनित्यश्च।[2] नित्यः परमाणुरूपास्वप्सु कार्य[3]रूपास्वनित्यः।

३—गन्धो घ्राणग्राह्यो विशेषगुणः पृथिवीमात्रवृत्तिः।[4]अनित्य एव। स द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। जलादौ गन्धप्रतिभानं तु संयुक्तसमवायेन द्रष्टव्यम्।

४—स्पर्शस्त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो विशेषगुणः पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः।

हैं। न्या०-वै० के ग्रन्थों में इसे एक पृथक् रूप सिद्ध किया गया है (न्या० मु० का० १००)।

(२) रस

रस वह विशेष गुण है जो रसना इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। वह पृथिवी तथा जल में रहता है। पृथिवी में तो मधुर आदि ६ प्रकार का है तथा पाकज है। जल में (केवल) मधुर एवं अपाकज होता है। (जो दो प्रकार का है) नित्य तथा अनित्य। परमाणु रूप जल में नित्य है तथा कार्य रूप में अनित्य।

(३) गन्ध

गन्ध वह विशेष गुण है जो घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। वह केवल पृथिवी में रहता है तथा अनित्य ही है। वह दो प्रकार का है सुगन्ध और दुर्गन्ध। जल आदि में तो संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से गन्ध की प्रतीति होती है, यह जानना चाहिये।

जलादौ इति—गन्ध का निरूपण करते हुए कहा गया है 'पृथिवी-मात्रवृत्तिः' =वह केवल पृथिवी में रहता है। इस प्रकार यह प्रश्न हो सकता है कि फिर सुगन्धित जल है, सुगन्धित वायु है इस प्रकार की प्रतीत क्यों होती है। इसके उत्तर में कहा गया है जलादौ इति (द्र० मूल तथा अनुवाद)। भाव यह है कि जल या वायु में वस्तुतः गन्ध नहीं होती। जल या वायु से संयुक्त जो पुष्प आदि होते हैं उनकी गन्ध ही संयुक्त-समवाय सम्बन्ध से जल या वायु में प्रतीत होने लगती है, क्योंकि जल या वायु से संयुक्त जो पुष्प आदि हैं उनमें समवाय सम्बन्ध से गन्ध रहती है।

(४) स्पर्श

स्पर्श वह विशेष गुण है जो स्पर्शनेन्द्रिय (त्वक्) द्वारा ग्राह्य है। पृथिवी आदि चार (पृथिवी, जल, तेज, वायु) में रहता है। वह शीत, उष्ण अनुष्णाशीत के भेद से तीन प्रकार का होता है। शीत (स्पर्श) जल में, उष्ण तेज में तथा अनुष्णाशीत

---

१. मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्तभेदात्, इत्यधिक, पाठः।

२. नित्योनित्यात्मा, इति पाठा०।

३. भूता०, इति पाठा०।

४. अनित्य एव, स द्विविधः, इति क्वचिन्नास्ति।

स च त्रिविधः शीत-उष्ण-अनुष्णाशीतभेदात् । शीतः पयसि, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः । [1]पृथ्वीमात्रे ह्यनित्यः । आप्यतैजसवायवीयपरमाणुषु नित्यः । आप्यादिकार्येष्वनित्यः । एते च रूपादयश्चत्वारो महत्त्वैकार्थसमवेतत्वे सत्युद्‌भूता एव प्रत्यक्षाः ।

५—संख्या एकत्वादिव्यवहारहेतुः सामान्यगुणः । एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्ता । तत्रैकत्वं द्विविधं नित्यानित्यभेदात् । नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम् । स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्यञ्च । द्वित्वं त्वनित्यमेव[2] । तच्च द्वयोः पिण्डयोः इदमेकम् इदमेकम् इत्यपेक्षाबुद्ध्या जन्यते । तत्र द्वौ पिण्डौ

पृथिवी और वायु में रहता है । वह पृथिवी मात्र (परमाणुरूप तथा कार्यरूप दोनों प्रकार की पृथिवी) में अनित्य है। जल, तेज, वायु के परमाणुओं में नित्य है किन्तु कार्यरूप जल आदि में अनित्य है । और, ये रूप आदि चारों (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) महत् (परिमाण) के साथ एक द्रव्य (=अर्थ) में समवेत होकर उद्‌भूत (अवस्था में) होते हुए ही प्रत्यक्ष के योग्य हुआ करते हैं ।

एते च रूपादयः, इस पंक्ति में यह बतलाया गया है कि रूप आदि गुणों का प्रत्यक्ष किस अवस्था में होता है । इनके प्रत्यक्ष के लिये दो बातें आवश्यक हैं (i) जब रूप आदि ऐसे किसी अर्थ (=द्रव्य) में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं जिसमें महत् परिमाण (=महत्त्व) भी समवाय सम्बन्ध से रहता है अर्थात् ये महत्त्वैकार्थसमवेत (महत्त्व के साथ एक अर्थ में समवेत) होते हैं, (ii) जब रूप आदि सूक्ष्म नहीं होते, अपितु इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य अवस्था में होते हैं, अर्थात् ये उद्‌भूत (प्रत्यक्षयोग्य) अवस्था में होते हैं । इन दोनों विशेषताओं में से एक के बिना भी रूप आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । फलतः परमाणु या द्व्यणुक के रूप आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि परमाणु या द्व्यणुक का परिमाण महत् नहीं है अतः परमाणु या द्व्यणुक का रूप 'महत्त्वैकार्थसमवेत' नहीं होता । इसी प्रकार चक्षु के रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि यह रूप उद्‌भूत नहीं हुआ करता, अनुद्‌भूत अवस्था में होता है ।

(५) संख्या

संख्या वह सामान्य गुण है जो एकत्व आदि व्यवहार का निमित्त होता है । वह एकत्व से लेकर परार्ध (सबसे बड़ी संख्या) तक होती है । उनमें से एकत्व दो प्रकार का है नित्य तथा अनित्य । नित्य (द्रव्य) में रहने वाला एकत्व नित्य है और अनित्य में रहने वाला अनित्य । और, वह (अनित्य एकत्व) अपने आश्रय (पट आदि) के समवायी कारण (तन्तु आदि) में रहने वाले एकत्व से उत्पन्न हुआ करता है । द्वित्व तो सब द्रव्यों में अनित्य ही होता है । और वह द्वित्व दो पिण्डों (घट आदि द्रव्यों) में 'यह एक है' 'यह एक है' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होता है । उस

१. पृथिवीमात्रे·········ष्वनित्यः, इति क्वचिन्नास्ति ।

२. द्वित्वं चानित्यमेव, इति पाठा० ।

समवायिकारणे। पिण्डयोरेकत्वे असमवायिकारणे, अपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम्। अपेक्षाबुद्धिविनाशाद्[1] द्वित्वविनाशः। एवं त्रित्वाद्युत्पत्तिर्विज्ञेया।

(की उत्पत्ति) में दोनों पिण्ड समवायी कारण हैं। (दोनों) पिण्डों के एकत्व असमवायी कारण हैं तथा अपेक्षाबुद्धि निमित्तकारण है। अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का भी नाश हो जाता है। इसी प्रकार त्रित्व आदि की उत्पत्ति जाननी चाहिये।

सामान्य दृष्टि से संख्या एक प्रतीति मात्र है; किन्तु न्या०-वै० की दृष्टि से द्रव्यों में ही एकत्व, द्वित्व आदि संख्या रहा करती है। यह भी रूप आदि के समान एक गुण है। संख्या दो प्रकार की होती है एक द्रव्य में रहने वाली एकत्व संख्या और अनेक द्रव्यों में रहने वाली द्वित्व, त्रित्व आदि संख्यायें। एकत्व संख्या भी दो प्रकार की है। एक परमाणु, आत्मा आदि नित्य पदार्थों में रहने वाली एकत्व सख्या जो नित्य होती है तथा दूसरी घट, पट, मेज कुर्सी आदि अनित्य पदार्थों में रहने वाली एकत्व संख्या जो अनित्य ही होती है। इन पदार्थों के नाश से तद्गत एकत्व का भी नाश हो जाता है। जो अनित्य एकत्व हैं वह रूप आदि गुणों के समान ही अपने आश्रय (समवायी कारण) में उत्पन्न हुआ करता है। अतः यहाँ उसकी उत्पत्ति का कारण बतलाते हुए कहा गया है—**स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्यञ्च**। यहाँ 'स्व' शब्द से अनित्य एकत्व का ग्रहण होता है। उसका आश्रय है 'पट' आदि द्रव्य। उस पट आदि द्रव्य के समवायी कारण तन्तु आदि होते हैं। अतः तन्तु आदि कारणों में रहने वाले (कारण-गत) एकत्वों से पट के एकत्व की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार पट का रूप अपने समवायी कारणों के रूप से उत्पन्न होता है उसी प्रकार पट का एकत्व भी अपने समवायी कारणों के एकत्व से उत्पन्न होता है।

द्वित्वन्तु अनित्यमेव—द्वित्व नामक संख्या तो सभी द्रव्यों में अनित्य होती है। द्वित्व आदि की उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से हुआ करती है। 'यह एक घट है' यह भी एक घट है' इस प्रकार से जो दो पदार्थों में एक दूसरे की अपेक्षा से एकत्व संख्या की प्रतीति होती है वही अपेक्षा बुद्धि कहलाती है (अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरिष्यते, न्या० मु०, का १०६)। इस अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है। अपेक्षाबुद्धि द्वित्व आदि की उत्पत्ति में निमित्त कारण है। द्वित्व दो द्रव्यों का गुण है अतः द्वित्व का समवायी कारण दो द्रव्य ही होते हैं। दोनों द्रव्यों में रहने वाला जो एकत्व है वह द्वित्व संख्या का असमवायी कारण होता है।

संक्षेप में द्वित्व आदि की प्रतीति का क्रम यह है। उपर्युक्त प्रकार से अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व उत्पन्न हो जाता है। उससे अग्रिम क्षण में 'द्वित्वत्व' जाति का ज्ञान होता है, फिर 'द्वित्व' का ज्ञान होता है और उसके पश्चात् 'द्वे द्रव्ये' (ये दो द्रव्य हैं) इस प्रकार का ज्ञान हुआ करता है। इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पत्ति के पूर्व

१. अपेक्षाबुद्धिनाशादेव द्वित्वविनाशः, इति पाठा०।

६—परिमाणं मानव्यवहारासाधारणं कारणम् । तच्चतुर्विधम् अणु, महद्, दीर्घं, ह्रस्वञ्चेति । तत्र कार्यगतं परिमाणं संख्या-परिमाण प्रचययोनि । तद्यथा द्व्यणुकपरिमाणमीश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यपरमाणुद्वित्वजनितत्वात संख्यायोनि, संख्याकारणकमित्यर्थः त्र्यणुकपरिमाणञ्च स्वाश्रयसमवायिकारणगतबहुत्वसंख्यायोनि । चतुरणुकादिपरिमाणं तु स्वाश्रयसमवायिकारणपरिमाणजन्यम् । तूलपिण्डपरिमाणन्तु [1]स्वकारणावयवप्रचययोनि ।

क्षण में उत्पन्न होकर द्वित्वोत्पत्ति तथा द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान के क्षणों में विद्यमान रहती है । 'द्वित्व' के ज्ञान के क्षण में तो अपेक्षाबुद्धि नष्ट हो जाती है । फलतः अपेक्षाबुद्धि केवल तीन क्षण रहती है (अपेक्षाबुद्धेस्त्रिक्षणस्थायित्वम्, न्या० मु० का० १०८) । अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का भी नाश हो जाता है (मि० न्या० मु० का० १०८) । इस प्रकार द्वित्व संख्या सर्वत्र अनित्य है । इसी प्रकार त्रित्व आदि संख्या की उत्पत्ति भी अपेक्षाबुद्धि से होती है तथा अपेक्षाबुद्धि के नाश से उनका नाश हो जाता है ।

टिप्पणी— (i) द्वित्व आदि की उत्पत्ति तथा नाश की प्रक्रिया प्रशस्तपाद भाष्य तथा न्यायकन्दली (द्र० सख्या पृ० २७२ तथा आगे) आदि में विस्तारपूर्वक दिखलाई गई है । (ii) प्रशस्त० में यह भी बतलाया गया है कि कहीं आश्रय के नाश से ही द्वित्व आदि संख्या का नाश होता है (क्वचिच्चाश्रयविनाशादिति, पृ० २८१) । इसलिये तर्कभाषा के किन्हीं संस्करणों में जो 'अपेक्षाबुद्धिविनाशादेव द्वित्वविनाशः' पाठ है वह युक्तिसंगत नहीं । यदि वही पाठ प्रामाणिक माना जाये तो 'अपेक्षाबुद्धिविनाशद् द्वित्वविनाश एव' यह अन्वय करना उचित होगा ।

(६) परिमाण

माप (=मान) के व्यवहार का असाधरण कारण परिमाण है । वह चार प्रकार का है—अणु, महद् दीर्घ तथा ह्रस्व । [यह चारों प्रकार का नित्य तथा अनित्य के भेद से दो प्रकार का है, नित्य द्रव्यों में नित्य तथा कार्य द्रव्यों में अनित्य है] उनमें से कार्यगत परिमाण (१) संख्यायोनि (२) परिमाणयोनि तथा (३) प्रचययोनि (तीन प्रकार) का होता है । जैसे (१) द्व्यणुक का (अणु) परिमाण संख्यायोनि अर्थात् संख्या के निमित्त से उत्पन्न होने वाला है; क्योंकि वह ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने वाली परमाणुओं की द्वित्व संख्या से उत्पन्न होता है और, त्र्यणुक का (महत्) परिमाण अपने आश्रय (त्र्यणुक) के समवायी कारण (२ द्व्यणुकों) की बहुत्व संख्या से उत्पन्न होता है । (२) किन्तु चतुरणुक आदि का (महत्) परिमाण तो अपने आश्रय (चतुरणुक आदि) के समवायी कारण (त्र्यणुक आदि) के (महत्) परिमाण से उत्पन्न होता है । (३) रुई के गोले (तूलपिण्ड) का परिमाण तो अपने

१. तूलपिण्डपरिमाणं तु स्वाश्रयसमवायिकारणावयवानां प्रशिथिलसंयोगजन्यम्,—इति पाठा० ।

प्रचयस्त्ववयवानां स्वाश्रयसमवायिकारणप्रशिथिलसंयोग. । परमाणुपरिमाणं प रममहत्परिमाणञ्चाकाशादिगतं नित्यमेव ।

कारण (तूलपिण्ड) के अवयवों के प्रचय से उत्पन्न होता है अवयवों के प्रचय का अर्थ है (महत्) परिमाण (=स्व) के आश्रय (तूलपिण्ड) के समवायी कारणों (=अवयवों) का शिथिल (ढीला) संयोग । परमाणु का (अणु) परिमाण तथा आकाश आदि का परममहत् परिमाण तो नित्य ही होता है ।

यह अणु है, यह महत् है' इत्यादि के व्यवहार का जो निमित्त है वही परिमाण नामक गुण कहलाता है । यह परिमाण चार प्रकार का है अणुत्व-महत्त्व, ह्रस्वत्व-दीर्घत्व । इनमें से ह्रस्वत्व, दीर्घत्व दोनों परिमाण क्रमशः अणुत्व तथा महत्त्व के साथ-साथ रहा करते हैं । जहाँ अणुत्व रहता है वहीं ह्रस्वत्व रहता है और जहाँ महत्त्व रहता है वहीं दीर्घत्व रहता है । इसलिये विशेषतः अणुत्व तथा महत्त्व का ही निरूपण किया जाता है । अणुत्व को अणुपरिमाण या केवल अणु भी कहते हैं । जो सबसे छोटा परिमाण हो सकता है वही अणु परिमाण है । यह भी ध्यान रखने योग्य है कि 'अणु' शब्द का न्याय-वै० में दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है । एक तो सबसे छोटे परिमाण के लिये और दूसरे परमाणु के लिये । अणु परिमाण केवल परमाणु, द्वयणुक तथा मन में रहता है । परिमाणु के अणु परिमाण को 'पारिमण्डल्य' भी कहते हैं । (पारिमण्डल्यम् अणुपरिमाणम् न्या० गु० का० १५) ।

दूसरा परिमाण महत्त्व (महत् परिमाण) है । अणु से भिन्न जो भी परिमाण है वह महत् कहलाता है, चाहे वह कितना ही छोटा हो अथवा बड़े से बड़ा हो अतः महत् परिमाण दो प्रकार का होता है एक परिच्छिन्न या सीमित दूसरा अपरिच्छिन्न या विभु (=परममहत्) । त्र्यणुक, चतुरणुक, पुस्तक, मेज आदि का परिमाण महत् तो है किन्तु सीमित है. विभु नहीं, यह परिच्छिन्न (महत्) परिमाण है । अणु परिमाण को भी परिच्छिन्न परिमाण कहा जा सकता है; किन्तु वह परिच्छिन्न महत् नहीं है दूसरा महत् परिमाण असीमित = अपरिच्छिन्न होता है जैसे आकाश आदि का परिमाण है । वह विभुत्व या परममहत् परिमाण कहलाता है ।

अणु और महत् दोनों ही परिमाण नित्य तथा अनित्य दो-दो प्रकार के होते हैं । नित्य द्रव्यों में रहने वाले नित्य तथा अनित्यों में रहने वाले अनित्य होते हैं परमाणु नित्य है तथा मन भी नित्य है । अतः दोनों का अणु परिमाण भी नित्य है । किन्तु द्वयणुक तो अनित्य है अतः उसका अणु परिमाण भी अनित्य होता है । महत् परिमाण त्र्यणुक आदि से लेकर आकाश तथा आत्मा इत्यादि तक रहता है । त्र्यणुक, चतुरणुक तथा घट आदि कार्य द्रव्यों का महत् परिमाण अनित्य होता है, किन्तु आकाश आदि नित्य पदार्थों का महत् परिमाण नित्य हुआ करता है या

कहिये जो परिच्छिन्न महत् परिमाण(=मध्यम परिणाम) है वह अनित्य है। जो अपरिच्छिन्न महत् परिमाण (विभुत्व) या परममहत् परिमाण है वह नित्य होता है।

सभी अनित्य परिमाणों को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है—(१) संख्यायोनि, (२) परिमाणयोनि और (३) प्रचययोनि।

(१) **संख्यायोनि**—वह परिमाण है जो संख्या से उत्पन्न होता है जैसे द्व्यणुक का अणुपरिमाण और त्र्यणुक का महत् परिमाण है। सामान्य नियम यह है कि कारण के परिमाण से कार्य का परिमाण उत्पन्न होता है (कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते)। किन्तु द्व्यणुक तथा त्र्यणुक के परिमाण की उत्पत्ति के विषय में इस नियम को नहीं माना जाता। क्यों? अनुभव से यह विदित होता है कि तन्तुओं के परिमाण से पट में जो परिमाण उत्पन्न होता है वह तन्तुओं के परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट (=बढ़कर) होता है। इसी प्रकार कपालों के परिमाण से जो घट का परिमाण उत्पन्न होता है वह भी कपाल के परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। फलतः नियम है कि परिमाण अपने सजातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक होता है (परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वात्)। यदि कारण का परिमाण महत् है तो वह कार्य में महत्तर परिमाण का जनक होगा और यदि कारण का परिमाण अणु है तो वह कार्य में अणुतर परिमाण का जनक होगा। इस नियम के अनुसार दो परमाणुओं से जो द्व्यणुक उत्पन्न होता है उस द्व्यणुक में परमाणुओं के अणु परिमाण द्वारा अणुतर परिमाण ही उत्पन्न किया जा सकता है। किन्तु अणु परिमाण तो सबसे छोटा परिमाण है उससे अणुतर परिमाण तो असम्भव ही है। इसीलिये यह माना जाता है कि द्व्यणुक का परिमाण परमाणुओं के परिमाण से नहीं उत्पन्न होता, अपि तु परमाणुओं की द्वित्व संख्या से उत्पन्न होता है। जैसा कि संख्या के सन्दर्भ में बतलाया गया है द्वित्व संख्या अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है। यहाँ वह द्वित्व संख्या परमाणुगत है। इसलिये मानव की अपेक्षाबुद्धि से वह द्वित्व संख्या उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि मानव तो परमाणु का प्रत्यक्ष ही नहीं कर सकता। फलतः यह स्वीकार किया जाता है कि ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न परमाणुगत द्वित्व संख्या से द्व्यणुक के अणु परिमाण की उत्पत्ति होती है। त्र्यणुक के विषय में भी यही बात है। तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक बनता है। द्व्यणुकों का परिमाण अणु है। अतः उस परिमाण से जो परिमाण उत्पन्न होगा वह अणुतर होगा। इसलिये द्व्यणुकों के परिमाण को त्र्यणुक के परिमाण का कारण नहीं माना जाता अपितु, द्व्यणुकों की त्रित्व संख्या (=बहुत्व संख्या) को त्र्यणुक के महत् परिमाण का कारण माना जाता है। या कहिये कि त्र्यणुक का महत् परिमाण अपने आश्रय (त्र्यणुक) के समवायी कारण (द्व्यणुकों) की बहुत्व संख्या से उत्पन्न होता है। न्या०-वै० का मन्तव्य है कि कारण-बहुत्व से या कारण-महत्त्व से महत् परिमाण की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार द्व्यणुक का अणु परिमाण तथा त्र्यणुक का महत्परिमाण दोनों संख्यायोनि हैं, इनकी उत्पत्ति का कारण संख्या होती है।

७—पृथक्त्वं पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणम्[1]। 'तच्च द्विविधम् एकपृथक्त्वं द्विपृथक्त्वादिकञ्च । तत्राद्यं नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्[3]। द्विपृथक्त्वादिकञ्चानित्यमेव ।'[2]

(२) **परिमाणयोनि**--वह परिमाण है जो परिमाण से उत्पन्न होता है, जिसका कारण (=योनि) परिमाण होता है; जैसे चतुरणुक आदि का महत् परिमाण है। चार त्र्यणुकों से एक चतुरणुक बनता है। त्र्यणुक का परिमाण महत् है। उससे चतुरणुक के महत् परिमाण की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार घट, पट आदि सभी कार्य द्रव्यों का महत् परिमाण अपने कारणों (कपाल, तन्तु आदि) के महत् परिमाण से उत्पन्न होता है।

(३) **प्रचययोनि**--वह परिमाण है जिसका कारण 'प्रचय' होता है। अवयवों का शिथिल संयोग प्रचय कहलाता है। उदाहरणार्थ छोटे से रुई के गोले को जब धुन लिया जाता है तो उसके अवयवों का जो दृढ़ (गाढ़) संयोग होता है वह शिथिल हो जाता है। अवयवों के शिथिल संयोग के कारण रुई का छोटा पिण्ड ही महत्तर परिमाण का हो जाता है।

टिप्पणी--पारिमण्डल्य (परमाणु का परिमाण) तथा परममहत् (आकाश आदि का) परिमाण तो किसी अन्य (परिमाण) के कारण नहीं होते (न्या० मु० का० १५)। अणु परिमाण किसी परिमाण का कारण नहीं होता, यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। परममहत् परिमाण से उत्कृष्ट कोई परिमाण होता ही नहीं फिर वह किसका कारण होगा ?

(७) **पृथक्त्व**

(यह इससे पृथक् है, इस प्रकार की) पृथक्ता के व्यवहार का असाधारण कारण पृथक्त्व है। वह दो प्रकार का है एकपृथक्त्व और द्विपृथक्त्व आदि। उनमें से प्रथम (एकपृथक्त्व) नित्य (द्रव्य) में रहता हुआ नित्य होता है तथा अनित्य में अनित्य। द्विपृथक्त्व। आदि तो (सर्वत्र) अनित्य ही होता है।

(८) **संयोग**

'यह घट उस घट से पृथक् है। इस प्रकार का व्यवहार द्रव्यों में देखा जाता है। अतः इस प्रतीति का निमित्त एक गुण माना जाता है वही पृथक्त्व कहलाता है। यह प्रश्न उठ सकता है कि अन्योन्याभाव के आधार पर ही इस प्रकार की प्रतीति हो जायेगी फिर पृथक्त्व नामक गुण को मानने की क्या आवश्यकता है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि अन्योन्याभाव के आधार पर होने वाली प्रतीति का रूप है 'यह घट

---

१. पृथक्व्यवहारहेतुः, इति पाठा०।

२. तच्च०···नित्यमेव, इति क्वचिन्नास्ति।

३. नित्यमनित्यम्। अनित्ये कार्ये पृथक्त्वादिकं तु द्वित्वादिवदपेक्षाबुद्धिजम्, इति पाठा०।

८—संयोगः संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुण[1]। स च द्व्याश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च-स च त्रिविधः। अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति। तत्रान्यतर-कर्मजो यथा क्रियावता श्येनेन सह निष्क्रियस्य स्थाणोः संयोगः। अस्य हि-श्येनक्रिया असमवायिकारणम्। उभयकर्मजो यथा सक्रिययोर्मल्लयोः संयोगः। संयोगजो यथा कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगः यथा हस्ततरुसंयोगेन कायतरुसंयोगः।

पट नहीं है' (घटः पटो नास्ति)। इसका अभिप्राय है घट में पट के तादात्म्य का अभाव। यह प्रतीति अभावात्मक होती है। किन्तु पृथक्त्व की प्रतीति भावात्मक होती है। अतः 'पृथक्त्व' को एक गुण मानना ही युक्तियुक्त है।

यह पृथक्त्व दो प्रकार का है। जहां एक वस्तु में अन्य वस्तु से पृथक्ता प्रतीत होती है वहाँ एकपृथक्त्व है तथा जहाँ दो वस्तुओं में अन्य वस्तु या वस्तुओं से पृथक्ता दिखलाई देती है, वहाँ द्विपृथक्त्व है ; जैसे घट तथा पट दोनों मेज से पृथक् हैं। इसी प्रकार त्रिपृथक्त्व आदि भी होते हैं।

एकपृथक्त्व दो प्रकार का होता है नित्य तथा अनित्य। जलीय परमाणु पार्थिव परमाणु से पृथक् है इस प्रकार के व्यवहार में जो परमाणुगत एकपृथकत्व है, वह नित्य है। अनित्य द्रव्यों में रहने वाला एकपृथक्त्व अनित्य ही है। द्विपृथक्त्व आदि तो सर्वत्र अनित्य ही है, क्योंकि उसका आधार द्वित्व आदि संख्या है और द्वित्व आदि अनित्य हुआ करता है।

(८) संयोग

(ये संयुक्त हैं, इस प्राकर के) संयुक्त व्यवहार का निमित्त जो गुण है वह संयोग है। वह संयोग दो (द्रव्यों) में रहता है तथा (समस्त आश्रय में) व्याप्त होकर नहीं रहता (अव्याप्य वर्तते इति अव्याप्यवृत्तिः)। वह तीन प्रकार का है (१) अन्यतरकर्मज, (२) उभयकर्मज (३) संयोगज। उनमें से (१) अन्यतरकर्मज है, जैसे क्रियायुक्त श्येन के साथ क्रियारहित स्थाणु (ठूंठ) का संयोग। (एक) श्येन की क्रिया ही इस (संयोग) का असमवायी कारण है (२) उभयकर्मज (संयोग) है; जैसे दो क्रियायुक्त पहलवानों (मल्ल) का संयोग। (३) संयोगज (संयोग) है; जैसे कारण तथा अकारण के सयोग से कार्य तथा अकार्य का सयोग हो जाता है। उदाहरणार्थ हाथ (जो शरीर का कारण है) तथा वृक्ष (जो शरीर के प्रति कारण नहीं) के संयोग से शरीर (जो हाथ आदि अवयव का कार्य है) तथा वृक्ष (जो हाथ आदि का कार्य नहीं) का संयोग हो जाता है।

संयोग एक सामान्य गुण है जो द्रव्यों में रहता है। एक संयोग दो द्रव्यों में आश्रित रहता है (द्व्याश्रय)। उदाहरणार्थ पुस्तक और मेज का संयोग है। यहाँ एक ही संयोग पुस्तक तथा मेज दोनों में रहता है। केवल एक द्रव्य में संयोग नहीं रहता। जिन दो द्रव्यों का संयोग होता है उन दोनों द्रव्यों को वह संयोग पूर्णरूप से व्याप्त

---

१. गुणः इति क्वचिन्नास्ति।

९—विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतुः। संयोगपूर्वको द्वयाश्रयः। स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजो विभागजश्चेति। तत्र प्रथमो यथा श्येन-क्रियया शैलश्येनयोर्विभागः[1]। द्वितीयो यथा मल्लयोर्विभागः। तृतीयो यथा हस्ततरुविभागात् कायतरुविभागः।

[द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥]

नहीं करता, अपि तु उनके एकदेश में ही रहता है। जैसे मेज और पुस्तक का संयोग है। यहाँ मेज के प्रत्येक अवयव का पुस्तक के प्रत्येक अवयव के साथ संयोग नहीं होता, मेज के साथ पुस्तक के एक पार्श्व का ही संयोग होता है। इसलिये संयोग अव्याप्यवृत्ति (=व्याप्त करके न रहने वाला) कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जिन दो वस्तुओं का संयोग होता है, उनके कुछ अंशों में ही वह संयोग रहता है अन्य अंशों में नहीं—संयोग समस्त पदार्थ में व्याप्त होकर नहीं रहता।

संयोग तीन प्रकार का होता है। यहाँ वैशेषिक की दृष्टि से संयोग के तीन प्रकार बतलाये गये हैं। वैशेषिक सम्प्रदाय नित्यसंयोग को नहीं स्वीकार करता (नास्त्यजः संयोगः, प्रशस्त०)। भाव यह है कि वैशेषिक के मत में नित्य एवं विभु द्रव्यों का परस्पर संयोग नहीं हुआ करता। फलतः आकाश का आत्मा के साथ अथवा दो आत्माओं का परस्पर संयोग नहीं होता। इस प्रकार वैशेषिक के मत से सभी संयोग जन्य होते हैं। और, वे (जन्यसंयोग) तीन प्रकार के होते हैं। न्याय की दृष्टि से प्रथमतः संयोग के दो भेद हैं अजन्य (नित्य) तथा जन्य (अनित्य)। फिर जन्य संयोग के तीन भेद हैं--अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज तथा संयोगज (द्र० अनुवाद)।

संयोगनाश के दो कारण होते हैं एक तो आश्रय का नाश और दूसरा विभाग। इस प्रकार विभाग संयोग का विरोधी गुण है। अतः संयोग के पश्चात् विभाग का निरूपण करते हैं—

(९) विभाग

(ये विभक्त हैं इस प्रकार की) विभक्त प्रतीति का कारण (गुण) विभाग है। वह संयोगपूर्वक होता है तथा दो में रहता है और वह तीन प्रकार का है (१) अन्यतरकर्मज, (२) उभयकर्मज तथा (३) विभागज। उनमें से (१) पहला यह है. जैसे श्येन की क्रिया से पर्वत तथा श्येन का विभाग। (२) दूसरा है, जैसे दो पहलवानों का विभाग। (३) तीसरा है, जैसे हाथ तथा वृक्ष के विभाग से शरीर तथा वृक्ष का विभाग।

१. शैलस्थश्येनक्रियया शैलश्येनविभागः, इति पाठा०।
२. द्वित्वे…विदुः, इति क्वचित् पाठः।

विभाग भी एक ऐसा गुण है जो एक होकर दो द्रव्यों में साथ-साथ रहता है। विभाग संयोगपूर्वक होता है, संयोग के पश्चात् ही हुआ करता है। जिन दो द्रव्यों में संयोग होता है उनका ही विभाग हुआ करता है। जिन दो द्रव्यों में संयोग नहीं हुआ उनके लिये भी कभी-कभी ये विभक्त हैं, ऐसा व्यवहार अवश्य देखा जाता है। तथापि ऐसा प्रयोग संयोग के अभाव के निमित्त से कर दिया जाता है। वस्तुतः यह औपचारिक प्रयोग है। संयोग के अभाव का नाम विभाग नहीं है। न्या०-वै० के अनुसार विभाग एक भावरूप स्वतन्त्र गुण है।

विभाग तीन प्रकार का है, जिसे उपर्युक्त तीन प्रकार के संयोग का विरोधी गुण कहा जा सकता है। इस तीन प्रकार के विभाग से उपर्युक्त तीन प्रकार के संयोग का नाश हुआ करता है। जैसे—

(१) **अन्यतरकर्मज विभाग**—जब स्थाणु (या पर्वत) पर बैठा हुआ श्येन उड़ जाता है तो एक (अन्यतर) श्येन की क्रिया से दोनों श्येन तथा स्थाणु का विभाग हो जाता है। इस विभाग से दोनों के संयोग का नाश होता है।

(२) **उभयकर्मज विभाग**—जब दो परस्पर संयुक्त पहलवान एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं तो वहाँ दोनों की क्रिया द्वारा दोनों का विभाग हुआ करता है। उससे दोनों के संयोग का नाश हो जाता है।

(३) **विभागज विभाग**—यह दो प्रकार का होता है—(क) (क) **कारणमात्र के विभाग से होने वाला**, जैसे एक घट के दो कपालों में से एक कपाल में क्रिया होती है। इस क्रिया से दोनों कपालों का विभाग हो जाता है। उस विभाग से दोनों कपालों के संयोग का नाश हो जाता है तथा घटनाश हो जाता है। तब कपालद्वय के विभाग से कपाल का उस आकाश प्रदेश से भी विभाग हो जाता है जिसके साथ घटनाश से पूर्व उसका संयोग था। यह कपाल (घट के कारण) तथा आकाश (अकारण) का विभाग है जो विभागज विभाग है। यह घट के कारण; कपालों के विभाग से उत्पन्न होता है। इस विभागज विभाग से कपाल तथा आकाश प्रदेश के संयोग का नाश हो जाता है। (ख) **कारण तथा अकारण के विभाग से होने वाला**—'तृतीयो यथा' इत्यादि पंक्ति में इसका उदाहरण दिया गया है। जब हम वृक्ष से संयुक्त हाथ को हटा लेते हैं तो वृक्ष तथा हाथ का विभाग हो जाता है इस वृक्ष तथा हाथ के विभाग से वृक्ष तथा शरीर का विभाग हो जाता है। यहाँ हाथ शरीर का कारण (अवयव) है, वृक्ष उसका कारण नहीं (अकारण है)। उन दोनों के विभाग से शरीर (कार्य) तथा वृक्ष (अकार्य) का भी विभाग हो जाता है। इस विभागज विभाग से पूर्वोक्त संयोगज संयोग (कार्यतरुसंयोग) का नाश हो जाता है।

टिप्पणी—विभागज विभाग वैशेषिक का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। यह वैशेषिक के तीन महत्त्वपूर्ण विषयों में से एक है। सर्वदर्शनसंग्रह में वैशेषिक के तीन विशिष्ट विषयों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

१०-११—परत्वापरत्वे परापरव्यवहारासाधारणकारणे । ते तु द्विविधे दिक्कृते कालकृते च । तत्र दिक्कृतयोरुत्पत्तिः कथ्यते । एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोरिदमस्मात् सन्निकृष्टमिति बुद्ध्यानुगृहीतेन दिक्पिण्ड-संयोगेनापरत्वं सन्निकृष्टे जयन्ते । विप्रकृष्टबुद्धया तु परत्वं विप्रकृष्टे जन्यते । सन्निकर्षस्तु पिण्डस्य द्रष्टुः शरीरापेक्षया संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वम् ।[1] तद्भू-यस्त्वं विप्रकर्ष इति ।

कालकृतयोस्तु परत्वापरत्वयोरुपत्तिः कथ्यते । अनियतदिगवस्थित-योर्युवस्थविरपिडण्योः 'अयमस्मादल्पतरकालसम्बद्धः' इत्यपेक्षाबुद्ध्यानुगृहीतेन कालपिण्डसंयोगेनासमवायिकारेण यूनि, अपरत्वम् । 'अयमस्माद् बहुतर-कालेन सम्बद्धः' इति धिया स्थविरे परत्वम् ।

"द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥

"द्वित्व संख्या, पाकज गुण की उत्पत्ति तथा विभागज विभाग इन (तीनों) में जिसकी बुद्धि स्खलित नहीं होती उसे ही (विद्वज्जन) वैशेषिक (दर्शन) का ज्ञाता मानते हैं ।"

कुछ संस्करणों में यह कारिका तर्कभाषा के मूल पाठ में ही रक्खी गई है । इस कारिका का मूलस्रोत अन्वेषणीय है । वैशेषिक के ग्रन्थों में विभागज विभाग का विस्तृत विवेचन किया गया है (प्रश० तथा न्यायकन्दली, न्या० मु० का० ११९-१२०)।

(१०–११) **परत्व तथा अपरत्व**

(यह पर है, यह अपर है इस प्रकार के) पर तथा अपर व्यवहार का असा-धारण कारण परत्व एवं अपरत्व हैं। वे दो प्रकार के हैं (क) दिक्कृत और (ख) कालकृत । उनमें से (क) दिक्कृत (परत्व तथा अपरत्व) की उत्पत्ति का कथन करते हैं। एक ही दिशा में रक्खी हुई दो वस्तुओं (पिण्डों) में "यह उसकी अपेक्षा समीप है" इस प्रकार के ज्ञान के सहकार से दिशा और वस्तु के संयोग द्वारा समीपस्थ (वस्तु) में अपरत्व उत्पन्न हो जाता है । (यह इससे दूर है इस प्रकार के) दूरस्थ होने के ज्ञान से युक्त (दिशा और पिण्ड के संयोग) से तो दूरस्थ (वस्तु) में परत्व उत्पन्न हो जाता है। सामीप्य (सन्निकर्ष) का अर्थ है देखने वाले के शरीर की अपेक्षा वस्तु में संयुक्त संयोग की न्यूनता और उस संयुक्त संयोग की अधिकता ही दूरी (विप्रकर्ष) है

अब, कालकृत परत्व-अपरत्व की उत्पत्ति का वर्णन किया जाता है। अनियत दिशा में स्थित युवक तथा वृद्ध शरीरों (पिण्डों) में 'यह (युवक शरीर) इस (वृद्ध शरीर) की अपेक्षा अल्पतर काल का सम्बन्ध रखता है' इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि से युक्त काल तथा शरीर (पिण्ड) के संयोग रूप असमवायी कारण से युवक शरीर (आश्रय) में अपरत्व उत्पन्न होता है तथा यह (वृद्ध शरीर) इस (युवक शरीर) की अपेक्षा अधिक काल से सम्बन्ध रखता है इस प्रतीति से वृद्ध शरीर में परत्व उत्पन्न होता है ।

१. तद्बहुत्वम्, इति पाठा० । २. सम्बन्धीति धिया यून्यपरत्वम्, इति पाठा० ।

१२—गुरुत्वमाद्यपतनासमवायिकारणम्। पृथिवीजलवृत्ति। यथोक्तं—संयोग-वेग-प्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति।

टिप्पणी—(i) दिशा तथा काल के सन्दर्भ में भी परत्व-अपरत्व के विषय में लिखा जा चुका है (ii) **एकस्यां दिशि**—दिक्कृत परत्वापरत्व एक दिशा में स्थित दो द्रव्यों में ही उत्पन्न हुआ करते हैं, भिन्न-भिन्न दिशा में स्थित द्रव्यों में नहीं। (iii) **अनियत**—कालकृत परत्वापरत्व की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक नहीं कि दोनों पिण्ड एक ही दिशा में हों और यह भी अनिवार्य नहीं कि दोनों का द्रष्टा एक हो। (iv) 'इदमस्मात् सन्निकृष्टम्' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि परत्वापरत्व का निमित्त कारण है, दिक्-पिण्ड-संयोग असमवायी कारण है तथा जिस द्रव्य में परत्व-अपरत्व उत्पन्न होते हैं वह समवायी कारण है। (v) अपेक्षाबुद्धि०, संयोग तथा द्रव्य इन तीनों कारणों में से एक-एक या दो-दो या तीनों के विनाश से परत्व-अपरत्व का (सात प्रकार से) विनाश होता है (द्र० प्रशस्त०)

(१२) गुरुत्व

प्रथम पतन का असमवायी कारण गुरुत्व है। वह पृथिवी तथा जल में रहता है। जैसा कि कहा गया है, संयोग, वेग तथा प्रयत्न के अभाव में गुरुत्व के कारण पतन होता है।

पतन का अर्थ है नीचे की ओर जाना (गिरना) अपने वृन्त से जो फल का पतन होता है उसे पतन के दो अंश है एक तो आद्य पतन ओर दूसरा अग्रिम पतन। इन दोनों के भिन्न-भिन्न कारण होते हैं। इनके कारण पर विचार करके वैशेषिक में यह निश्चय किया गया था कि गुरुत्व' नाम का एक धर्मविशेष (गुण) है जिसके कारण किसी द्रव्य का प्रथम पतन होता है। यह गुरुत्व प्रथम पतन का असमवायी कारण होता है। आगे जो पतन-परम्परा चलती रहती है, उसमें तो वेग आदि कारण हुआ करते हैं। इसलिये यहाँ 'गुरुत्व' के लक्षण में आद्यपतन' शब्द रक्खा गया है। इस पद के रखने से वेग आदि में लक्षण नहीं जाता ।

अपने कथन की पुष्टि के लिये वैशेषिक सूत्र का प्रमाण दिया गया है। इसका अभिप्राय है कि गुरुत्व के कारण द्रव्य का पतन तभी होता है जब संयोग वेग तथा प्रयत्न का अभाव होता है। उदाहरणार्थ जब तक फल का वृन्त से संयोग होता है वह नहीं गिरता। प्राणी अपने शरीर को प्रयत्न से धारण करता है अतः शरीर नहीं गिरता। इसी प्रकार जब तक वेग होता है बाण आदि का पतन नहीं होता। इन आदि को पतन का प्रतिबन्धक माना जाता है। उनका अभाव होने पर ही पतन हुआ करता है; क्योंकि प्रतिबन्धक का अभाव भी किसी कार्य की उत्पत्ति में कारण होता है। इस प्रकार पतन का समवायी कारण कोई द्रव्य होता है, असमवायी कारण गुरुत्व आदि होता है और निमित्त कारण है संयोग आदि का अभाव।

१४-द्रवत्वमाद्यस्यन्दनासमवायिकारणम् । भूतेजोजलवृत्ति । भूतेज-सोर्घृतादिसुवर्णयोरग्निसंयोगेन[1] द्रवत्वं नैमित्तिकम् । जले नैसर्गिकं द्रवत्वम् ।

१४–स्नेहश्चिक्कणता जलमात्रवृत्तिः, कारणगुणपूर्वको गुरुत्वादि-वद् यावद्द्रव्यभावी ।

टिप्पणी—'संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्' (५·१·७) तथा 'अपां संयोगाभावे गुरुत्वात्' पतनम्' (५·२·३), ये वैशेषिक सूत्र हैं तथा संयोगप्रयत्नसंस्कारविरोधी' यह प्रशस्तपाद भाष्य का वचन है । संभवतः इनका यहाँ तात्पर्यतः उल्लेख किया गया है

(१३) द्रवत्व

प्रथम स्यन्दन (बहना) का असमवायी कारण द्रवत्व है यह भूमि, तेज और जल में रहता है । घृत आदि पृथिवी (=पार्थिव) में तथा सुवर्ण आदि तेज में नैमित्तिक द्रवत्व है जो अग्नि-संयोग (के निमित्त) से होता है । जल में स्वाभाविक द्रवत्व है ।

टिप्पणी—(i) बाद के स्यन्दन में वेग आदि कारण होता है अतः लक्षण में आद्य स्यन्दन कहा गया है । (ii) जल में सर्वत्र स्वाभाविक द्रवत्व है, हिम तथा करक (ओला) आदि में वह स्वाभाविक द्रवत्व प्रतिरुद्ध हो जाता है (द्र० प्रशस्त०) ।

(१४) स्नेह

चिकनापन ही स्नेह (गुण) है । वह केवल जल में रहता है । (कार्य में) कारण-गुण-पूर्वक होता है । गुरुत्व आदि के समान जब तक द्रव्य रहता है तब तक (स्नेह) रहता है ।

जल का विशेष गुण स्नेह है । स्नेह वह गुण है जिसके कारण पृथक्-पृथक् विद्यमान धूलि के कण या आटे के अंश एक पिण्ड रूप में हो जाया करते हैं । स्नेह दो प्रकार का होता है नित्य तथा अनित्य । जल के परमाणुओं में नित्य होता है तथा कार्य रूप जल में अनित्य । अनित्य स्नेह कारणगुणपूर्वक है; अर्थात् समवायी कारण के स्नेह से कार्य में स्नेह उत्पन्न हो जाता है; जैसे परमाणुओं के स्नेह से द्व्यणुक में, द्व्यणुक के स्नेह से त्र्यणुक में; इसी प्रकार महान् जल में कारणगुणपूर्वक स्नेह उत्पन्न होता है (मि०, कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः, वै० सू० २. १. २४) । यह अनित्य स्नेह यावद् द्रव्यभावी है, जब तक उसका आश्रय द्व्यणुक आदि रहता है तब तक रहता है । आश्रय के नाश से कार्य में स्थित स्नेह का नाश हो जाता है । यही बात गुरुत्व आदि में भी है ।

(१५) शब्द

शब्द के विवेचन में मुख्य रूप से तीन बात बतलाई गई है (क) श्रोत्र द्वारा शब्द के ग्रहण की प्रक्रिया (ख) शब्द की उत्पत्ति तथा विनाश की प्रक्रिया (ग) शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि ।

---

१. द्रवत्वान्नैमित्तिकं द्रवत्वम्, इति पाठा० ।

१४-शब्दः श्रोत्रग्राह्यो गुणः[1]। आकाशस्य विशेषगुणः। ननु कथमस्य श्रोत्रेण ग्रहणं यतो भेर्यादिदेशे शब्दो जायते श्रोत्रन्तु पूरुषदेशेऽस्ति। सत्यम्। भेरीदेशे जातः शब्दो वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा सन्निहितं शब्दान्तरमारभते। स च शब्दः शब्दान्तरमिति क्रमेण श्रोत्रदेशे जातोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते, न त्वाद्यो नापि मध्यमः। एवं वंशे पाट्यमाने दलद्वय-विभागदेशे जातः शब्दः शब्दान्तरारम्भक्रमेण श्रोत्रदेशेऽन्त्यं शब्दं जनयति। सोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते, नाद्यो न मध्यमः। 'भेरीशब्दो मया श्रुतः' इति मतिस्तु[2] भ्रान्तैव।

(क) श्रोत्र द्वारा शब्द के ग्रहण की प्रक्रिया

शब्द वह गुण है जिसका श्रोत्र के द्वारा ग्रहण किया जाता है। वह आकाश का विशेष गुण है। (शङ्का) इस (शब्द) का श्रोत्र से ग्रहण कैसे हो सकता है; क्योंकि शब्द तो भेरी आदि के देश में उत्पन्न होता है किन्तु श्रोत्र (श्रोता) पुरुष के प्रदेश में होता है? (समाधान) ठीक है भेरी के देश में उत्पन्न होने वाला शब्द वीचीतरङ्ग न्याय से या कदम्बमुकुल न्याय से (अपने) समीप में स्थित दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है और वह (समीपस्थ शब्द) दूसरे शब्द को (उत्पन्न करता है)। इस प्रकार क्रम से श्रोत्र देश में उत्पन्न हुआ अन्तिम शब्द श्रोत्र द्वारा गृहीत होता है न तो प्रथम शब्द (=आद्य) न ही मध्य वाला (शब्द)। इसी प्रकार जब बाँस को फाड़ा जाता है तब (बाँस के) दोनों दलों के विभाग-प्रदेश में उत्पन्न होने वाला शब्द अन्य शब्द को उत्पन्न करता हुआ क्रम से श्रोत्र-प्रदेश में अन्तिम शब्द को उत्पन्न करता है वह अन्तिम शब्द श्रोत्र द्वारा गृहीत होता है, न आदिम न मध्य का। 'भेरी का शब्द मैंने सुना' इस प्रकार की प्रतीति तो भ्रान्ति मात्र है।

शब्द का लक्षण है। श्रोत्रग्राह्यो गुणः। न्या०-वै० के अनुसार शब्द केवल आकाश का ही गुण है, शब्द आकाश का विशेष गुण है। यहाँ शब्द की श्रोत्रग्राह्यता में शङ्का करके उसका समाधान किया गया है। 'ननु देशेऽस्ति' इत्यादि अवतरण में शङ्का है इसका आशय है—भेरी (नगाड़े) आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है वह तो भेरी आदि के पास ही रहता है और उसको सुनने वाली श्रोत्र इन्द्रिय श्रोता के शरीर में रहती है। वह श्रोत्र इन्द्रिय शब्द के समीप नहीं होती। इसलिये श्रोत्र इन्द्रिय का शब्द (अर्थ) के साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता। फिर श्रोत्र द्वारा शब्द का ग्रहण कैसे सम्भव है?

इस शङ्का का समाधान 'सत्यम्' आदि अवतरण में किया गया है। भाव यह है कि भेरी आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है उस शब्द से दूसरा शब्द उत्पन्न हो जाता है और दूसरे शब्द से भी तीसरा शब्द उत्पन्न हो जाता है। यह परम्परा तब तक

१. गुणः, इति क्वचिन्नास्ति।
२. धीरत्र, इति पाठा०'।

चलती रहती है जब तक श्रोता के श्रोत्र के देश में शब्द उत्पन्न नहीं हो जाता। श्रोत्र-देश में जो शब्द उत्पन्न होता है उसका ही समवाय सम्बन्ध से श्रोत्र द्वारा ग्रहण होता है। इस शब्द-परम्परा में भेरी-देश में उत्पन्न होने वाले शब्द आद्य=आदिम=प्रथम शब्द है। श्रोत्र-देश में उत्पन्न होने वाला अन्तिम या अन्त्य शब्द है। बीच के शब्द मध्यम शब्द हैं। श्रोत्र के द्वारा अन्तिम शब्द का ग्रहण होता है, न आद्य का न मध्यम का।

इसी प्रकार बांस के फाड़ने से जो शब्द उत्पन्न होता है उससे भी अन्य शब्दों की उत्पत्ति होते-होते श्रोत्र देश में अन्तिम शब्द की उत्पत्ति होती है और उसका श्रोत्र द्वारा ग्रहण हो जाता है। भेरी से उत्पन्न शब्द संयोगज शब्द है। वह भेरी तथा दण्ड के संयोग से उत्पन्न होता है। किन्तु बांस के फाड़ने से उत्पन्न होने वाला शब्द विभागज है वह बांस के दो दल के विभाग से उत्पन्न होता है। इसी हेतु यहाँ दो उदाहरण दिये गये हैं।

भेरी आदि से उत्पन्न होने वाले शब्द से अन्य शब्द किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, इस प्रक्रिया को दो प्रकार से दिखलाया गया है—(१) वीचीतरङ्गन्याय—वीची का अर्थ है लहर। किसी द्रव्य के संयोगविशेष (नोदन या अभिघात) से पानी में जो लहर उठती है वही वीची (वीचि) है। तरङ्ग शब्द भी लेहर का समानार्थक है। किन्तु यहाँ 'तरङ्ग' शब्द का अर्थ लहर की गति (फलांग jump) प्रतीत होता है। इस प्रकार लहरें जो आगे-आगे बढ़ती जाती हैं वही वीचीतरङ्ग है। अथवा वीची से उत्पन्न तरङ्गें=एक के बाद दूसरी, इस क्रम से उत्पन्न होने वाली तरङ्गें ही वीची तरङ्ग हैं। जिस प्रकार पानी में किसी पत्थर आदि के फेंकने से उस पत्थर के सभी ओर—दशों दशाओं में एक लहर उठती है और उस लहर से फिर दूसरी लहर उठती है: इस क्रम से आगे लहरें उठती जाती हैं। इसी प्रकार भेरी तथा दण्ड के संयोग से या बांस के फाड़ने से जो शब्द उत्पन्न होता है उसके द्वारा सभी ओर अविच्छिन्न रूप से या कहिये वृत्ताकार रूप में दूसरा शब्द उत्पन्न हो जाता है। फिर दूसरे शब्द से तीसरा। इसी क्रम से शब्द की तरङ्गें उत्पन्न होती हैं और श्रोत्र प्रदेश तक पहुँच जाती हैं तब श्रोत्र-देश में स्थित शब्द का श्रोता द्वारा ग्रहण होता है।

(२) कदम्बमुकुलन्याय—कदम्बमुकुल=कदम्ब-कली। उसके विकास की प्रक्रिया यह है कि प्रथमतः बीजकोश के सभी ओर छोटी-छोटी अनेक पंखड़ियाँ विच्छिन्न वृत्ताकार में विकसित होती हैं। फिर उन अनेक पंखड़ियों के विकास से आग्रिम पंक्ति की अनेक पंखड़ियाँ विकसित होती हैं। इस क्रम से अग्रिम पंक्तियों में पंखड़ियों का विकास होता रहता है। इसी प्रकार प्रथम शब्द से सभी ओर पृथक्-पृथक् अनेक शब्दों की पंक्ति उत्पन्न होती है फिर इस पंक्ति के शब्दों से उत्तरोत्तर शब्दों की पंक्तियाँ उत्पन्न होती जाती है। और, अन्तिम शब्द-पंक्ति का शब्द श्रोत्र द्वारा सुना जाता है।

भेरीशब्दोत्पत्तौ भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायिकारम्, भेरीदण्डसंयोगो निमित्तकारणम्[1] । एवं वंशोत्पाटनाच्चटचटाशब्दोत्पत्तौ वंशदलाकाशविभागोऽसमवायिकारणम्, दलद्वयविभागो निमित्तकारणम् । [2]इत्थमाद्यः शब्दः

वीचीतरङ्ग न्याय के अनुसार सभी ओर उत्पन्न होने वाला शब्द वृत्ताकार तरङ्ग के रूप में एक होता है किन्तु कदम्ब-मुकुल न्याय के अनुसार सभी ओर उत्पन्न होने वाले शब्द अनेक होते हैं । दूसरे मत में अनेक शब्दों की उत्पत्ति तथा विनाश की कल्पना करनी पड़ती है अतः गौरव है । इसलिये प्रथम मत ही न्या०-वै० का सिद्धान्त मत है ।

टिप्पणी—उपर्युक्त दोनों न्यायों का स्वरूप न्या० मु० (का० १६६) में इस प्रकार बतलाया गया है—वीचीति—आद्यशब्दस्य बहिर्दशदिगवच्छिन्नोऽन्यः शब्दस्तैनैव शब्देन जन्यते तेन चापरस्तद्व्यापकः । एवं क्रमेण श्रोत्रोत्पन्नो गृह्यते । कदम्बेति—आद्यशब्दाद् दशदिक्षु दश शब्दा उत्पद्यन्ते । तैश्चान्ये दश शब्दा उत्पद्यन्ते इति भावः । अस्मिन्मते गौरवादुक्तं कस्यचिन्मते, इति । यहाँ 'दशदिक्षु' यह उपलक्षणमात्र है । वस्तुतः सभी ओर परस्पर विच्छिन्न शब्दों की एक पंक्ति उत्पन्न होती है, यही भाव है । इन दोनों मतों का भेद इस रेखाचित्र से स्पष्ट है—

वीचीतरङ्गन्याय

कदम्बमुकुलन्याय

अब प्रश्न यह है कि यदि भेरी-प्रदेश आदि जो प्रथम शब्द की उत्पत्ति के प्रदेश हैं उनमें शब्द का ग्रहण नहीं होता किन्तु श्रोत्र-देश में उत्पन्न हुए शब्द का ग्रहण होता है तो 'यह भेरी का शब्द है' इत्यादि प्रतीति कैसे होती है । इसके उत्तर में कहा गया है—भेरी······भ्रान्तैव । भाव यह है कि भेरी के शब्द से उत्पन्न होने वाला जो शब्दज शब्द है श्रोत्र द्वारा उसका ही ग्रहण होता है, भेरी से उत्पन्न शब्द का नहीं । किन्तु भ्रान्ति से यह समझ लिया जाता है कि हम भेरी से उत्पन्न शब्द का ही ग्रहण कर रहे हैं ।

(ख) शब्द की उत्पत्ति तथा विनाश की प्रक्रिया

भेरी के शब्द की उत्पत्ति में भेरी तथा आकाश का संयोग असमवायी कारण है, भेरी तथा दण्ड का संयोग निमित्त कारण है । इसी प्रकार बांस के फाड़ने से जो चट-चट का शब्द उत्पन्न होता है उसमें बांस के खण्ड (दल) तथा आकाश का विभाग असमवायी कारण है, (बांस के) दोनों दलों का विभाग निमित्त कारण है । इस

१. आकाशः समवायिकारणम्, इत्यधिकः पाठः ।
२. इत्याद्यः, इति पाठा० ।

संयोगजो विभागजो वा । अन्त्यमध्यमशब्दास्तु शब्दासमवायिकारणका अनुकूलवातनिमित्तकारणकाः । यथोक्तं—'संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः' इति । आद्यादीनां सर्वशब्दानामाकाशमेव समवायिकारणम् । कर्मबुद्धिवत् [1]त्रिक्षणावस्थायित्वम् । तत्राद्यमध्यमशब्दाः कार्यशब्दनाश्याः । अन्त्यस्तूपान्त्येन उपान्त्यस्त्वन्त्येन सुन्दोपसुन्दन्यायेन विनश्येते । इदं त्वयुक्तम् । उपान्त्येन [2]त्रिक्षणावस्थायिनाऽन्त्यस्य द्वितीयक्षणमात्रानुगामिना तृतीयक्षणे चासताऽन्त्यनाशजननासम्भवात् । तस्मादुपान्त्यनाशादेवान्त्यनाश इति ।

प्रकार प्रथम शब्द या तो संयोगज होता है अथवा विभागज । अन्तिम तथा मध्यम शब्दों (की उत्पत्ति) का तो शब्द ही असमवायी कारण होता है अनुकूल वायु निमित्त कारण होता है । जैसा (वै० सू० २.२.३१) कहा गया है—संयोग से, विभाग से और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है । प्रथम इत्यादि शब्दों का आकाश ही समवायी कारण है । कर्म तथा ज्ञान (=बुद्धि) के समान शब्द भी तीन क्षण रहने वाला है । उनमें से प्रथम तथा मध्यम शब्द अपने कार्य शब्दों द्वारा नष्ट होते हैं । (किन्हीं का मत है) अन्तिम शब्द का उपान्त्य (अन्तिम से पूर्व) शब्द के द्वारा तथा उपान्त्य शब्द का अन्तिम के द्वारा सुन्दोपसुन्द न्याय से नाश हो जाता है । यह (मानना) तो युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि तीन क्षण रहने वाले, केवल द्वितीय क्षण तक अन्तिम शब्द का अनुसरण करने वाले, अथ च तृतीय क्षण में विद्यमान न रहने वाले उपान्त्य शब्द के द्वारा अन्तिम (शब्द) का नाश नहीं हो सकता । इसलिये उपान्त्य (शब्द) के नाश से ही अन्तिम शब्द का नाश होता है ।

यहाँ भेरीशब्दोत्पत्तौ······समवायिकारणम्, इस अंश में शब्द की उत्पत्ति के समवायी, असमवायी तथा निमित्त कारण का उल्लेख किया गया है । साथ ही वैशेषिक सूत्र का उद्धरण देकर यह भी दिखलाया गया है कि उत्पत्ति के विचार से शब्द तीन प्रकार का है—संयोगज, विभागज और शब्दज । जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, प्रथम (आद्य) शब्द संयोग से उत्पन्न होता है या विभाग से किन्तु मध्य की शब्द-सन्तति तथा अन्त्य शब्द (जो श्रोत्र द्वारा सुना जाता है) वे सभी शब्द से उत्पन्न हुआ करते हैं शब्दज हैं ।

प्रत्येक शब्द तीन क्षण से सम्बन्ध रखता है । न्या०-वै० के अनुसार कर्म तथा ज्ञान क्षणत्रयावस्थायी हैं उसी प्रकार शब्द भी क्षणत्रयावस्थायी है । भाव यह है कि प्रथम क्षण में शब्द उत्पन्न होता है द्वितीय क्षण में स्थित रहता है और तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है । गुण का नाश दो प्रकार से हुआ करता है—(क) आश्रय के नाश से अथवा (ख) विरोधी गुणों की उत्पत्ति से । शब्द का आश्रय आकाश है, वह नित्य

१. क्षणमात्रा० इति पाठ० ।
२. त्रिक्षणावस्थायित्वाद्, इति पाठा० ।

है अतः प्रथम प्रकार से शब्द का नाश सम्भव नहीं। शब्द का नाश किस प्रकार होता है, यह 'तत्राद्यमध्यमशब्दाः······ नाश इति' इस अवतरण में बतलाया गया है।

उपर्युक्त प्रथम, मध्यम तथा अन्त्य शब्दों में से प्रथम तथा मध्यम शब्दों का नाश अपने कार्य शब्द के द्वारा हो जाता है। प्रथम शब्द का उससे उत्पन्न होने वाले द्वितीय शब्द से, द्वितीय का उससे उत्पन्न होने वाले तृतीय शब्द से नाश होता है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व शब्द का उत्तर-उत्तर शब्द से नाश हुआ करता है। किन्तु अन्तिम शब्द का तो कोई कार्य शब्द नहीं होता अतः उसका नाश अपने कार्य के द्वारा नहीं हो सकता। अन्तिम शब्द के नाश के विषय में दो मत हैं। किन्हीं के अनुसार अन्तिम शब्द का उपान्त्य (अन्तिम से पूर्व) शब्द से नाश होता है और उपान्त्य का अन्तिम शब्द से। जिस प्रकार पौराणिक गाथा के अनुसार सुन्द तथा उपसुन्द ने परस्पर एक-दूसरे का वध कर दिया था उसी प्रकार अन्तिम तथा उपान्त्य दोनों शब्द एक-दूसरे के नाशक हुआ करते हैं। किन्तु इस मत का तर्कभाषाकार ने खण्डन किया है, क्योंकि यह युक्तिसंगत नहीं है। कैसे ? अभी कहा गया है कि शब्द क्षणत्रयावस्थायी है। इस प्रकार—

१. जिस क्षण में उपान्त्य शब्द की स्थिति होती है, उस क्षण में अन्त्य शब्द की उत्पद्यमानता होती है।

२. द्वितीय क्षण में उपान्त्य शब्द की स्थिति होती है, उसमें अन्त्य शब्द की उत्पत्ति होती है।

३. तृतीय क्षण में उपान्त्य शब्द की विनश्यत्ता होती है तब अन्त्य शब्द की स्थिति का क्षण होता है।

इस तृतीय क्षण के बाद उपान्त्य शब्द विद्यमान ही नहीं रहता फिर वह अग्रिम क्षण में अन्त्य शब्द का नाशक कैसे हो सकता है ? अतः उपान्त्य शब्द से अन्त्य का नाश नहीं होता, अपितु तृतीय क्षण में होने वाले उपान्त्य शब्द के नाश से अन्तिम शब्द का नाश होता है, यह तर्कभाषाकार का अभिप्राय है (तस्मादुपान्त्य-नाशादेव अन्त्यनाश इति)।

टिप्पणी—(i) प्रशस्त० में **'क्षणिकः कार्यकारणोभयविरोधी'** यह कहा गया है। इसकी व्याख्या में किसी (?) ने उपर्युक्त मत की स्थापना की थी, उसका ही तर्कभाषाकार ने खण्डन किया है। वस्तुतः अन्त्य शब्द का नाश कैसे होता है ? इस विषय में न्या०-वै० में अनेक मत हैं (द्र० न्या० क०)। न्यायभाष्य में कहा गया है 'कार्यः शब्दः कारणशब्दं निरुणद्धि, प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्तु अन्त्यस्य शब्दस्य निरोधकः (न्या० भा० २. २. ३५)। (ii) **त्रिक्षणावस्थायित्वम्**—इस शब्द का अर्थ है तीन क्षण तक स्थित रहना, किन्तु न्या०वै० के अनुसार शब्द क्षणिक है, वह प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, द्वितीय में स्थित रहता है तथा तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। अतः इस पद का अर्थ भी यही युक्तियुक्त प्रतीत होता है (मि० न्या० मु० का० २७)।

विनाशित्वञ्च शब्दस्यानुमानात् । तथाहि, अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवदिति । शब्दस्यानित्यत्वं साध्यम् । अनित्यत्वञ्च विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वं न तु विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वम्, प्रागभावे सत्ताहीनेऽनित्यत्वाभावप्रसङ्गात् । सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं[1] हेतुः । [2]इन्द्रियग्राह्यत्वादित्युच्यमाने आत्मनि व्यभिचारः स्यादत उक्तं बाह्येति । एवमपि तेनैव[3] योगिबाह्येन्द्रियेण ग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्यादतो योगिनिरासार्थमुक्तमस्मदादीति ।

किं पुनर्योगिसद्भावे प्रमाणम् ? उच्यते । परमाणवः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वाद् घटवदिति[4] । तथापि सामान्यादिना व्यभिचारोऽत उक्तं सामान्यवत्त्वे सतीति । सामान्यादित्रयं तु निःसामान्यम्[5] ।

(ग) शब्द की अनित्यता की सिद्धि

शब्द का नाशवान् होना (विनाशित्व=अनित्यता) तो अनुमान से सिद्ध होता है । जैसे कि शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह सामान्य से युक्त होकर हमारी बाह्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है, (हेतु), जैसे 'घट' (उदाहरण) । यहाँ शब्द का अनित्यत्व साध्य है । अनित्यत्व का अर्थ है नाशवान् स्वरूप वाला होना, (इसका अर्थ) विनाश से युक्त सत्ता वाला होना नहीं है (ऐसा मानने पर) सत्ता (जाति) से रहित जो प्रागभाव है उसमें अनित्यता का अभाव होने लगेगा । (अनित्यता की सिद्धि के लिये) सामान्ययुक्त होकर हमारी बाह्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होना, यह हेतु है । यदि 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्; इतना ही कहा जाता तो आत्मा में (हेतु का) व्यभिचार हो जाता, इसलिये 'बाह्य (शब्द) कहा गया है । इतना (बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्) होने पर भी योगी की बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने वाले उसी परमाणु आदि में व्यभिचार हो जायेगा, अतः योगी के निवारण (निरास=व्यावृत्ति) के लिये 'अस्मदादि' (हमारी) यह कहा गया है । किन्तु योगी होता है, इसमें क्या प्रमाण है ? बतलाते हैं (यह अनुमान है) परमाणु किसी के प्रत्यक्ष होते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे प्रमेय हैं (हेतु), जैसे 'घट' (उदाहरण) । फिर भी सामान्य आदि में व्यभिचार होगा, इसलिये कहा है 'सामान्यवत्त्वे सति' । सामान्य आदि तीनों तो सामान्यरहित होते हैं ।

अनित्यत्व का स्वरूप क्या है ? इसके उत्तर में किसी ने कहा था 'विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वम् अनित्यत्वम्; अर्थात् नाश को प्राप्त होने वाली सत्ता वाला होना ही अनित्यत्व है अथवा कहिये कि वह पदार्थ अनित्य कहलाता है, जो नाशवान

---

१. प्रत्यक्षत्वं, इति पाठा० ।
२. प्रत्यक्षत्वा०, इति पाठा० ।
३. तेनैव, इति क्वचिन्नास्ति ।
४. यस्य प्रत्यक्षाः स एव योगी, इत्यधिक पाठः ।
५. ०त्रयस्य निःसामान्यत्वात्, इति पाठा० ।

है जिसमें सत्ता (जाति) रहती है। किन्तु अनित्यत्व का यह लक्षण प्रागभाव में घटित नहीं हो सकता। वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व जो उसका अभाव होता है, उसे प्रागभाव कहते हैं। वह अनित्य है। वस्तु की उत्पत्ति होने पर वह नहीं रहा करता, नष्ट हो जाता है। किन्तु प्रागभाव में सत्ता नामक जाति नहीं मानी जाती। न्या०-वै० के अनुसार 'सत्ता' तो केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहती है, अन्यत्र नहीं। अतः विनाशावच्छिन्न सत्तायोगित्वम्' यह अनित्यत्व का लक्षण प्रागभाव में घटित नहीं होता और यह युक्तियुक्त नहीं। फलतः विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वम् = विनाशम् से युक्तस्वरूप होना ही अनित्यत्व का लक्षण मानना चाहिये। जिसका स्वरूप नष्ट हो जाता है, वही अनित्य है। प्रागभाव के स्वरूप का भी विनाश हो जाता है अतः उसमें भी अनित्यत्व का लक्षण चला जाता है।

मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं। उनके मत का निराकरण करने के लिये यहाँ शब्द की अनित्यता सिद्ध की गई है। अनित्यता में हेतु दिया गया है सामान्यवत्त्वे सति, अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्'। इसमें प्रत्येक पद का क्या प्रयोजन (पदकृत्य) है, यह ग्रन्थकार ने स्वयं ही स्पष्ट किया है। संक्षेप में भाव यह है—यदि यहाँ 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना ही हेतु दिया जाय तो आत्मा में भी यह हेतु चला जाता; क्योंकि आत्मा भी 'मन' इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। किन्तु आत्मा तो अनित्य नहीं है अतः हेतु व्यभिचारी होता। इस दोष के निवारण के लिये 'बाह्य' शब्द हेतु में रक्खा गया है। आत्मा तो बाह्येन्द्रियग्राह्य नहीं है अतः दोष नहीं रहता। अब भी दोष यह है कि परमाणु आदि भी योगी की बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं अतः वे भी अनित्य होने लगेंगे। इस दोष के निवारण के लिये 'अस्मदादि' शब्द दिया गया है। हमारी = योगी से भिन्न जनों की बाह्येन्द्रिय से जो ग्राह्य होता है, वह अनित्य होता है, यह भाव है। अब यदि 'अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना ही हेतु दिया जाता तो सामान्य आदि में हेतु का व्यभिचार हो जाता। नियम यह है कि 'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तदभावस्तत्समवायश्च गृह्यते' इस प्रकार सामान्य आदि भी 'अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्य' होते हैं, उदाहरणार्थ रूपत्व, गोत्व आदि भी चक्षुग्राह्य होते हैं। किन्तु सामान्य को अनित्य नहीं माना जाता। इस दोष के निवारण के लिये कहा गया है 'सामान्यवत्त्वे सति'। सामान्य आदि में तो सामान्य नहीं रहती अतः वहाँ हेतु नहीं रहता और कोई दोष नहीं।

सामान्यादित्रयम्—यहाँ आ० विश्वेश्वर के अनुसार सामान्य, विशेष तथा समवाय ही सामान्य आदि तीन हैं। किन्तु ऐसा मानने में कठिनाई यह है कि विशेष तो 'अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्य' ही नहीं है फिर उसमें हेतु के चले जाने का प्रश्न ही नहीं उठताः। अतः यहाँ सामान्यादित्रय से सामान्य, समवाय तथा अभाव का ग्रहण उचित प्रतीत होता है। 'येनेन्द्रियेण' इत्यादि नियम के अनुसार अभाव को भी अस्मदादि बाह्येन्द्रियग्राह्य माना जाता है तथा न्या०-वै० में अत्यन्ताभाव को नित्य भी माना जाता है।

१६–अर्थप्रकाशो बुद्धिः । 'नित्याऽनित्या च । ऐशी बुद्धिर्नित्या, अन्यदीया त्वनित्या ।

१७–प्रीतिः सुखम् । तच्च सर्वात्मनामनुकूलवेदनीयम् । १८–पीडा दुःखम् । तच्च सर्वात्मनां प्रतिकूलवेदनीयम् । १९–राग इच्छा । २०–क्रोधो द्वेषः । २१–उत्साहः प्रयत्नः । बुद्ध्यादयः षड् मानसप्रत्यक्षाः ।

किं पुनः—मीमांसक योगी की सत्ता को स्वीकार नहीं करते (चि०) उनके मत का निराकरण करने के लिये 'परमाणवः' इत्यादि अनुमान द्वारा योगी की सिद्धि की गई है ।

(१६) बुद्धि

अर्थ का प्रकाशन (ज्ञान) बुद्धि है । वह नित्य तथा अनित्य होती है । ईश्वर की बुद्धि नित्य है और अन्यों की अनित्य है ।

न्या०-वै० में ज्ञान तथा बुद्धि शब्द समानार्थक हैं—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् (न्या० सू० १.१.१५) । यहाँ सांख्य के समान बुद्धि को एक अन्तःकरण नहीं माना जाता । इसलिये कहा गया है । 'अर्थप्रकाशो बुद्धिः' । यह बुद्धि आत्मा का गुण है । आत्मा को ही मन तथा बाह्येन्द्रियों के द्वारा अर्थ का प्रकाश या ज्ञान होता है । बुद्धि का न्या० भा०, प्रशस्त० आदि में विस्तृत विवेचन किया गया है । वैशेषिक सम्प्रदाय में बुद्धि के अन्तर्गत ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विवेचन किया जाता है (द्र० भूमिका) ,

(१७--२२) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न

प्रीति (का नाम) सुख है । उस (सुख) का समस्त आत्माओं के द्वारा अनुकूल रूप में अनुभव किया जाता है ।

पीड़ा (का नाम) दुःख है । उस (दुःख) का समस्त आत्माओं के द्वारा प्रतिकूल रूप में अनुभव किया जाता है ।

राग को इच्छा कहा गया है, क्रोध को द्वेष कहा गया है । उत्साह को प्रयत्न कहा गया है । बुद्धि आदि ६ गुणों का मानस प्रत्यक्ष होता ।

बुद्धि आदि के होने में क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में कहा गया है बुद्ध्यादयः' इत्यादि । भाव यह है कि बुद्धि आदि ६ आत्मा के गुण हैं । मन तथा आत्मा का संयोग होता है तथा आत्मा में समवाय सम्बन्ध से बुद्धि आदि रहते हैं । अतः संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष के द्वारा मन से बुद्धि आदि का प्रत्यक्ष हो जाता है । उस प्रत्यक्ष का स्वरूप है 'अहं घटं जानामि' इत्यादि । इस अनुव्यवसाय में ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है । इसी प्रकार ('अहं सुखी' इत्यादि में) सुख आदि का भी प्रत्यक्ष होता है ।

---

१. नित्या······अनित्या, इति क्वचिन्नास्ति ।

२२-२३-धर्माऽधर्मौ सुखदुःखयोरसाधारणंकारणे । तौ चाप्रत्यक्षावप्या'गमगम्यावनुमानगम्यौ' च । 'तथाहि देवदत्तस्य शरीरादिकं देवदत्तविशेषगुणजन्यं कार्यत्वे सति देवदत्तस्य भोगहेतुत्वात् । देवदत्तप्रयत्नजन्यवस्तुवत् । यश्च शरीरादिजनक आत्मविशेषगुणः स एव धर्मोऽधर्मश्च । प्रयत्नादीनां शरीराद्यजनकत्वादिति ।

२४-संस्कारव्यवहाराऽसाधारणं कारणं संस्कारः । संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च । तत्र वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः । स

(२२--२३) धर्म तथा अधर्म

(आत्मा के) सुख तथा दुःख के असाधारण कारण धर्म तथा अधर्म हैं । यद्यपि वे दोनों प्रत्यक्ष के विषय नहीं (अप्रत्यक्षौ) तथापि आगम तथा अनुमान द्वारा जाने जाते (गम्य = ज्ञेय) हैं । क्योंकि (अनुमान है) देवदत्त के शरीर आदि देवदत्त के विशेष गुणों से उत्पन्न होते हैं (प्रतिज्ञा); क्योंकि ये कार्य होते हुए देवदत्त के भोग के हेतु हैं (हेतु); जैसे देवदत्त के प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली (वस्त्र आदि) वस्तु है (उदाहरण) । और, जो शरीर आदि का निमित्त होने वाला आत्मा का विशेष गुण है, वही धर्म तथा अधर्म है; क्योंकि प्रयत्न आदि तो शरीर आदि के उत्पादक नहीं होते ।

धर्म तथा अधर्म अतीन्द्रियं हैं । मन से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । उनकी सत्ता में अनुमान ही प्रमाण है । अनुमान का प्रयोग है—देवदत्तस्य शरीरादिकम् इत्यादि । यहां शरीर आदि आत्मा के विशेष गुण से जन्य होते हैं, यह साध्य है । 'कार्यत्वे सति देवदत्तस्य (आत्मनः) भोगहेतुत्वात्' यह हेतु है । इस हेतु में यदि 'कार्यत्वे सति' इतना न रखते तो आत्मा में ही हेतु का व्यभिचार हो जाता; क्योंकि आत्मा भी भोगहेतु (समवायी कारण) है । 'देवदत्तस्य' पद यह दिखलाने के लिये रक्खा गया है कि जो शरीर आदि जिसके भोग का हेतु होता है वह उसके ही विशेष गुण से जन्य होता है । इस अनुमान द्वारा केवल यह सिद्ध होता है कि शरीर आदि आत्मा के विशेष गुण से उत्पन्न (=जन्य) होते हैं । किन्तु आत्मा के विशेष गुण तो प्रयत्न आदि भी हैं इसलिये कहा गया है 'प्रयत्नादीनां शरीराद्यजनकत्वात्' क्योंकि शरीर की उत्पत्ति से पूर्व किसी आत्मा के प्रयत्न आदि नहीं हो सकते अतः उसके प्रयत्न आदि शरीर के जनक नहीं हो सकते । इस प्रकार परिशेषानुमान से धर्म, अधर्म की सिद्धि होती है । इनकी सत्ता में आगम प्रमाण भी है ही ।

(२४) संस्कार

संस्कार सम्बन्धी व्यवहार का असाधारण कारण संस्कार है । संस्कार तीन प्रकार का है, वेग, भावना और स्थितिस्थापक । उनमें वेग पृथिवी आदि (पृथिवी,

१. आगमगम्यौ, इति क्वचिन्नास्ति ।
२. अनुमीयेते, इति पाठा० ।
३. तथाहि, इति क्वचिन्नास्ति ।

च क्रियाहेतुः । भावनाख्यस्तु संस्कार 'आत्ममात्रवृत्तिरनुभवजन्यः स्मृतिहेतुः । स चोद्बुद्ध एव स्मृतिं जनयति । उद्बोधश्च सहकारिलाभः । सहकारिणश्च संस्कारस्य सदृशदर्शनादयः । तथा चोक्तम्—

'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः ।

इति । स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवद्द्रव्यविशेषवृत्तिः । अन्यथाभूतस्य स्वाश्रयस्य धनुरादेः पुनस्तादवस्थ्यापादकः । एते च बुद्ध्यादयोऽधर्मान्ता' भावना च आत्मविशेषगुणाः । उक्ता गुणाः ।

[कर्माणि]

'इदानीं कर्मोच्यते । चलनात्मकं कर्म । गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति । अविभुद्रव्यपरिमाणेन मूर्तत्वापरनाम्ना सहैकार्थसमवेतं विभागद्वारा पूर्व-

जल, तेज, वायु) तथा मन में रहता है । और वह क्रिया का हेतु होता है । भावना नामक संस्कार तो केवल आत्मा में रहता है । वह अनुभव से उत्पन्न होता है तथा स्मृति का हेतु होता है । और, वह उद्बुद्ध होकर ही स्मृति को उत्पन्न करता है । उद्बोध का अर्थ है सहकारी (कारण) की प्राप्ति । और संस्कार के सहकारी हैं । 'सदृशदर्शन' आदि । जैसे कि कहा जाता है सादृश्य, अदृष्ट तथा चिन्ता इत्यादि स्मृति के हेतु (संस्कार) के उद्बोधक होते है । स्थितिस्थापक (नामक संस्कार) तो स्पर्श वाले विशेष द्रव्यों में रहता है । वह अपने आश्रय धनुष आदि के अन्य आकार का हो जाने पर फिर उसी (पहली) स्थिति में पहुँचा देने वाला होता है ।

ये बुद्धि आदि अधर्म पर्यन्त तथा भावना-आत्मा के (९) विशेष गुण हैं ।

इस प्रकार गुणों का निरूपण किया गया है ।

अनुभवजन्यः स्मृतिहेतुः—इस कथन के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि भावना नामक संस्कार का हेतु अनुभव होता है । इस भावना नामक संस्कार से स्मृति उत्पन्न हुआ करती है । स्मृति ही इस संस्कार की सत्ता में प्रमाण है । यदि अनुभव के अनन्तर आत्मा में कोई संस्कार उत्पन्न न हुआ करे तो पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण ही न हुआ करे ।

स चोद्बुद्ध एव—संस्कार कदाचित् ही स्मृति का जनक क्यों होता है ? इसका उत्तर है कि उद्बुद्ध (जागा हुआ) संस्कार ही स्मृति का जनक हुआ करता है । इसलिये जब संस्कार के उद्बोधक उपस्थित होते हैं तभी संस्कार उद्बुद्ध होकर स्मृति को उत्पन्न करता है सदा नहीं ।

[३] कर्म-निरूपण

अब कर्म का निरूपण किया जाता है । कर्म का स्वरूप है क्रिया (चलना, हिलना, गति) । वह गुण के समान केवल द्रव्य में ही रहता है । जिसका दूसरा नाम मूर्त्त परिमाण है उस अविभु द्रव्य के परिमाण के साथ एक द्रव्य में समवेत (समवाय

१. आत्मवृत्तिः, इति पाठा० ।

२. धर्माधर्मौ, इति पाठा० ।

३. कर्माणि उच्यन्ते, इति पाठा० ।

संयोगनाशे सत्युत्तरदेशसंयोगहेतुश्च । तच्च उत्क्षेपण-अवक्षेपण-आकुञ्चन-प्रसारण-गमन भेदात् पञ्चविधम्[1] । भ्रमणादयस्तु गमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते ।

[सामान्यम्]

अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम् । द्रव्यादित्रयवृत्ति, नित्यमेकमनेकानुगतञ्च । तच्च द्विविधं, परमपरञ्च । परं सत्ता बहुविषयत्वात् । सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात् सामान्यमात्रम् । अपरं द्रव्यत्वादि, अल्पविषयत्वात् । तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषः[2] ।

सम्बन्ध से रहने वाला) होता है । विभाग के द्वारा पूर्वसंयोग का नाश हो जाने पर उत्तरदेश के साथ संयोग का निमित्त होता है । वह पाँच प्रकार का है—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन । भ्रमण आदि का तो 'गमन' के ग्रहण से ग्रहण हो जाता है ।

कर्म का अर्थ है क्रिया = गति = चलना । मूर्त्त का अर्थ है परिच्छिन्न परिमाण वाला । केवल मूर्त्त द्रव्यों में ही कर्म रहता है । परममहत् परिमाण वाले जो आकाश आदि हैं उनमें कर्म नहीं रहता । कर्म उत्तरदेश संयोग का हेतु होता है (द्र० ऊपर पृ० ४६) । कर्म का विस्तृत विवेचन प्रशस्त० आदि में किया गया है ।

[४] सामान्य

समानाकारक प्रतीति (अनुगत प्रत्यय) का हेतु सामान्य (जाति) है । वह द्रव्य आदि तीन (द्रव्य, गुण, कर्म) में रहती है, नित्य है एक है तथा अनेकों में अनुगत (समवेत = अन्वित) रहती है । वह दो प्रकार की है पर तथा अपर । पर (सामान्य) सत्ता है, क्योंकि उसका क्षेत्र अधिक है और, वह (परसामान्य या सत्ता) केवल समानाकारक प्रतीति का ही हेतु है अतः वह केवल सामान्य ही है । अपर सामान्य द्रव्यत्व आदि है क्योंकि वह अल्प देश में रहती है । और वह (अपर सामान्य द्रव्यत्व आदि) भेद (व्यावृत्ति = व्यवच्छेद) का भी हेतु है अतः वह सामान्य होकर भी विशेष है (अर्थात् वह सामान्यविशेष कहलाती है) ।

हमें अनेक घटों में यह घट है, यह घट है; इस प्रकार की समानाकारक प्रतीति हुआ करती है । यह समानाकारक (= एकाकारक) प्रतीति ही अनुवृत्ति प्रत्यय कहलाता है इस समानाकारक प्रतीति का निमित्त क्या है ? इसके उत्तर में न्या०-वै० का कथन है कि समस्त घट आदि में एक समानधर्म रहता है जिसे सामान्य या जाति कहते हैं (समाना नां भावः सामान्यम्) । इस धर्म को धर्मिवाचक शब्द से 'त्व' प्रत्यय लगाकर दिखलाया जाता है जैसे घटत्व, पटत्व, गोत्व आदि । यहाँ 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' इस वचन के द्वारा सामान्य की सत्ता में प्रमाण दिखलाया गया है तथा उसका स्वरूप भी बतला दिया गया है । किन्हीं के मत में यह सामान्य का एक लक्षण ही है ।

---

१. पञ्चधा, इति पाठा० ।

२. सामान्यविशेषः, इति पाठा० ।

वस्तुतः सामान्य का लक्षण है 'नित्यम् एकम् अनेकानुगतं च'। सामान्य में तीन बातें होनी हैं नित्यत्व, एकत्व और अनेकानुगतत्व। यहाँ अनेकानुगतत्व का अर्थ है अनेक आश्रयों में समवाय सम्बन्ध से रहना। न्या०-मु० आदि में 'नित्यत्वे सति. अनेकसमवेतत्वम्' यह लक्षण किया गया है। इससे भी स्पष्ट है कि अनेकानुगतत्व = अनेकसमवेतत्वम्। सामान्य लक्षण में यदि 'नित्यम्' पद न दिया जाता तो संयोग आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। संयोग भी एक होता हुआ अनेक द्रव्यों में रहता है। लक्षण में 'नित्य' शब्द रखने पर तो यह दोष नहीं रहता; क्योंकि संयोग तो नित्य नहीं, अनित्य होता है। फिर यदि इस लक्षण में 'एकम्' यह पद न रक्खा जाता तो जल परमाणु केरूप आदि में अतिव्याप्ति हो जाती; क्योंकि वह नित्य होता है। और अनेक जलपरमाणुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। 'एक' शब्द रखने पर तो यह दोष नहीं रहता, क्योंकि जलपरमाणुओं का रूप तो भिन्न-भिन्न परमाणुओं में पृथक् पृथक् माना जाता है, वह एक नहीं। अब. यदि यहाँ 'अनेकानुगमम्' (अनेकसमवेनम्) यह पद न रक्खा जाता तो आकाश के परिमाण आदि में अतिव्याप्ति हो जाती; क्योंकि आकाश का परिमाण (परममहत्त्व) नित्य है तथा एक भी है, अनेकानुगत, शब्द रखने पर तो यह दोष नहीं रहता, क्योंकि आकाश तो एक है, उसका परिमाण एक में रहता है अनेकानुगत नहीं। फिर भी यदि यहाँ 'अनुगत' शब्द का अर्थ 'समवेते न किया जाये तो इस लक्षण की अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति हो जायेगी; क्योंकि न्या०- वै० के मत में अत्यन्ताभाव भी नित्य होता है वह एक होकर अनेकों में रहता है। किन्तु यह समवाय सम्बन्ध से कहीं नहीं रहता अपि तु स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। इसलिये 'अनुगत' का अर्थ 'समवेत' मानने पर दोष नहीं है।

द्रव्यादित्रयवृत्ति—सामान्य केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही रहती है; सामान्य विशेष तथा समवाय में नहीं। क्योंकि ? सामान्य वह है जो एक तथा नित्य है और अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहती है। किन्तु, सामान्य, विशेष तथा समवाय मे तो कोई पदार्थ समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता। यद्यपि न्या०-वै० के अनुसार सामान्य विशेप तथा समवाय तीनों सत् (भावात्मक) पदार्थ हैं तथापि उनमें सत्ता नामक जाति नहीं मानी जाती अपितु उन्हें स्वरूपसत् (स्वरूप से विद्यमान) माना जाता है।

टिप्पणी—सामान्य आदि में सामान्य क्यों नहीं रहती, इसकी व्याख्या के सन्दर्भ में उदयनाचार्य की निम्न कारिका में जाति-बाधकों का संग्रह किया गया है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥

संक्षेप में इसका अर्थ है—(i) **व्यक्तेरभेदः** = व्यक्ति का एकत्व। आकाश एक व्यक्ति है अतः इसमें रहने वाले आकाशत्व धर्म को जाति नहीं माना जाता (ii) तुल्यत्व = व्यक्तियों की तुल्यता। घट और कलश समानार्थक हैं। घट व्यक्तियाँ

तथा कलश व्यक्तियाँ तुल्य हैं—एक ही हैं, अतः घटत्व और कलशत्व दो पृथक् जातियाँ नहीं मानी जातीं। (iii) सङ्करः—किन्हीं वस्तुओं में रहने वाले ऐसे दोनों धर्मों को सामान्य नहीं माना जाता जिनमें सङ्कर होता है; अर्थात् कहीं उनमे से एक के अभाव में भी दूसरा देखा जाता है। उदाहरणार्थ भूतत्व और मूर्तत्व दोनों सामान्य नहीं मानी जाती; क्योंकि सङ्कर होता है आकाश में भूतत्व हैं, मूर्तत्व नहीं है, मन में मूर्तत्व है भूतत्व नहीं। (iv) अनवस्था – यदि एक सामान्य में भी दूसरी सामान्य मानी जाये तो अनवस्था दोष होता है। क्यों? घट में जो घटत्व सामान्य है उसमें घटत्वत्व और घटत्वत्व में 'घटत्वत्व घटत्वत्वत्व' सामान्य माननी होगी। यह सामान्य-परम्परा कहीं समाप्त ही न हो सकेगी। इसलिये एक सामान्य में दूसरी सामान्य नहीं मानी जाती। (v) रूपहानिः--विशेष नामक पदार्थ अनेक हैं। फिर भी उनमें रहने वाली विशेषत्व जाति नहीं मानी जाती। क्यों? विशेष का स्वरूप है दो नित्य पदार्थों का परस्पर भेद। इसलिये विशेष नामक पदार्थ प्रत्येक नित्य द्रव्य में भिन्न-भिन्न होता है—अन्यतोव्यावृत्त होता है। यदि विशेष में भी सामान्य होगी तो अनेक विषयों को समान (समानाकार) माना जायेगा अतः विशेष का रूप ही नष्ट हो जायेगा। (vi) असम्बन्धः—सम्बन्ध का अभाव यदि समवाय में रहने वाली कोई जाति मानी जाये तो वह समवाय सम्बन्ध से ही रह सकेगी। किन्तु समवाय में तो दूसरा समवाय नहीं रहता। इसलिये समवाय में सामान्य की स्थिति के लिये किसी सम्बन्ध का अभाव है अतः समवाय सामान्य नहीं मानी जाती।

इस प्रकार सामान्य, विशेष तथा समवाय में जाति नहीं रह सकती। इसलिए द्रव्यादित्रयवृत्ति कहा गया है।

तच्च द्विविधं परमपरञ्च–सामान्य दो प्रकार की है पर और अपर। अधिक देश में रहने वाली पर सामान्य है। सत्ता नामक जाति पर सामान्य मानी जाती है; क्योंकि सभी जातियों में से वही सबसे अधिक देश में रहती है। वह द्रव्य, गुण, कर्म, सभी में रहती है। सत्ता नामक जाति द्रव्य, गुण तथा कर्म में (द्रव्यं सत्, गुणः सन्, कर्म सत् इत्यादि) समानाकारक प्रतीति का निमित्त है। किन्तु यह द्रव्य आदि का सामान्य आदि से भेद (व्यावृत्ति) नहीं कराती। द्रव्य आदि का अन्यों से भेद तो द्रव्यत्व आदि के निमित्त से ही होता है। अतः सत्ता को सामान्यमात्र=केवल सामान्य कहा गया है। अपर सामान्य वह है जो पर सामान्य की अपेक्षा न्यून देश में रहती है। द्रव्यत्व नामक जाति सत्ता जाति की अपेक्षा न्यून देश में रहती है अतः वह अपर सामान्य है। किन्तु द्रव्यत्व की अपेक्षा भी न्यून देश में रहने वाली पृथिवीत्व आदि जातियाँ है। इस दृष्टि से द्रव्यत्व आदि को परापर (पर। अपर) सामान्य भी कहा जाता है। वह द्रव्यत्व आदि जाति सभी द्रव्यों में समानाकारक प्रतीति का निमित्त होने के साथ-साथ द्रव्यों का गुण आदि से भेद (=व्यावृत्ति) भी कराती है इसलिये द्रव्यत्व आदि सामान्य होते हुए भी विशेष (व्यावर्तक) है और यह सामान्य

अत्र कश्चिदाह 'व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं नास्ति' इति। तत्र वयं[1] ब्रूमः किमालम्बना तर्हि भिन्नेषु विलक्षणेषु पिण्डेष्वेकाकारा बुद्धिर्विना सर्वानुगतमेकम्। यच्च तदालम्बनं[2] तदेव सामान्यमिति।

नन्वतद्व्यावृत्तिकृतैकाकारा बुद्धिरस्तु। तथाहि, सर्वेष्वेव हि गोपिण्डेषु अगोभ्योऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तिरस्ति। तेनागोव्यावृत्तिविषय एवायमेकाकारः प्रत्ययोऽनेकेषु, न तु विधिरूपगोत्वसामान्यविषयः। मैवम्। विधिमुखेनैवैकाकारस्फुरात्[4]।

विशेष कहलाती है। इसी प्रकार पृथिवीत्व आदि अपर सामान्य भी सामान्य विशेष हैं।

जाति के विषय में बौद्ध का आक्षेप तथा उसका परिहार

इस विषय में कोई (बौद्ध) कहता है-व्यक्ति से भिन्न सामान्य नहीं होता। इस पर हम (नैयायिक) कहते हैं फिर सब में अनुगत रहने वाले एक (धर्म) के विना भिन्न भिन्न पिण्डों में एकाकार प्रतीति का विषय (आलम्बन) क्या है? अतः जो उस (एकाकार प्रतीति) का विषय है वही सामान्य है।

यदि (बौद्ध) कहे कि अतद्व्यावृत्ति (तद्भिन्न-भिन्नत्व) के निमित्त से ही एकाकार प्रतीति हो सकती है। क्योंकि सभी गोपिण्डों में अगौ जो अश्व आदि है, उनसे भिन्नता (व्यावृत्ति) है, अतः अनेक पिण्डों में होने वाली यह एकाकार प्रतीति अगौ की व्यावृत्ति के विषय मे ही हुआ करती है। यह किसी भावात्मक (विधि-रूप) गोत्व आदि सामान्य के विषय में नहीं होती। यह (कथन) ठीक नहीं, क्योंकि भाव रूप (विधिमुख) से ही एकाकार (समानाकार) का अनुभव हुआ करता है (निषेध रूप में नहीं)।

बौद्ध का आशय यह है:—नित्यमेकमनेकानुगतम्, इस लक्षण वाली जो सामान्य न्या०-वै० के द्वारा मानी जाती है, उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि व्यक्ति ही अर्थक्रियाकारी है—वस्तु के कार्य को करती है। अग्नि ही जलाना, पकाना आदि कार्य करती है अग्नित्व नहीं। व्यक्ति से भिन्न कोई सामान्य नाम का पदार्थ अनुभव से सिद्ध नहीं होता। यदि न्या०-वै० कहे कि भिन्न-भिन्न गो व्यक्तियों में 'यह गौ है, यह गौ है' इस प्रकार की समानाकारक प्रतीति होती है, इसका जो विषय है वही सामान्य या जाति है। कारण, सभी गायों में रहने वाले एक समान धर्म के विना यह प्रतीति नहीं हो सकती। न्या०-वै० के इस कथन का उत्तर देते हुए बौद्ध कहता है—'नन्वतद्' इत्यादि।

१. वयम्, इति क्वचिन्नास्ति।
२. किञ्चिदस्ति चेत्, इति पाठा०।
३. ननु तस्याऽतद्०, इति पाठा०।
४. ग्रहणात्, इति पाठा०।

[विशेष]

विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः। नित्यद्रव्याणि त्वाकाशादीनि पञ्च पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपाः।

अयुतसिद्धः सम्बन्धः समवायः स चोक्त एव।

नन्ववयवावयविनावप्ययुतसिद्धौ तेन तयो[1]: सम्बन्धः समवाय[2] इत्यु-

भाव यह है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तिओं में यह समानाकारक प्रतीति किसी गोत्व आदि भावात्मक धर्म के कारण नहीं होती अपि तु यह एक अभावात्मक या निषेधात्मक धर्म के निमित्त से हुआ करती है। यह निषेधात्मक धर्म अपोह कहलाता है। उसका स्वरूप है अतद्व्यावृत्ति—तद्भिन्न-भिन्नत्व उदाहरणार्थ सभी गायों में गो भिन्न (अगो) महिष आदि की अपेक्षा भिन्नता है—अगोव्यावृत्ति है। या कहिये सभी गायें गो भिन्न महिष आदि से भिन्न होती हैं। यही उनकी समानता है। इसी निषेधात्मक धर्म के द्वारा उनमें समानाकारक प्रतीति हो जाती है।

बौद्ध के इस मत का निराकरण करते हुए तर्कभाषाकार ने कहा है विधिमुखेनैव इत्यादि। अभिप्राय यह है:—अनुभव के आधार पर ही पदार्थों के स्वरूप का निश्चय किया जाता है। अनुभव से यह प्रतीत होता है कि समस्त गायों में जो समानाकारक प्रतीत होती है वह भावात्मक ही होती है, ये सब गाये हैं, इन सब में गोत्व है; इस आकार में होती है। ये सब गो-भिन्न से भिन्न (अगोव्यावृत्त); इस रूप में तो प्रतीति होती नहीं। अतः इस प्रतीति के आधार रूप में भावात्मक सामान्य ही माननी चाहिये।

[५] विशेष नामक पदार्थ

'विशेष' नित्य है, वह नित्यद्रव्यों में रहता है केवल भेद-प्रतीति का निमित्त होता है। आकाश आदि पाँच तथा चार परमाणु रूप पृथिवी आदि नित्यद्रव्य हैं।

विशेष पदार्थ की सिद्धि ऊपर (पृ० ३१, ३२) की जा चुकी है। यह भी माना जाता है कि विशेष नामक पदार्थ की उद्भावना करना वैशेषिक की एक अपूर्व देन है। इसी के आधार पर इस दार्शनिक सम्प्रदाय का नाम वैशेषिक पड़ा है (द्र० भूमिका)।

[६] समवाय पदार्थ तथा अवयवी की सिद्धि—

अयुतसिद्धों (पदार्थों) का सम्बन्ध समवाय है। और, वह बतलाया जा चुका है।

समवाय का विशद निरूपण ऊपर (पृ० २६ तथा आगे) किया जा चुका है। यहाँ समवाय के प्रसङ्ग से अवयवी की सिद्धि करते हैं—

(बौद्ध की शङ्का) अवयव तथा अवयवी भी अयुतसिद्ध होते हैं इसलिये उनका सम्बन्ध समवाय है. यह (ऊपर) कहा गया है। किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि

१. तेनानयोः, इति पाठा०।

२. इत्युक्तम्, इति क्वचिन्नास्ति।

क्तम् । न चैतद् युक्तम् अवयवातिरिक्तस्यावयविनोऽभावात् । [1]परमाणव एव बह्वस्तथाभूताः सन्निकृष्टा घटोऽयं [2]पटोऽयमिति गृह्यन्ते ।

अत्रोच्यते । अस्त्येकः स्थूलो घट इति प्रत्यक्षा बुद्धिः । न च सा परमाणुष्वनेकेष्वस्थूलेष्वतीन्द्रियेषु भवितुमर्हति । भ्रान्तेयं बुद्धिरिति चेत् । न । बाधकाभावात् ।

अवयवों से भिन्न अवयवी नहीं होता । वस्तुतः उस (अवयवी) के रूप में हो जाने वाले बहुत से परमाणु ही (इन्द्रिय के साथ) सन्निकृष्ट होकर, यह घट है, यह पट है, इस प्रकार से गृहीत होते हैं ।

(समाधान) इस विषय में उत्तर है (क) एक (ख) स्थूल (ग) घट है, इस की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है और वह (प्रतीति) (क) एक न होने वाले (ख) स्थूल न होने वाले तथा (ग) इन्द्रियग्राह्य न होने वाले (अतीन्द्रिय) परमाणुओं में नहीं हो सकती । यदि (बौद्ध कहे कि एक स्थूल घट है) यह प्रतीति भ्रान्ति है । तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रतीति का कोई बाधक नहीं होता ।

बौद्ध का अभिप्राय यह है:—न्या०-वै० ने समवाय के सन्दर्भ में कहा था कि अवयव-अवयवी का भी समवाय सम्बन्ध होता है । यह कथन युक्तियुक्त नहीं । क्यों ? समवाय एक सम्बन्ध है, वह दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में ही हो सकता है किन्तु अवयवी तो अवयवों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है । उदाहरणार्थ एक पट (वस्त्र) तन्तुओं से भिन्न कुछ नहीं है, एक मेज अपने अवयवों तख्ते, पाये आदि से भिन्न नहीं है । वस्तुतः पट आदि के अवयव जो तन्तु आदि हैं वे भी अपने अवयवों से भिन्न कुछ नहीं हैं । तथ्य यह है कि प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ परमाणुओं का पुञ्ज मात्र है । अनेक परमाणुओं का जो विविध आकारों में सन्निवेश होता है वही घट, पट आदि विविध रूपों में प्रतीत हुआ करता है । इस प्रकार परमाणु-समुदाय से भिन्न घट आदि अवयवी नहीं है ।

विशेष—"परमाणवो हि बह्वस्तथा सनिविष्टाः' यह पाठ बौद्ध दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होता है, जैसा कि धर्मोत्तर ने कहा है—अर्थ क्रियाक्षमं च वस्तुरूपं सन्निवेशोपाधिधर्मात्मकम् (न्यायबिन्दुटीका १-४) ।

अत्रोच्यते इत्यादि में बौद्ध के मत का निराकरण किया गया है । भाव यह है:— यह प्रत्यक्षतः अनुभव होता है कि 'एक स्थूल घट है' । इस प्रकार का प्रत्यक्ष परमाणु-समुदाय में नहीं हो सकता । क्यों ? बौद्ध के मतानुसार घट के आकार में सन्निविष्ट जो परमाणु हैं वे अनेक हैं तथा सूक्ष्म भी हैं फिर उनमें एकत्व और स्थूलता का ज्ञान कैसे हो सकता है ? किञ्च, परमाणु तो अतीन्द्रिय है, जनसाधारण की इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं अतः उनका प्रत्यक्ष ही संभव नहीं । फलतः यदि परमाणु-पुञ्ज के अतिरिक्त कोई घट आदि (अवयवी) न होगा तो 'यह एक स्थूल घट है' इस प्रकार का प्रत्यक्ष न हुआ करेगा । यदि बौद्ध कहे कि इस प्रकार का प्रत्यक्ष तो भ्रान्ति मात्र है, अनेक

---

१. परमाणवो हि तथा संनिकृष्टा बह्वो, इति पाठा० ।

२. 'घटोऽयम्', इति पाठा० ।

तदेवं [1]षट् पदार्था द्रव्यादयो वर्णिताः । ते च विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वाद् भावरूपा एव ।

इदानीं निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते । स च अभावः संक्षेपतो द्विविधः—संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति । संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति ।

सूक्ष्म परमाणुओं में एक स्थूल घट की भ्रान्ति हो रही है । इस पर न्या०-वै० का कथन है कि जो भ्रान्ति ज्ञान होता है, उसका यथार्थ ज्ञान से बाध हो जाया करता है । किन्तु यह एक स्थूल घट है, इस प्रकार का अनुभव सभी को होता है । इसका कभी बाध नही देखा जाता । फिर इसे भ्रान्ति ज्ञान कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रकार अनुभव के आधार पर यह सिद्ध होता है कि अवयवों के अतिरिक्त घट आदि अवयवी हैं । वाचस्पति मिश्र की उक्ति भी है—संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम् (न्या० वा० ता०……) ।

इस प्रकार द्रव्य आदि ६ पदार्थों का वर्णन किया गया है । और, वे भावात्मक प्रतीति के विषय हैं अतः भावरूप ही हैं ।

न्या०-वै० की दृष्टि में अनुभव (=संविद्) ही पदार्थस्वरूपनिर्धारण का प्रमुख आधार है । इसी आधार पर न्या०-वै० में दो प्रकार के पदार्थ माने जाते हैं एक तो वे हैं जिनका अनुभव हमें इस रूप में होता है—यह है (=यह सद् है, यह भाव रूप है) । इस प्रकार का अनुभव भावात्मक प्रतीति है—विधिमुख प्रत्यय है । द्रव्य से लेकर विशेष पर्यन्त के विषय में लौकिक तथा परीक्षक सभी का इसी प्रकार का अनुभव होता है । उस अनुभव का कोई बाधक नहीं है । अतः द्रव्य आदि ६ पदार्थ भावरूप माने जाते हैं ।

इनके अतिरिक्त एक प्रतीति और होती है जिसका रूप है 'यहां घट नहीं है; यह मेज है कुर्सी नहीं', इत्यादि । यह प्रतीति अभावात्मक (=निषेधमुख) होती है । इस अनुभव के आधार पर अभाव नाम का सप्तम पदार्थ भी न्या०-वै० में स्वीकार किया गया है । यद्यपि वै० सूत्र तथा प्रशस्तपाद भाष्य में ६ भाव पदार्थों का ही उल्लेख किया गया है तथापि आगे चलकर अभाव नामक सप्तम पदार्थ भी स्वीकार कर लिया गया है (द्र०, न्या० मु० का० २) ।

[१] अभाव तथा उसके प्रकार

अब, अभावात्मक प्रतीति का विषय जो अभाव नाम का सप्तम पदार्थ है; उसका प्रतिपादन किया जाता है । यह अभाव संक्षेप में दो प्रकार का है संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव । संसर्गाभाव भी तीन प्रकार का है प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव ।

---

१. षट् पदार्थाः इति क्वचिन्नास्ति ।

उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्याभावः प्रागभावः यथा तन्तुपु पटाभावः स चानादिरुत्पत्तेरभावात् । विनाशी च, कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात् ।

उत्पन्नस्य कारणेऽभावः प्रध्वंसाभावः । प्रध्वंसो[1] विनाश इति यावत् । यथा भग्ने घटे कपालमालायां घटाभावः । स च मुद्गरप्रहारादिजन्यः । स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी, नष्टस्य कार्यस्य[2] पुनरनुत्पत्तेः ।

त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः । यथा वायौ रूपाभावः ।

द्रव्य आदि ६ पदार्थों से भिन्न जो पदार्थ है वह अभाव नाम का पदार्थ है । इसके प्रथमतः दो भेद हैं संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव । संसर्ग का अर्थ है सम्बन्ध (संयोग, समवाय) । जहाँ संयोग आदि सम्बन्ध से एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव होता है वहाँ संसर्गाभाव कहलाता है । उदाहरणार्थ 'भूतल में घटाभाव है' यहाँ भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट का अभाव बतलाया जाता है । पट की उत्पत्ति से पूर्व 'तन्तुओं में पटाभाव है' यहाँ तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से पटाभाव कहा जाता है । घट के नष्ट हो जाने पर 'कपालों में घटाभाव है', यहाँ भी कपालों में समवाय सम्बन्ध से घट का अभाव कहा जाता है । इसीलिये संसर्गाभाव के तीन भेद किये गये हैं । अन्योन्याभाव शब्द का अर्थ है एक वस्तु के रूप) में दूसरी का अभाव; जैसे 'घट पट नहीं है, यहाँ घट का पट के रूप में अभाव दिखलाया गया है । इस चार प्रकार के अभाव के लक्षण तथा उदाहरण आगे दिखलाये जाते हैं ।

संसर्गाभाव—

उत्पत्ति से पूर्व जो कारण में कार्य का अभाव होता है वह प्रागभाव है, जैसे (पट बनने से पहले) तन्तुओं में पट का अभाव होता है । वह (प्रागभाव) अनादि है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति नहीं होती । और, नाशवान् भी है; क्योंकि पट आदि कार्य ही उसके विनाश रूप में होते हैं ।

उत्पन्न का जो (उसके) कारण में अभाव होता है, वह प्रध्वंसाभाव है, प्रध्वंस अर्थात् विनाश । जैसे घट के टूट जाने पर कपालों में घट का (प्रध्वंस) अभाव हो जाता है । और, वह (प्रध्वंस) मुद्गर आदि से उत्पन्न होता है । वह उत्पत्तिमान् होकर भी नाशवान् नहीं होता; क्योंकि नष्ट हुए (घट आदि) कार्य की फिर उत्पत्ति नहीं होती ।

तीनों कालों में रहने वाला (त्रैकालिक) अभाव (=संसर्गाभाव) अत्यन्ताभाव है; जैसे वायु में रूप का अभाव है ।

प्रागभाव—न्या०-वै० असत्कार्यवादी है । उसके मत में उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य का अभाव रहता है । यही अभाव प्रागभाव कहलाता है जैसे पट की उत्पत्ति

---

१. प्रध्वंसो, इति क्वचिन्नास्ति ।

१. कार्यस्य; इति क्वचिन्नास्ति ।

से पूर्व तन्तुओं में पट का प्रागभाव होता है। प्रागभाव की कभी उत्पत्ति नहीं होती, उसका आदि नहीं होता। कारण में कार्य का प्रागभाव अनादि काल से है। किन्तु यह प्रागभाव सदा नहीं रहता। जब कार्य की उत्पत्ति हो जाती है तो उसका प्रागभाव नहीं रहता, वह प्रागभाव नष्ट हो जाता है। इस प्रकार कार्य की उत्पत्ति का अभिप्राय है उस कार्य के प्रागभाव का नाश। उदाहरणार्थ पट की उत्पत्ति होने से तन्तुओं में पट के प्रागभाव का नाश हो जाता है। फलतः प्रागभाव अनादि सान्त (नाशवान्) है।

प्रध्वंसाभाव—सभी भावात्मक कार्य पदार्थ नाशवान् हैं। वे उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। हम घट पर मुद्गर का प्रहार करते हैं, घट का नाश हो जाता है तथा कपाल मात्र शेष रह जाते हैं। यही घट का ध्वंस कहलाता है। इसे 'कपालों में घट का अभाव है' इस प्रकार भी कह दिया जाता है। यही घट का ध्वंसाभाव है, जो घट के विनाश से उत्पन्न होता है। अतः यह उत्पत्तिमान् है किन्तु यह प्रध्वंसाभाव उत्पत्ति के बाद सदा के लिये रहता है। इसका नाश नहीं होता। क्यों? जो कार्य नष्ट हो जाता है वही फिर उत्पन्न नहीं हुआ करता। यदि प्रध्वंसाभाव का नाश हो जाये तो कार्य की फिर से उत्पत्ति (पुनरुज्जीवन) होने लगे; क्योंकि घटाभाव का अभाव तो घटरूप ही होता है। इसलिये प्रध्वंसाभाव को उत्पत्तिमान् होते हुए भी अविनाशी (सादि-अनन्त) माना जाता है।

प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव के लक्षणों में 'कारणे' यह पद इसलिये दिया गया है कि इन लक्षणों की अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव में अतिव्याप्ति न हो जाये। प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव दोनों में ही कार्य की अपने कारणों मे समवाय सम्बन्ध से सत्ता नहीं रहती।

अत्यन्ताभाव—त्रैकालिक अभाव है। त्रैकालिक का अर्थ है नित्य। यहाँ अभाव का अभिप्राय संसर्गाभाव है। नित्य जो संसर्गाभाव है, वह अत्यन्ताभाव कहलाता है। यह अनादि तथा अनन्त होता है। इसलिये प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव से इसका भेद स्पष्ट है। उदाहरणार्थ वायु में रूप का अभाव है—वायु में समवाय सम्बन्ध से रूप नहीं रहता। वायु में रूप का अभाव सदा से है अतः अनादि है इस अभाव का कभी अन्त नहीं होगा अतः यह अनन्त है। 'भूतल में घटाभाव है'-यहाँ भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट का अभाव है। किन्तु यदि भूतल में घट रख दिया जाता है तो घटाभाव नहीं रहता। इसलिये न्या०-वै० के कुछ (प्राचीन) विद्वान् यहाँ उत्पादविनाशशाली एक अन्य अभाव मानते हैं। अन्यों (नवीन) के मत में यहाँ भी अत्यन्ताभाव ही है (द्र०, न्या० मु० का० १३)।

उपर्युक्त तीनों अभावों में घट आदि के संसर्ग (संयोग, समवाय) का अभाव प्रकट होता है अतः ये संसर्गाभाव कहलाते हैं।

अन्योन्याभावस्तु तादात्म्यप्रतियोगिताकोऽभावः 'घटः पटो न भवति' इति

अन्योन्याभाव—

अन्योन्याभाव तो वह अभाव है जिसका प्रतियोगी तादात्म्य (अभेद) होता है (अथवा जिसका प्रतियोगी तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त होता है); जैसे 'घट पट नहीं है'।

अन्योन्याभाव का लक्षण है—तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावः = तादात्म्य है प्रतियोगी जिसका ऐसा अभाव (तादात्म्यं प्रतियोगि यस्य तादृशः)। तादात्म्य का अर्थ है तद्रूपता, एकरूपता या अभेद। जिस वस्तु का अभाव होता है वह उस अभाव की प्रतियोगी कहलाती है। इस प्रकार दो वस्तुओं के तादात्म्य का अभाव ही अन्योन्याभाव है। 'घट पट नहीं है' (घटः पटो न) यहाँ घट तथा पट के अभेद का निषेध किया जाता है। घट का अपने व्यक्तित्व (स्वरूप) के साथ तादात्म्य है किन्तु पट के साथ तो तादात्म्य (identity) नहीं है। यही अन्योन्याभाव का विषय है।

न्या० मु० (?२) के अनुसार अन्योन्याभाव का लक्षण है—**तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्** (तादात्म्य सम्बध से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिसकी ऐसा अभाव)। इसी के समान तर्कभाषा के लक्षण का अर्थ यह किया जाता है—तादात्म्येन सम्बन्धेन यत्र कश्चित् प्रतियोगी भवति। जैसे 'घटे पटाभाव;' (घट में पट का अभाव है), यहाँ घट में जो पटाभाव है उसका प्रतियोगी पट है वह तादात्म्य सम्बन्ध से घट में नहीं रहा करता।

टिप्पणी—(i) नव्यन्याय की शैली में अभाव को एक परिष्कृत पदावली में प्रकट किया जाता है; जैसे 'भूतल में घटाभाव है', इसे इस प्रकार कहा जाता है—भूतलानुयोगिक—घटप्रतियोगिक—अभाव। जिसका अभाव होता है वह प्रतियोगी कहलाता है। जो अभाव का अधिकरण (आधार) होता है अथवा कहिये जिसमें अभाव रहता है वह अभाव का अनुयोगी कहलाता है किञ्च, किसी अधिकरण में प्रतियोगी के किसी संयोग आदि सम्बन्ध से रहने का अभाव दिखलाया जाता है। वही सम्बन्ध प्रतियोगिताऽवच्छेदक (प्रतियोगिता का नियामक) कहलाता है तथा वह प्रतियोगिता उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न (= विशिष्ट) कही जाती है इस प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्ध का निर्देश करते हुए उपर्युक्त अभाव को इस प्रकार कहा जाता है—भूतलानुयोगिक—संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटप्रतियोगिताक अभाव। (ii) अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव दोनों अभाव नित्य (त्रैकालिक) हैं किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध से जो अभाव होता है, वह अन्योन्याभाव है, संयोग-समवाय सम्बन्ध से जो अभाव होता है वह अत्यन्ताभाव है।

तदेवमर्था व्याख्याताः। ननु ज्ञानाद् ब्रह्मणो वा अर्था व्यतिरिक्ता न सन्ति। मैवम्। अर्थानामपि प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेनाशक्यापलापत्वात्।

५. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्याऽभिधीयते सा

अर्थ नामक प्रमेय का उपसंहार तथा अवस्तुवादी (Idealist) के मत का निराकरण

इस प्रकार अर्थों की व्याख्या की गई है।

[विज्ञानवादी तथा ब्रह्मवादी का आक्षेप] (उपर्युक्त द्रव्य आदि) अर्थ तो विज्ञान या ब्रह्म से भिन्न नहीं है (अतः उनकी व्याख्या युक्तिसंगत नहीं)। (परिहार) क्योंकि द्रव्य आदि अर्थ भी प्रत्यक्ष आदि (प्रमाणों) से सिद्ध होते हैं अतः उनका निषेध (अपलाप) नहीं किया जा सकता।

इस अवतरण में विज्ञानवादी बौद्ध तथा अद्वैत वेदान्ती के मत का निराकरण किया गया है। बौद्धों के अनेकों सम्प्रदाय है जिसमें चार का नाम विशेष रूप से लिया जाता है—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी (योगाचार) तथा शून्यवादी (माध्यमिक)। इनमें से विज्ञानवादी बौद्ध का मत है कि समस्त जगत् क्षणिक विज्ञान का ही आकार है, विज्ञान में ही अविद्या से कल्पित कर लिया जाता है। विज्ञान से भिन्न किसी पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। द्रव्य आदि जिन अर्थों का अभी ऊपर निरूपण किया गया है जब उनकी सत्ता नहीं है तो उनका निरूपण अप्रामाणिक है। यहां विज्ञानवादी का मत 'ज्ञानाद् (व्यतिरिक्ताः अर्थाः न सन्ति)' इस वचन से प्रकट किया गया है।

इसी प्रकार शङ्कराचार्य के अनुयायी वेदान्तियों (अद्वैतवेदान्तियों) का कथन है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। इनके अनुसार सत्ता तीन प्रकार की है पारमार्थिकी, व्यावहारिकी और प्रातिभासिकी। एक मात्र ब्रह्म ही परमार्थतः सत् है, पारमार्थिकी सत्ता उसकी ही है। ब्रह्म में माया या अविद्या द्वारा जगत् प्रपञ्च की कल्पना की गई है जगत् की सत्ता व्यावहारिकी है, केवल व्यावहारिक दृष्टि से है शुक्ति में रजत आदि की प्रतीति प्रातिभासिकी होती है। इस प्रकार ब्रह्म से भिन्न (ब्रह्मणः व्यतिरिक्तः) किसी पदार्थ की भी पारमार्थिकी सत्ता नहीं है। अतः द्रव्य आदि प्रमाणसिद्ध पदार्थ नहीं और उनका निरूपण युक्तियुक्त नहीं।

इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध तथा अद्वैतवादी वेदान्ती दोनों ही अवस्तुवादी (idealist) हैं। वे द्रव्य आदि की पारमार्थिकी सत्ता का निषेध करते हैं। उनके मत का निराकरण करते हुए न्या० वं० कहता है मैवम् इत्यादि।

भाव यह है कि प्रमाणों के आधार पर ही पदार्थों की सत्ता स्वीकार की जाती है जैसे कि ऊपर दिखलाया जा चुका है द्रव्य आदि सभी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है अतः इनकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता।

(५) बुद्धि नामक प्रमेय

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रतीति (प्रत्यय) इत्यादि समानार्थक शब्दों से जिसका

बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः। सा च संक्षेपतो द्विविधा। अनुभवः स्मरणं च अनुभवोऽपि द्विविधो यथार्थोऽयथार्थश्चेति।

तत्र यथार्थोऽर्थाऽविसंवादी। स च प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्जन्यते। चक्षुरादिभिरदुष्टैर्घटादिज्ञानम्। धूमलिङ्गकमग्निज्ञानम्। गोसादृश्यदर्शनाद् गवयशब्दवाच्यताज्ञानम्। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्याज्ज्योतिष्टोमस्य स्वर्गसाधनताज्ञानञ्च।

कथन किया जाता है वह बुद्धि है। अथवा अर्थ का ज्ञान ही बुद्धि है वह संक्षेप से दो प्रकार की है अनुभव तथा स्मरण। अनुभव भी दो प्रकार का है यथार्थ तथा अयथार्थ।

उनमें अर्थ के विपरीत न होने वाला (अविसंवादी) अनुभव यथार्थ है। और वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उत्पन्न होता है। जैसे दोष रहित चक्षु आदि (इन्द्रिय) से घट आदि का ज्ञान (प्रत्यक्ष) होता है, धूम लिङ्ग से अग्नि का ज्ञान (अनुमिति) होता है (गवय में) गौ के सादृश्य-ज्ञान से यह (प्राणी) गवय शब्द वाच्य है, इस प्रकार का ज्ञान (उपमिति) होता है तथा स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम याग करे, इत्यादि वाक्य से ज्योतिष्टोम याग की स्वर्गसाधनता का ज्ञान (शाब्दी, प्रमा) होता है।

न्यायसूत्र में आत्मा आदि प्रमेयों में बुद्धि की भी गणना की गई है। यहाँ 'बुद्धि' का अर्थ ज्ञान है। न्यायसूत्र (१, १. १५) के समान ही तर्कभाषा में बतलाया गया है कि बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान इत्यादि पर्याय शब्द हैं। इस कथन से सांख्य के मत का निराकण भी कर दिया गया है। सांख्य के अनुसार प्रकृति का परिणाम एक अन्तःकरण है जो बुद्धि या चित्त के नाम से अभिहित किया जाता है। बुद्धि का जो घट आदि विषय के आकार में परिणाम होता है वही ज्ञान है। विषयाकार में परिणत बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष को जो बुद्धि के सुख आदि के विषय में 'मैं सुखी हूँ इत्यादि रूप में बोध होता है, वह उपलब्धि कहलाती है। चित्त की वृत्तियों को योग-सम्प्रदाय में 'प्रत्यय' नाम से भी कहा गया है। उन सभी मन्तव्यों का निराकरण करते हुए यहाँ बुद्धि का लक्षण किया गया है।

न्या० वै० के अनुसार ज्ञान को ही बुद्धि कहते हैं। बुद्धि, उपलब्धि आदि पर्याय ही हैं सांख्य के समान ज्ञान तथा उपलब्धि आदि में भेद नहीं होता। क्यों? अनुभव तथा व्यवहार से बुद्धि आदि का परस्पर भेद नहीं सिद्ध होता। अतः सांख्य की कल्पना उचित नहीं है। किन्तु प्रश्न यह है कि पर्याय कथन मात्र से तो किसी वस्तु का लक्षण नहीं हो जाता, इसलिये बुद्धि का स्वरूपाभिधायक लक्षण दिया गया है अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः' किसी विषय का ज्ञान (प्रकाशन) ही बुद्धि है। 'यह घट है'

अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः। स त्रिविधः। [संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति। संशयतर्कौ वक्ष्येते। विपर्ययस्तु अतस्मिंस्तद्ग्रहः। भ्रम इति यावत्। यथा पुरोवर्तिन्यरजते शुक्तिकादौ रजतारोपः, 'इदं रजतम्' इति।

इत्यादि रूप में जो घट आदि का आत्मा को भान होता है यही बुद्धि या ज्ञान है। चिन्नं भट्ट का विचार है कि इस वचन द्वारा भाट्ट मीमांसक के ज्ञानानुमेयवाद का निराकरण किया गया है।

जैसा कि ऊपर विस्तारपूर्वक दिखलाया गया है, यथार्थानुभव ही प्रमा है। यहाँ यथार्थ का अर्थ किया गया है अविसंवादी। विसंवादी वह ज्ञान है जो अर्थ का संवादी नहीं होता—अर्थ से मेल नहीं खाता। उसके विपरीत अविसंवादी ज्ञान है, जैसा पदार्थ है वैसा ज्ञान (तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्) वह चार प्रकार का है प्रत्यक्ष अनुमिति, उपमिति तथा शब्द। तथा चक्षुरादि० इत्यादि पंक्ति में चारों प्रकार के यथार्थ अनुभव के उदाहरण दिये गये हैं। (विशेष द्रष्टव्य प्रमाण प्रकरण)।

अयथार्थ (अनुभव) तो अर्थ का अनुसरण नहीं करता (व्यभिचारी), क्योंकि वह प्रमाण से उत्पन्न नहीं हुआ करता (अप्रमाणजः)। वह तीन प्रकार का है संशय, तर्क तथा विपर्यय। संशय, तर्क (आगे) बतलाये जायेंगे। अन्य वस्तु में (अतस्मिन्) उस वस्तु का ज्ञान° (तद्ग्रहः) विपर्यय अर्थात् भ्रम है। जैसे सामने स्थित रजत-भिन्न सीपी (शुक्तिका) आदि में 'यह रजत है' इस प्रकार रजत की प्रतीति होती है।

अयथार्थ अनुभव का लक्षण है अर्थव्यभिचारी=नियम से अर्थ का अनुसरण न करने वाला जैसा अर्थ वैसा न होने वाला। यह ऐसा इसलिये होता है क्योंकि यह प्रमाणजन्य ज्ञान नहीं होता (अप्रमाणज)। यह दोष-युक्त चक्षु आदि से उत्पन्न हुआ करता है। अयथार्थ ज्ञान के तीन भेद हैं संशय, तर्क तथा विपर्यय। इनका विवेचन ऊपर (पृ० १४, १५) किया जा चुका है।

टिप्पणी—विपर्यय या भ्रान्ति नामक जो अयथार्थ ज्ञान है उसके विषय में भारतीय दर्शन में विशद विचार किया गया है। एतद्विषयक विवेचन 'ख्यातिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। 'ख्याति' का अर्थ है प्रतीति या ज्ञान। शुक्तिका में रजत की प्रतीति आदि कैसे होती है एतद्विषयक विचार(=वाद) ही ख्यातिवाद कहलाता है। इस विषय में अनेक मत हैं द्र०, प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड)। उनमें से पाँच मत विशेष प्रसिद्ध हैं- आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अनिर्वचनीयख्याति तथा अन्यथा-ख्याति। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

आत्मख्याति—यह विज्ञानवादी बौद्ध का मन्तव्य है। इसके अनुसार हमें जो शुक्तिका में रजत की प्रतीति है वहाँ विज्ञान में वासना रूप में स्थित रजत ही भासित होती है भ्रान्ति में भासित होने वाली रजत विज्ञान का आत्मभूत ही है अतः

स्मरणमपि यथार्थमयथार्थञ्चेति द्विविधम्। तदुभयं जागरे। स्वप्ने तु सर्वं ज्ञानं स्मरणमयथार्थञ्च। दोषवशेन तदिति स्थाने इदमित्युदयात्।

यहाँ आत्मख्याति है। विज्ञानवादी ने जगत् की व्याख्या भी आत्मख्याति के आधार पर की है।

असत्ख्याति—यह शून्यवादी (माध्यमिक) बौद्ध सम्प्रदाय का मन्तव्य है। शुक्तिका में जो यह रजत है इस प्रकार की भ्रान्ति होती है वहाँ असत् रजत की ही प्रतीति नहीं होती अपि तु भ्रान्ति का अधिष्ठान जो शुक्तिका है वह भी असत् है, असत् शुक्तिका ही रजत् रूप में भासित होती है। 'असत्' का अर्थ है निःस्वभाव या सापेक्ष। शून्यवादी बौद्ध के अनुसार सभी पदार्थों की सत्ता सापेक्ष (relative) है। यह सापेक्षता असत् या शून्य कही जाती है।

अख्याति या विवेकाग्रह—यह प्रभाकर मीमांसक का मन्तव्य है। तदनुसार शुक्तिका में 'यह रजत है' (इदं रजतम्) वस्तुतः एक ज्ञान नहीं है। यहाँ 'इदम्' (= यह) अंश में प्रत्यक्षात्मक अनुभव (ग्रहण) है तथा 'रजतम्' (=रजत) अंश में स्मरण है। हमें दोषवश ग्रहण तथा स्मरण दो ज्ञानों का भेद नहीं प्रतीत होता—भेदाग्रह या विवेकाग्रह होता है। यहाँ दोनों ही ज्ञान यथार्थ हैं केवल भेद (विवेक) की ख्याति या प्रतीति न होने से भ्रान्ति होती है।

अनिर्वचनीयख्याति—यह अद्वैत वेदान्ती का मन्तव्य है। इसके अनुसार जो शुक्तिका में रजत की प्रतीति होती है वहाँ अनिर्वचनीय रजत भासित होती है। क्योंकि वह रजत सत् नहीं। यदि वह सत होती तो उसका कभी बाध न होता। वह गगनकु-सुम की भाँति असत् भी नहीं, यदि ऐसा होता तो उसकी प्रतीति न हुआ करती। वह सदसद् उभयात्मक भी नहीं; क्योंकि उपर्युक्त दोषों का प्रसङ्ग होगा। फलतः यह मानना चाहिये कि वहाँ प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति हो जाती है जिसका सद्-असद् आदि किसी रूप में निर्वचन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अनिर्वचनीय रजत ही भ्रान्ति के स्थल में भासित होती है। वेदान्ती ने अनिर्वचनीय ख्याति के आधार पर ही जगत् की व्याख्या की है।

अन्यथाख्याति या विपरीतख्याति—यह न्या०-वै० का मन्तव्य है। शुक्तिका में जो रजत की प्रतीति होती है वहाँ शुक्तिका अन्य रूप में - रजत रूप में भासित होती है (अन्यथा ख्यायते) अथवा एक वस्तु में दूसरी की प्रतीति होती है (अतस्मिन् तद्ग्रह)। अतः यह अन्यथाख्याति या विपरीतख्याति है।

स्मरण

स्मरण भी यथार्थ और अयथार्थ दो प्रकार का है। जाग्रत् अवस्था में वह दोनों प्रकार का (स्मरण) होता है। स्वप्न में तो सभी ज्ञान स्मरण रूप होता है और अयथार्थ होता है; क्योंकि दोष के निमित्त से 'तद्' (=वह, वहाँ) के स्थान पर ('इदम्') (=यह, यहाँ) का भान हो जाता है।

स्वप्न में केवल अयथार्थ स्मरण होता है। स्वप्न का ज्ञान संस्कारमात्रजन्य है

सर्वञ्च ज्ञानं निराकारमेवं, न तु ज्ञानेऽर्थेन स्वस्याकारो जन्यते[1]। साकारज्ञानवादनिराकरणात् । अत एवाकारेणार्थानुमानमपि निरस्तम् । प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् घटादेः । सर्वं ज्ञानमर्थनिरूप्यं, अर्थप्रतिबद्धस्यैव तस्य मनसा निरूपणात् । घटज्ञानवानहं, इत्येतन्मात्रं[2] गम्यते न तु 'ज्ञानवानहम्' इत्येतावन्मात्रं ज्ञायते[3] ।

अतः वह स्मरण ही है। किञ्च, वहाँ निद्रा आदि दोष के कारण दूर स्थित तथा अविद्यमान वस्तु (तद्) भी समीप में उपस्थित (इदमिति) सी भासित होती है, अतः वह अयथार्थ होता है।

साकारज्ञानवाद का निराकरण

'यह घट है इस ज्ञान का विषय घट है पट नहीं, इस प्रकार की विषयता का नियामक क्या है ? इस विषय में कुछ भारतीय दर्शनों का मन्यव्य है कि जिस विषय का ज्ञान होता है उस विषय का आकार ज्ञान में हुआ करता है, यह ज्ञान की साकारता ही विषयता का नियामक है। साकारज्ञानवादियों को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है। (क) विज्ञानवादी बौद्ध, (ख) सौत्रान्तिक तथा (ग) सांख्य-योग, वेदान्त । इनके मतों में परस्पर भेद है किन्तु सभी ज्ञान को साकार मानते हैं (द्र०, ऊपर पृ० १६३–१६४) इन सभी के मत का निराकरण करते हुए कहा गया है—

सभी ज्ञान निराकार ही होते हैं। ज्ञान के द्वारा अर्थ में अपना आकार तो उत्पन्न नहीं किया जाता, क्योंकि साकारज्ञानवाद का निराकरण किया गया है। इसीलिये (ज्ञान में स्थित) आकार द्वारा अर्थ का अनुमान होता है, इसका भी निराकरण हो गया। घट आदि (बाह्य अर्थ) तो प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। (विषयता के नियम के लिये भी साकारज्ञानवाद की आवश्यकता नहीं, क्योंकि) सभी ज्ञानों का अर्थ के द्वारा ही उल्लेख किया जाता है। अर्थ से युक्त ज्ञान का ही मन के द्वारा ग्रहण हुआ करता है। 'मैं घटज्ञानवान् हूँ' ऐसा प्रतीत होता है 'मैं ज्ञानवान् हूँ' केवल इतना ही नहीं।

न्या०-वै० ज्ञान को निराकार मानता है। उसके मतानुसार ज्ञान में घट आदि विषय का आकार नहीं उत्पन्न होता। सांख्य-योग आदि के अनुसार बुद्धि विषयाकार में परिणत होती है अतः ज्ञान में घट आदि अर्थ का आकार होता है। उनके मत का निराकरण करने के लिये कहा गया है 'साकारज्ञानवादनिराकरणात्' अर्थात् ज्ञान साकार है—ज्ञान में अर्थ का आकार उत्पन्न हो जाता है, इस मत का आचार्यों ने निराकरण कर दिया है (द्र० न्यायमञ्जरी)।

जब ज्ञान साकार होता ही नहीं तो विज्ञानवादी तथा सौत्रान्तिक के मत का भी निराकरण हो जाता है। विज्ञानवादी के मतानुसार बाह्य घट आदि विज्ञान के ही आकार होते हैं। किन्तु सौत्रान्तिक के अनुसार घट आदि बाह्य विषय की ज्ञान से

१. नन्वर्थेन ज्ञाने स्वस्याकारो जन्यते । न, इति पाठा० । २. एतन्मात्रं गम्यते, इति क्वचिन्नास्ति । ३. जायते, इति पाठा० ।

६. अन्तरिन्द्रियं मनः। तच्चोक्तमेव।

७. प्रवृत्तिः धर्माऽधर्ममयी वागादिक्रिया[1], तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्।

८. दोषा राग-द्वेष-मोहाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः, क्रोध इति यावत्। मोहो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति यावत्।

भिन्न सत्ता है। घट आदि के द्वारा अपने आकार का ही ज्ञान उत्पन्न होता है। बाह्य घट आदि का हमें साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता अपि तु ज्ञान में स्थित घट आदि के आकार द्वारा घट आदि का अनुमान किया जाता है। यही बाह्यार्थानुमेयवाद कहलाता है। ज्ञान की साकारता का निराकरण कर देने पर इन दोनों मतों का भी निराकरण हो जाता है। किञ्च, जब बाह्य घट आदि की सत्ता प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है तो 'घट आदि ज्ञान से भिन्न नहीं, ज्ञान का ही आकार है' (विज्ञानवादी) अथवा ज्ञानगत आकार से बाह्य घट आदि का अनुमान होता है' (सौत्रान्तिक) ये दोनों मत भी परास्त हो जाते हैं।

अब प्रश्न यह है यदि ज्ञान साकार (=विषय के आकार से युक्त) नहीं होता तो 'यह घट का ज्ञान है, पट का नहीं' इस प्रकार की विषयता का नियामक क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है सर्वं ज्ञानम् इत्यादि। भाव यह है कि हमें पहले 'अयं घटः' (यह घट है) इस प्रकार घट आदि का प्रत्यक्ष होता है। इसके पश्चात् 'अहं घटं जानामि—घटज्ञानवान् अहम्' इत्यादि रूप में अनुव्यवसाय होता है। इस अनुव्यवसाय में मन के द्वारा ज्ञान का ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है। इनमें घट आदि विषय का उल्लेख रहता है। घट आदि विषय के उल्लेख के बिना कभी भी ज्ञान का भास नहीं होता (सर्वं ज्ञानमर्थनिरूप्यम्)। इस प्रकार मानस प्रत्यक्ष के द्वारा जब ज्ञान का ग्रहण होता है तो यह भी जान लिया जाता है इस ज्ञान का विषय घट है, पट नहीं फलतः विषयता का नियम निराकार ज्ञान में भी बन सकता है। विषयता के नियम के लिये ज्ञान को साकार मानने की आवश्यकता नहीं।

(६) मन आन्तरिक इन्द्रिय (अन्त करण) है। उसका वर्णन किया जा चुका है।

(७) धर्म-अधर्म का जनक वाणी आदि का कर्म ही प्रवृत्ति है; क्योंकि वह जगत् के व्यवहार की साधक है।

वाणी (वाग्) आदि से जो कर्म किया जाता है वह प्रवृत्ति कहलाती है। प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है वाणी, मन तथा शरीर से होने वाली। यह प्रवृत्ति धर्म या अधर्म का निमित्त होती है, अतः 'धर्माधर्ममयी' शब्द का अर्थ है धर्म तथा अधर्म की जनक अथवा यहाँ औपचारिक रूप से प्रवृत्ति को भी धर्माधर्म कह दिया गया है। मि०, प्रवृत्तिवाग्बुद्धिशरीरारम्भः, न्या० सू० (१·१·१७)। वागादिक्रिया के स्थान पर किन्हीं पुस्तकों में यागादिक्रिया' पाठ है।

(८) राग द्वेष, मोह दोष हैं। राग अर्थात् इच्छा, द्वेष अर्थात् मन्यु या क्रोध, मोह अर्थात् मिथ्यज्ञान या विपर्यय।

---

१. यागादिक्रिया, इति पाठा०।

९. पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः, अपूर्वदेहसङ्घातलाभः ।

१०. फलं पुनर्भोगः[1] सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः ।

११. पीडा दुःखम् । तच्चोक्तमेव ।

१२. मोक्षोऽपवर्गः । स [2]चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः । एकविंशतिप्रभेदास्तु शरीरं, षडिन्द्रियाणि, षड् विषयाः, षड् बुद्धयः, सुखं दुःखञ्चेति गौणमुख्यभेदात् । [3]सुखं तु दुःखमेव दुःखानुषङ्गित्वात्' । अनुषङ्गोऽविनाभावः । स चायमुपचारो मधुनि विषसंयुक्ते मधुनोऽपि विषपक्षनिक्षेपवत् ।

---

(९) पुनः (मृत्यु के पश्चात्) उत्पन्न होना ही प्रेत्यभाव (कहलाता) है । और वह आत्मा के पूर्व शरीर की निवृत्ति तथा नये शरीर (इन्द्रिय आदि) संघात की प्राप्ति है ।

'प्रेत्य' का अर्थ है मर कर (मृत्वा) 'भावः' का अर्थ है जन्म, न्यायभाष्यकार का कथन है कि यहाँ 'पुनः' (=फिर) शब्द से 'अभ्यास' (=बार-बार होना) कहा गया है । इस प्रकार बार-बार मरकर उत्पन्न होना ही प्रेत्यभाव है । किन्तु आत्मा तो नित्य है, उसकी मृत्यु या उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसलिये कहा है स चात्मनः' इत्यादि । आत्मा पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर आदि संघात को बार-बार ग्रहण करता है, यही प्रेत्यभाव है ।

(१०) फल का अर्थ है भोग अर्थात् दुःख का अनुभव करना ।

(११) दुःख अर्थात् पीड़ा । यह बतलाया जा चुका है ।

न्यायसूत्र (१·१·१९) के अनुसार प्रवृत्ति तथा दोषों से उत्पन्न अर्थ फल है—प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् । भाष्यकार ने बतलाया है 'सुखदुःखसंवेदनं फलम्' तर्कभाषा में इसकी छाया है ।

(१२) अपवर्ग (मोक्ष) ।

मोक्ष का नाम अपवर्ग है । और, वह (अपवर्ग) इक्कीस भेदों वाले दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही है । गौण (दुःख) तथा मुख्य (दुःख) के भेद से वे इक्कीस भेद तो ये हैं—शरीर + ६ इन्द्रियाँ + (उनके) ६ विषय + ६ ज्ञान तथा + सुख और दुःख । सुख भी दुःख ही है; क्योंकि वह दुःख का अनुषङ्गी (अविनाभावी) होता है । अनुषङ्ग का अर्थ है अविनाभाव (अर्थात् दुःख के बिना सुख नहीं होता) और यह (सुखं तु दुःखमेव) उपचार (गौण प्रयोग) इसी प्रकार किया जाता है, जिस प्रकार विष से मिश्रित मधु हो जाने पर मधु को भी विष कोटि में रख दिया जाता है ।

न्यायसूत्र (१·१ २२) 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' उस दुःख की अत्यन्त निवृत्ति

---

१. स तु सुखदुःखानुभवः, इति पाठा० । २. 'स च' इति क्वचिन्नास्ति ।

३. सुखमपि दुःखानुषङ्गाद् दुःखम्' इति पाठा० ।

स पुनरपवर्गः कथं भवति[1]? उच्यते। शास्त्राद् विदितसमस्तपदार्थ-तत्त्वस्य, विषयदोषदर्शनविरक्तस्य मुमुक्षोर्ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः क्लेशहीनस्य, निष्कामकर्मानुष्ठानादनागतधर्माऽधर्मावनर्जयतः पूर्वोपात्तञ्च धर्माऽधर्मप्रचयं योगर्द्धिप्रभावाद् विदित्वा, समाहृत्य भुञ्जानस्य पूर्वकर्मनिवृत्तौ वर्तमानशरीरापगमे[2]ऽपूर्वशरीराभावाच्छरीराद्येकविंशतिदुःख-सम्बन्धो न भवति, कारणाभावात्। सोऽयमेकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःखहानिर्मोक्षः। सोऽपवर्ग इत्युच्यते[3]।

ही अपवर्ग है। क्योंकि उस दुःख की निवृत्ति जन्म के नाश से ही हो सकती है इस अभिप्राय से वात्स्यायन ने इसका अर्थ किया है तेन दुःखेन=जन्मना अत्यन्तविमुक्तिरपवर्गः'। यहाँ दुःख शब्द से दुःख के निमित्त जन्म का ग्रहण किया गया। आगे चलकर दुःख के हेतुभूत सभी शरीर आदि का 'दुःख' से ग्रहण किया जाने लगा। वहाँ मुख्य दुःख तो बाधना या पीड़ा रूप ही रहा किन्तु गौण रूप से शरीर आदि (२०) को भी दुःख माना जाने लगा। इसलिये कहा गया है गौणमुख्यभेदात्। इस पर प्रश्न हो सकता है कि संसार में सुख है उसकी सत्ता को नकारा नहीं जा सकता। फिर उसे भी दुःख ही क्यों माना गया है? इसके उत्तर में कहा गया है—सुख भी औपचारिक रूप से दुःख ही है, जिस प्रकार विष-मिश्रित मधु को विष ही कहा जाता है उसी प्रकार दुःख के अविनाभावी सुख को भी दुःख ही कहा गया है। संसार काकोई भी सुख दुःख के विना नहीं हो सकता। अतः सुख दुःख का अविनाभावी है।

अपवर्ग-प्राप्ति की प्रक्रिया—

फिर वह अपवर्ग कैसे होता है?

बतलाते हैं। शास्त्र के द्वारा समस्त पदार्थों के तत्त्व को जान लेने वाले, विषयों में दोष देखकर विरक्त हो जाने वाले, मोक्ष के इच्छुक (मुमुक्षु) को ध्यानयुक्त होकर ध्यान के परिपाक से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। फिर (राग आदि) क्लेशों से रहित होकर निष्काम कर्म का अनुष्ठान करने के कारण (वह) अनागत धर्म और अधर्म को अर्जित नहीं करता और पूर्व सञ्चित धर्म तथा अधर्म के समूह को योग की सिद्धि (ऋद्धि) के प्रभाव से जानकर उन्हें एक साथ (समाहृत्य) भोग लेता है। इस प्रकार पूर्व कर्म की निवृत्ति हो जाने पर तथा वर्तमान शरीर के छूट जाने पर नया शरीर (उत्पन्न) न होने के कारण (आत्मा का) शरीर आदि इक्कीस दुःखों से सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि (सम्बन्ध के) कारण (धर्माधर्म) का अभाव होता है। यह इक्कीस भेदों से युक्त दुःख का नाश मोक्ष है वही 'अपवर्ग), कहलाता है

अपवर्ग की प्राप्ति का क्या साधन एवं क्रम है, यह सब 'उच्यते' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा बतलाया गया है। इस अवतरण में न्यायसूत्र आदि का सार निहित है। न्याय

---

१. भवति, इति क्वचिन्नास्ति।

२. ०शरीरादिविगमेऽपूर्वशरीरारम्भाभावाद्, इति पाठा०।

३. इत्युच्यते, इति क्वचिन्नास्ति। उक्तानि प्रमेयानि; इत्यधिकः पाठः।

सूत्र (१. १. २) है—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्गः; अर्थात् दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान—इनमें से उत्तर-उत्तर के विनाश से पूर्व-पूर्व का विनाश हो जाता है तथा अपवर्ग की प्राप्ति होती है। जैसे; कि भाष्यकार आदि ने स्पष्ट किया है, मिथ्याज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से होती है वह तत्त्वज्ञान कैसे होता है; यह यहाँ 'शास्त्राद्' इत्यादि वाक्य में बतलाया गया है। शास्त्र द्वारा समस्त पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है। उससे साधक को विषयों में दोष दिखलाई देने लगता है और वह विरक्त हो जाता है। तथा मोक्ष की इच्छा करने लगता है। फिर वह ध्यान का अभ्यास करते हुये ध्यान के परिपाक रूप समाधि को प्राप्त कर लेता है तथा उसे आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। शास्त्र के ज्ञान से लेकर आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया है। आत्मसाक्षात्कार ही तत्त्वज्ञान का चरमोत्कर्ष है। इससे राग आदि दोष क्षीण हो जाते हैं—साधक क्लेशहीन हो जाता है। योग-सम्प्रदाय के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ही क्लेश कहलाते हैं। न्याय परम्परा में जो राग आदि दोष कहे गये हैं। उन्हें कहीं-कहीं क्लेश' शब्द से भी अभिहित किया गया है अतः क्लेशहीनस्य' का अर्थ है राग आदि दोषों से रहित। दोषों के नाश से प्रवृत्ति=कर्म का नाश हो जाता है। यह कर्म तीन प्रकार का है—क्रियमाण, सञ्चित तथा प्रारब्ध। जो कर्म इस समय किया जा रहा है वह 'क्रियमाण' है। वह अनागत (आगे आने वाले) धर्म-अधर्म का निमित्त हुआ करता है। किन्तु राग आदि से शून्य तत्त्वज्ञानी निष्काम भाव से कर्म करता है। अतः उसके किये गये कर्म भविष्य के धर्माधर्म के निमित्त नहीं होते। 'सञ्चित' कर्म वे हैं जिन कर्मों के द्वारा धर्माधर्म का सञ्चय किया जा चुका है, जिनका भोग आगे होने वाला है। 'प्रारब्ध' कर्म का भोग तो वर्तमान शरीर की उत्पत्ति के साथ ही आरम्भ हो चुका है। भोग से प्रारब्ध कर्मों का नाश हो रहा है। यद्यपि सञ्चित कर्म ऐसे भी हो सकते हैं जिनका भविष्य के अनेक जन्मों में भोग किया जा सके तथापि मुमुक्षु योग के बल से समस्त धर्माधर्म को जान लेता है और यथोचित शरीरों का निर्माण करके उन सभी कर्मों का एक साथ ही भोग कर लेता है। इस प्रकार सञ्चित तथा प्रारब्ध कर्मों के नाश के पश्चात् जब साधक का पूर्व शरीर समाप्त हो जाता है तो वह अग्रिम शरीर को धारण नहीं करता, उसकी जन्म-परम्परा का नाश हो जाता है (वर्तमानशरीरापगमेऽपूर्वशरीराभावात्)। जन्म के नाश से दुःखों का नाश हो जाता है, जो २१ प्रकार का मुख्य तथा गौण दुःख है उसके साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता। क्यों? शरीर आदि के निमित्त तो धर्माधर्म हैं, उनका नाश हो जाने पर फिर नवीन शरीर आदि उत्पन्न नहीं हुआ करते—कारण के अभाव से कार्य का अभाव हो जाया करता है। यही दुखों का अत्यन्त विमोक्ष कहलाता है। इसका अभिप्राय है दुःख तथा उसके हेतु का अभाव। इसी को यहाँ इक्कीस प्रकार के दुःखों का अभाव कहा गया है।

टिप्पणी—मोक्ष के साधन तथा स्वरूप आदि के विषय में भारतीय दर्शन में अनेक मत हैं (i) मीमांसक और श्रीधर (न्यायकन्दली) जैसे न्या० वै० के आचार्य भी

[संशयः]

[1]एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशय। स च त्रिविधः। [2]विशेपादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः विप्रतिपत्तिजः असाधारणधर्मजश्चेति। तत्रैको विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः यथा; 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति। एकस्मिन्नेव हि पुरोवर्तिनि द्रव्ये स्थाणुत्वनिश्चायकं वक्रकोटरादिकं पुरुषत्वनिश्चायकञ्च शिरःपाण्यादिकं विशेषमपश्यतः स्थाणुपुरुषयोः समानधर्ममूर्ध्वत्वादिकञ्च[3] पश्यतः पुरुषस्य भवति संशयः 'किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति।

ज्ञानकर्म-समुच्चय को मुक्ति का साधन मानते हैं। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र को मुक्ति का साधन माना गया है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते हैं। सांख्य तथा वेदान्त आदि के अनुसार बन्ध अविद्या-कल्पित है, उसकी निवृत्ति ही मोक्ष कहलाता है। वस्तुतः (पुरुष) सदामुक्त ही है। इस प्रकार आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति ही मुक्ति है। वेदान्त के अनुसार आत्मा (ब्रह्म) सच्चिदानन्द स्वरूप है अतः मुक्ति की अवस्था में आनन्दरूपता होती है। (iii) मीमांसा के भाट्टसम्प्रदाय के उत्तरकालीन ग्रन्थों (मानमेयोदय) में भी मुक्ति में आनन्द की अनुभूति मानी गई है। (iv) वैशेषिक के अनुसार आत्मा के ज्ञान आदि नौ विशेष गुणों का उच्छेद ही मुक्ति है (न्यायकन्दली)। इस प्रकार न्या०-वै० के मत में मुक्ति में आनन्द या सुख का अनुभव नहीं होता। न्या० भा० (१. १. १२) आदि में मुक्ति में सुख अभिव्यक्त होता है, इस मत का निराकरण किया गया है। (v) बौद्ध तथा जैनदर्शन के भी मुक्ति के विषय में विभिन्न मन्तव्य हैं।

इस प्रकार न्याय-परम्परा का प्रमेय पदार्थ समाप्त हुआ।

३. संशय (तृतीय पदार्थ)

न्याय-परम्परा में प्रमेय दूसरा पदार्थ है। १२ प्रकार के प्रमेय का उपर निरूपण किया गया है। वहाँ 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिक-सम्प्रदाय के द्रव्य-गुण आदि पदार्थों का भी वर्णन कर दिया गया है। अब न्याय के अवशिष्ट १४ पदार्थों का वर्णन किया जाता है। न्याय का तृतीय पदार्थ संशय है--

एक धर्मी में अनेक विरुद्ध धर्मों का ज्ञान (=विमर्श) संशय है। वह तीन प्रकार का है—विशेष का दर्शन न होने पर (क) समान धर्म के दर्शन से उत्पन्न, (ख) विरुद्धार्थप्रतिपादक वचनों (विप्रतिपत्ति) से उत्पन्न, (ग) असाधारण धर्म के दर्शन से उत्पन्न। उनमें से एक विशेष का दर्शन न होने पर समान धर्म के दर्शन से उत्पन्न होने वाला है; जैसे 'यह स्थाणु है या पुरुष'। सामने उपस्थित एक ही द्रव्य में स्थाणुत्व का निश्चय कराने वाला जो वक्र कोटर (टेढ़ा खोकर) आदि है तथा पुरुष होने का निश्चायक जो सिर-हाथ आदि हैं उस विशेष (व्यावृत्ति, भेद) को न देखने वाले' किञ्च, स्थाणु और पुरुष के ऊँचाई आदि समान धर्म को देखने वाले व्यक्ति को (पुरुषस्य) इस प्रकार का संशय होता है—'क्या यह स्थाणु है या पुरुष'।

१. इदानीं संशयमाह, इत्यधिकः पाठः २. विशेपादर्शन······चेति, क्वचिन्नास्ति। ३. ऊर्ध्वतालक्षणम्, इति पाठा०।

द्वितीयस्तु संशयो विशेषादर्शने सति विप्रतिपत्तिजः । स यथा 'शब्दो नित्य उत अनित्य' इति तथा ह्ये को ब्रूते शब्दो नित्य इति अपरो ब्रूते शब्दोऽनित्य इति । तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो विशेषमपश्यतो भवति संशयः 'किमय शब्दो नित्य उतानित्य' इति ।

'तृतीयोऽसाधारणधर्मदर्शनजस्तु संशयो यथा नित्यादनित्याच्च व्यावृत्तेन भूमात्रासाधारणेन गन्धवत्त्वेन विशेषमपश्यतो भुवि नित्यत्वानित्यत्व-संशयः । तथाहि 'सकलनित्यव्यावृत्तेन गन्धवत्त्वेन योगाद् भूः किमनित्या उत सकलानित्यव्यावृत्तेन तेनैव योगान्नित्या' इति संशयः ।

द्वितीय संशय तो विशेष का दर्शन न होने पर विरुद्धार्थ-प्रतिपादक वचनों (विप्रतिपत्ति) से होता है । वह इस प्रकार है जैसे 'शब्द नित्य है या अनित्य क्योंकि एक कहता है शब्द नित्य है' दूसरा कहता है शब्द अनित्य है' । उन दोनों के विरुद्धार्थ-प्रतिपादक वचनों से मध्यस्थ पुरुष को विशेष का दर्शन न होने पर यह संशय होता है—'क्या यह शब्द नित्य है या अनित्य ?

तृतीय संशय तो (विशेष का दर्शन न होने पर) असाधारण धर्म (के दर्शन) से उत्पन्न होता है; जैसे नित्य तथा अनित्य (द्रव्यों में) न रहने वाले (व्यावृत्त) केवल भूमि के असाधारण धर्म गन्धवत्त्व को देखकर विशेष का दर्शन न करने वाले (व्यक्ति) को भूमि के विषय में नित्यत्व तथा अनित्यत्व का संशय हो जाता है । जैसे कि समस्त नित्य (पदार्थों) में न रहने वाले (=व्यावृत्त) गन्धवत्त्व (धर्म) के योग से 'क्या भूमि अनित्य है' अथवा समस्त अनित्य (पदार्थों) में न रहने वाले उस (गन्धवत्त्व धर्म) के योग से, (भूमि) नित्य है' इस प्रकार का संशय हो जाता है ।

न्या० सू० (२. १. २३) के अनुसार संशय का लक्षण है—समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः' । आगे चलकर संशय का जो रूप परिष्कृत हुआ वही तर्कभाषा में दिखलाया गया है ।

यहाँ जो संशय के तीन प्रकार बतलाये गये हैं उन तीनों में ही 'विशेषादर्शने सति' (=विशेष का दर्शन न होने पर) इस पद का अन्वय होता है । न्यायसूत्र में भी संशय के लक्षण में 'विशेषापेक्षः' यह पद दिया है । संशय में सर्वत्र विशेष की अपेक्षा बनी रहती है । विशेष का अभिप्राय है एककोटि का निश्चायक धर्म । सारांश यह है—यदि (i) दो वस्तुओं के समान धर्म का ज्ञान हो या (ii) एक वस्तु के विषय में विरुद्ध मतों का ज्ञान हो अथवा (iii) एक वस्तु के असाधारण धर्म का ज्ञान हो; किन्तु किसी एक कोटि के निश्चायक धर्म (=विशेष) का स्मरण न हो तो संशय उत्पन्न हो जाता है । संशय का अर्थ है विरुद्ध दो कोटियों का आलम्बन करन वाला ज्ञान (विरुद्धकोटिद्वयावलम्बि ज्ञानं संशयः, चि०), विप्रतिपत्ति का अर्थ है परस्पर विपरीत ज्ञान (विपरीत प्रतिपत्तिः) अथवा एक वस्तु के विषय में परस्पर

१. तृतीयो, इति क्वचिन्नास्ति ।

[४. प्रयोजनम्]

येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् । तच्च सुखदुःखावाप्तिहानी । तदर्था हि प्रवृत्तिः सर्वस्य ।[1]

[५. दृष्टान्तः]

वादिप्रतिवादिनोः संप्रतिपत्तिविषयोऽर्थो दृष्टान्तः । स द्विविधः । एकः साधर्म्यदृष्टान्तो यथा धूमवत्त्वस्य हेतोर्महानसम् । द्वितीयस्तु वैधर्म्यदृष्टान्तः । यथा तस्यैव हेतोः महाह्रद इति ।

[६. सिद्धान्त]

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः । स चतुर्धा सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अधिकरण-अभ्युगम सिद्धान्तभेदात् । तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो यथा धर्मिमात्र-सद्भावः । द्वितीयो यथा [1]नैयायिकस्य मते मनस इन्द्रियत्वम् । तद्धि समानतन्त्रे

विरुद्ध ज्ञान (व्याहतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्तिः, न्या० भा०) अथवा विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक दो वचन (विरुद्धार्थप्रतिपादकवचनद्वयी विप्रतिपत्तिः, चि०) ।

४. प्रयोजन

जिससे प्रयुक्त हुआ (जिसको उद्देश्य करके) व्यक्ति (पुरुष) प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन है । और वह सुख की प्राप्ति तथा दुःख की हानि ही है; क्योंकि सबकी उस (सुख की प्राप्ति तथा दु.ख के नाश) के लिये प्रवृत्ति होती है ।

मि०, यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् (न्या० सू० १.१.१४) ।

५. दृष्टान्त

वादी प्रतिवादी की सहमति (संप्रतिपत्ति) का विषय जो अर्थ है वह दृष्टान्त हैं । वह दो प्रकार का होता है एक तो साधर्म्य दृष्टान्त जैसे धूमवत्त्व हेतु का पाकशाला (महानस) है । दूसरा वैधर्म्य दृष्टान्त; जैसे उस (धूमवत्वहेतु) का ही सरो—वर (महाह्रद) है ।

न्यायसूत्र (१.१.२५) के अनुसार दृष्टान्त वह है जिसमें लौकिक तथा परीक्षक दोनों की समान मति (बुद्धिसाम्य) होती है—लौकिक-परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धि-साम्यं स दृष्टान्तः । किन्तु आगे चलकर वाद की दृष्टि से दृष्टान्त के स्वरूप का विकास हुआ । इसलिये यहाँ कहा गया है कि जिसे वादी-प्रतिवादी दोनों स्वीकार करते हैं वह दृष्टान्त है । सम्प्रतिपति का अर्थ है सहमति =ऐकमत्य ।

६. सिद्धान्त

प्रामाणिक (प्रमाण सिद्ध) रूप में माना गया अर्थ सिद्धान्त है वह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त तथा अभ्युपगम सिद्धान्त के भेद से चार प्रकार का है । उनमें सर्वतन्त्र सिद्धान्त है; जैसे केवल धर्मी की सत्ता (की स्वीकृति) । दूसरा (प्रतितन्त्र सिद्धान्त) है, जैसे नैयायिक के मत में मन का इन्द्रिय

---

१. स्वस्यस्य सर्वस्य, इति पाठा० । १. नैयायिकस्य मन इन्द्रियम् इति पाठा० ।

वैशेषिके सिद्धम्। तृतीयो यथा क्षित्यादिकर्तृत्वसिद्धौ कर्तुः सर्वज्ञत्वम्। चतुर्थी यथा जैमिनीयस्य नित्यानित्यविचारो[1] यथा भवतु, 'अस्तु तावच्छब्दो गुण' इति।

होना; क्योंकि वह समानतन्त्र वैशेषिक में प्रसिद्ध है। तृतीय (अधिकरण सिद्धान्त) है; जैसे क्षिति आदि का कर्त्ता सिद्ध होने पर (उस) कर्त्ता की सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। चतुर्थ (अभ्युपगम सिद्धान्त) है, जैसे जिससे (शब्द ,की) नित्यता तथा अनित्यता का विचार हो सके इसलिये मीमांसक का यह मानना अच्छा, शब्द गुण है, यह मान लिया।

न्यायभाष्य (१.१ १) के अनुसार सिद्धान्त वह है जो 'यह है', इस रूप में स्वीकार कर लिया जाता है—अस्त्ययमित्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः। इसका परिष्कृत रूप ही तर्कभाषा में विद्यमान है यहाँ सिद्धान्त का लक्षण है 'प्रामाणिकत्वेन' इत्यादि; जिस मन्तव्य को प्रामाणिक रूप में मान लिया जाता है, वह सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त चार प्रकार का है—

(१) सर्वतन्त्र-सिद्धान्त—तन्त्र का अर्थ है शास्त्र (तन्त्र्यते व्युत्पाद्यन्ते पदार्था अनेनेति)। सभी तन्त्रों के विरुद्ध न जाने वाला जो पदार्थ शास्त्र में स्वीकार किया जाता है, वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहलाता है। (मि०, न्या० सू० १.१.१८); जैसे घ्राण आदि इन्द्रियाँ हैं, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय हैं, यह मानने में किसी शास्त्र का विरोध नहीं है। इसकी न्यायशास्त्र में स्वीकृति सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। तर्कभाषा का उदाहरण है **धर्मिमात्रसद्भावः**=केवल धर्मी की सत्ता। शब्द आदि धर्मी की सत्ता सभी किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। उसके नित्यता, अनित्यता आदि धर्मों के विषय में ही विवाद हो सकता है अतः धर्मी की स्वीकृति सर्वतन्त्रसिद्धान्त है नव्यमत में तो वादी प्रतिवादी दोनों के द्वारा स्वीकृत कथा के अनुकूल मन्तव्य ही सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है (न्या० वृ० १.१.२८)।

२. प्रतितन्त्र-सिद्धान्त—न्यायसूत्र (१.१.२९) के अनुसार इसका लक्षण है समानतन्त्रसिद्धः, परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः। भाष्यकार के अनुसार इसका आशय है:—जिस सिद्धान्त का शास्त्र में निरूपण नहीं किया गया जो परतन्त्र में भी असिद्ध है किन्तु समानतन्त्र में प्रसिद्ध है वह प्रतितन्त्र सिद्धान्त है। वृत्तिकार के अनुसार इसका आशय है:—जिस सिद्धान्त को एक शास्त्र (समान=एक) स्वीकार करता है और दूसरा उसका विरोध करता है, वह प्रतितन्त्र सिद्धान्त है, जैसे मीमांसक का शब्द-नित्यत्व का मन्तव्य। तर्कभाषाकार ने यहाँ न्यायभाष्य का अनुसरण किया है। न्यायशास्त्र में मन की इन्द्रियों में गणना नहीं की गई, वेदान्त आदि भी मन को इन्द्रिय नहीं मानते (परतन्त्रासिद्ध) तथापि वैशेषिक शास्त्र जो न्याय का समानतन्त्र है, उसमें मन को इन्द्रिय कहा गया है अतः न्यायशास्त्र में मन का इन्द्रियत्व प्रतितन्त्र सिद्धान्त है।

३. अधिकरणसिद्धान्त—न्यायसूत्र (१.१.३०) के अनुसार इसका लक्षण

१. विचारे भवतु इति पाठा०। २. 'अस्तु' इति क्वचिन्नास्ति।

[७. अवयवाः]

'अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः । ते च प्रतिज्ञादयः पञ्च[2] । तथा च न्यायसूत्रम्—'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः' ।

तत्र साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादकं[3] वचनं प्रतिज्ञा, यथा पर्वतोऽयं वह्निमानिति । तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः । यथा धूमवत्त्वेन धूमवत्त्वादिति वा । सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् । यथा यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानस इति । पक्षे लिङ्गोपसंहारवचनमुपनयः ।

है जिसकी सिद्धि होने पर अन्य प्रकरण की सिद्धि हो जाती है, वह अधिकरण सिद्धान्त है । भाष्य में इसका उदाहरण यह दिया गया है जैसे इन्द्रियादि से व्यतिरिक्त ज्ञाता की सिद्धि हो जाने पर इन्द्रिय नानात्व आदि अनेक अर्थ सिद्ध हो जाते हैं अतः देहेन्द्रिय व्यतिरिक्त आत्मा है, यह मन्तव्य अधिकरण सिद्धान्त है । तर्कभाषा के उदाहरण में क्षिति आदि के कर्ता (ईश्वर) की सिद्धि हो जाने पर कर्त्ता की सर्वज्ञता आदि सिद्ध हो जाते हैं; क्योंकि जो सर्वज्ञ है वही क्षिति आदि का कर्त्ता हो सकता है ।

(४) अभ्युपगम-सिद्धान्त—न्यायसूत्र तथा भाष्य (१. १. ३१) के अनुसार अभ्युपगम सिद्धान्त वह है जो परीक्षा करने के लिये किसी अप्रामाणिक (अपरीक्षित) अर्थ को भी स्वीकार कर लिया जाता है । तर्कभाषा में सूत्र तथा भाष्य का ही अनुसरण किया गया है । तर्कभाषा में दिये गये उदाहरण का अभिप्राय यह है—न्याय तथा मीमांसा में शब्द की नित्यता अनित्यता के विषय में विवाद है । मीमांसक शब्द को द्रव्य मानता है किन्तु परीक्षा करने के लिये मीमांसक बिना प्रमाण के ही यह स्वीकार कर लेता है 'अच्छा' शब्द को गुण मान लिया' । यह मीमांसक का अभ्युपगम सिद्धान्त है ।

७. अवयव

अनुमान के वाक्य के अंश (एकदेश) अवयव (कहे जाते) हैं और, वे प्रतिज्ञा आदि पांच हैं, जैसा कि न्यायसूत्र (१.१.३२) है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन अवयव हैं । उनमें साध्य-धर्म से विशिष्ट पक्ष का कथन करने वाला वचन प्रतिज्ञा है; जैसे 'यह पर्वत अग्निमान् है' इत्यादि । तृतीया विभक्ति वाला या पञ्चमी विभक्ति वाला (धूम आदि) लिङ्ग का प्रतिपादकवचन हेतु है, जैसे धूमवत्त्वेन या धूमवत्त्वात् (धूम वाला होने से) । व्याप्ति के साथ दृष्टान्त को कहना उदाहरण है; जैसे जो धूमवान् होता है, वह अग्निमान् होता है, महानस के समान । पक्ष में लिङ्ग का उपसंहार करने वाला वचन उपनय है; जैसे 'यह (पर्वत) भी वह्निव्याप्य धूमवान् है, अथवा यह भी वैसा (वह्निव्याप्य धूम से विशिष्ट) ही है । पक्ष में साध्य का उपसंहार करने वाला वचन निगमन है; जैसे इसलिये (यह) अग्निमान् है, अथवा 'इसलिये (यह' भी) वैसा (अग्निमान्) है ।

१. परार्थानुमान०, इति पाठा० । २. पञ्च, इति क्वचिन्नास्ति ।
३. धर्मिप्रतिपादकम् इति पाठा० । ४. धूमवत्त्वेन, इति क्वचिन्नास्ति ।

यथा 'वह्निव्याप्यधूमवांश्चायमिति[1]; तथा चायमिति वा। पक्षे साध्योपसंहार-वचनं[2] निगमनम्। यथा तस्मादग्निमान् इति, तस्मात्तथेति वा। एते च प्रतिज्ञा-दयः पञ्चानुमानवाक्यस्यावयवा इवावयवाः, न तु समवायिकारणम्, शब्द-स्याकाशसमवेतत्वादिति।

[८. तर्कः]

तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः। स च सिद्धव्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्याङ्गीकारेण अनिष्टव्यापकप्रसञ्जनरूपः[3]। यथा यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवा-द्रक्ष्यत्' इति।

स चायं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः तथाहि पर्वतोऽयं साग्निः उता-नग्निः' इति सन्देहानन्तरं यदि कश्चिन्मन्येतानग्निरयमिति तदातं प्रति यद्यय-

और ये प्रतिज्ञा आदि पाँचों अनुमान वाक्य के अवयव के समान होते हैं अतः अवयव (कहे जाते) हैं। उस (अनुमान वाक्य) के समवायी कारण तो नहीं होते, क्यों कि शब्द तो आकाश में समवेत है (शब्द का समवायी कारण आकाश होता है)।

प्रतिज्ञा आदि परार्थानुमान वाक्य के अवयव होते हैं। किन्ही पुस्तकों में 'परा-र्थानुमानवाक्यैकदेशा अवयवाः, यही पाठ है। प्रतिज्ञा आदि का स्वरूप तथा उदाहरण मूल पाठ एवं अनुवाद से स्पष्ट है।

एते च प्रतिज्ञादयः—प्रतिज्ञा आदि को अवयव कहा जाता है। इससे यह शङ्का होती है जिस प्रकार पट के अवयव जो तन्तु हैं वे पट के समवायी कारण होते हैं क्या इसी प्रकार प्रतिज्ञा आदि भी अनुमान वाक्य के समवायी कारण हुआ करते हैं? इसका समाधान करते हुआ कहा गया है—एते च इत्यादि। भाव यह है कि अनु-मान याक्य तो शब्दों का समूह होता है और शब्द का समवायी कारण आकाश है अतः अनुमान वाक्य का समवायी कारण भी आकाश ही होता है। प्रतिज्ञा आदि अनुमान-वाक्य के समवायी कारण नहीं होते। इन्हें तो औपचारिक रूप में अयवय कह दिया जाता है। जिस प्रकार तन्तु आदि अवयव अवयवी के एकदेश होते हैं, इसी प्रकार ये भी अनुमान वाक्य के एकदेश होते हैं। अतः इन्हें अवयव कह दिया जाता है।

टिप्पणी—प्रतिज्ञा आदि अवयवों के विषय में ऊपर (पृ० ९२) भी द्रष्टव्य है।

८. तर्क

अनिष्ट की प्राप्ति होने लगना (='प्रसङ्ग') तर्क है। और, जिन दो धर्मों की व्याप्ति होती है उनमें से व्याप्य को स्वीकार करने से अनिष्ट व्यापक की प्राप्ति होने लगना ही उसका रूप है। जैसे यदि यहाँ घट होता तो भूतल के समान दिख-लाई देता'। यह तर्क प्रमाणों का उपकारक है। जैसे कि पर्वत अग्नि सहित या अग्निरहित है, इस प्रकार के सन्देह के पश्चात् यदि कोई मान ले कि यह अग्निरहित है तब उसके प्रति 'यदि यह अग्निरहित होता तो अग्निरहित होने से धूमरहित भी

१. वह्निव्याप्य, इति क्वचिन्नास्ति। २. साध्योपसंहारो, इति पाठा०।
३. प्रसञ्जनम्, इति पाठा०।

मनग्निरभविष्यत् तदानग्नित्वादधूमोऽप्यभविष्यत्' इत्यधूमवत्त्वप्रसञ्जनं क्रियते। स एष प्रसङ्गस्तर्क इत्युच्यते । अयं चानुभानस्य[1] विषयशोधकः प्रवर्तमानस्य धूमवत्त्वलिङ्गकानुमानस्य विषयमग्निमनुजानाति । अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात् । अतोऽनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति ।

अत्र कश्चिदाह 'तर्कः संशय एवान्तर्भवति' इति । तन्न । [2]एककोटिनिश्चितविषयत्वात् तर्कस्य ।

[९. निर्णयः]

निर्णयोऽवधारणज्ञानम् । तच्च प्रमाणानां फलम् ।

होता' इस प्रकार (अनिष्ट) धूमरहित होने (अधूमवत्त्व) की आपत्ति (प्रसङ्ग) की जाती है । यह (अनिष्ट) प्रसङ्ग ही तर्क कहलाता है । और, यह तर्क अनुमान के विषय का अबाधितत्व दिखलाता है (विषयशोधकः); अर्थात् धूमवत्त्व लिङ्ग के द्वारा प्रवृत्त होने वाले अनुमान का विषय जो अग्नि है, उसका समर्थन करता है (अनुजानाति); क्योंकि यह अग्निरहित होने का परिहार कर देता है । इसलिये यह अनुमान का उपकारक है ।

इस विषय में कोई कहते हैं कि तर्क का संशय में ही अन्तर्भाव हो जाता है । वह ठीक नहीं है; क्योंकि तर्क का विषय तो एक कोटि में निश्चित होता है (किन्तु संशय उभयकोटिक ज्ञान होता है) ।

तर्क की व्याख्या के लिये द्रष्टव्य ऊपर पृ० १४

न्यायसूत्र (१. १. ४०) में तर्क का स्वरूप है—अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः । कालान्तर में इसका रूप परिष्कृत हुआ है । वह परिष्कृत रूप ही यहाँ दिया गया है । न्या० वै० में तर्क को प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं माना जाता तथापि प्रमाणों का अनुग्राहक (=उपकारक) स्वीकार किया जाता है । वात्स्यायन का कथन है—तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते (१. १. १) । तर्क विशेष रूप से अनुमान का अनुग्राहक होता है । यह व्याप्ति के निश्चय में भी सहायक होता है, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है । अभाव के प्रत्यक्ष में तर्क साक्षात् उपकारक होता है । वाद आदि कथात्रय में किसी अर्थ की सिद्धि के लिये या प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करने के लिये तर्क उपयोगी होता है । (मि० न्या० भा० १. १. १) । तर्कशास्त्र में इसका विशेष महत्त्व है ।

किन्हीं ने (?) तर्क का संशय में अन्तर्भाव किया था, जिसका तर्कभाषाकार ने निराकरण किया है ।

९. निर्णय

निश्चित ज्ञान ही निर्णय है और वह प्रमाणों का फल होता है ।

---

१. ०नुमानप्य···जानाति, इति क्वचिन्नास्ति, तत्स्थाने च 'साध्यरूपोऽर्थो वर्तमानस्य तर्कस्य विषय, इति पाठ ।

२. एककोटिविषयत्वात्, इति पाठा० ।

[१०. वादः]

तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः। स चाष्टनिग्रहाणामधिकरणम् । ते च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्ताः, हेत्वाभासपञ्चकञ्च, इत्यष्टौ निग्रहाः ।

[११. जल्पः]

उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। सा च यथासम्भवं सर्वनिग्रहाणामधिकरणम् । परपक्षे दूषिते [1]स्वपक्षस्थापनप्रयोगावसानश्च ।

[१२. वितण्डा]

[2]स एव स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा । [3]सा च परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना । नास्य वैतण्डिकस्य स्थाप्यः पक्षोऽस्ति ।

कथा तु नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः ।

न्यायसूत्र (१. १. ४१) के अनुसार निर्णय का लक्षण है 'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः' । उसका परिष्कृत रूप ही तर्कभाषा में है ।

१०. वाद

तत्त्व के जिज्ञासु (जनों) की 'कथा' वाद है । और, वह आठ निग्रह-स्थानों का अधिकरण (=विषय, क्षेत्र) होता है । वे आठ निग्रह-स्थान हैं—न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त तथा पाँच हेत्वाभास ।

११. जल्प

जिसमें (पक्ष तथा प्रतिपक्ष) दोनों को सिद्ध किया जाता है वह विजय के इच्छुक जनों की कथा जल्प है । और, वह यथासंभव सब निग्रह-स्थानों का अधिकरण होता है । दूसरे का पक्ष खण्डित हो जाने पर अपने पक्ष की सिद्धि करने में इसकी समाप्ति (=अवसान) होती है ।

१२. वितण्डा

वह (जल्प) ही अपने पक्ष की स्थापना से हीन होता हुआ 'वितण्डा' (कहा जाता) है । उसकी समाप्ति परपक्ष के खण्डन मात्र से हो जाती है । इस वैतण्डिक (=वितण्डा करने वाले) को किसी पक्ष की स्थापना करनी नहीं होती ।

कथा तो वह वाक्य-समुदाय है जो अनेक वक्ताओं के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करता है ।

वाद, जल्प तथा वितण्डा ये तीन प्रकार की कथाएँ होती हैं—तिस्रः कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति (न्या० भा० १. २. १) । इनके न्यायसूत्रों (१.२.१—३) में जो लक्षण दिये गये हैं उनका परिष्कृत रूप ही तर्कभाषा में है । यहाँ कथा का लक्षण 'कथा तु' इत्यादि पंक्ति में किया गया है । तदनुसार जहाँ अनेक वक्ता होते हैं पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का कथन करने वाले वाक्यों का प्रयोग किया जाता है ऐसा

---

१. स्वपक्षसाधन०, इति पाठः । २. स एव, इति क्वचिन्नास्ति ।

३. सा च, इति क्वचिन्नास्ति ।

[१३. हेत्वाभासाः]

उक्तानां पक्षधर्मत्वादिरूपाणां मध्ये येन केनापि रूपेण हीना अहेतवः। तेऽपि कतिपयहेतुरूपयोगाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव। अत्रोदयनेन

विचार-विनिमय के लिये किया गया संवाद ही कथा है। जैसा कि विश्वनाथ ने न्यायवृत्ति (१.२.१) में दिखलाया है, कथा में वक्ता या तो तत्त्वनिर्णय के अभिलाषी (तत्त्वबुभुत्सु=तत्त्वजिज्ञासु) होते हैं अथवा विजय के अभिलाषी (विजिगीषु)। तत्त्व-निर्णय की इच्छा से जो कथा प्रवृत्त होती है वह वाद कहलाती है। वीतराग जन या गुरु शिष्य ही वाद से अर्थ-निर्णय किया करते हैं (वादे वादे जायते तत्त्वबोधः)। इसलिये वाद दूसरे को निगृहीत करने का अवसर कम होता है। फिर भी पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग तथा सद् हेतु का प्रयोग तो तत्त्वनिर्णय के लिये वाञ्छनीय है ही अतः न्यून, अधिक इत्यादि निग्रहस्थानों का प्रदर्शन वाद में किया जाता है। निग्रहस्थान किसी पक्ष की स्थापना में बाधक होते हैं, यह आगे दिखलाया जायेगा।

जल्प तथा वितण्डा भी कथा हैं। वाद से उनका अन्तर यह है—(i) वाद तत्त्वजिज्ञासु जनों की कथा है, (ii) उसमें सभी निग्रहस्थानों का प्रदर्शन नहीं होता। (iii) तत्त्व-निर्णय में उसकी समाप्ति होती है। दूसरी ओर जल्प विजिगीषु जनों की कथा है, उसमें वादी तथा प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष की सिद्धि में तत्पर रहते हैं, विजय की इच्छा ही प्रमुख होती है, तत्त्वनिर्णय नहीं। इसलिये यथासम्भव सभी निग्रहस्थानों का प्रदर्शन किया जाता है। (न्या० भा० १.२.२)। उसकी समाप्ति परपक्ष के खण्डन तथा स्वपक्ष की स्थापना में होती है।

वितण्डा भी विजिगीषु कथा है—जल्पविशेष ही है। किन्तु वहाँ प्रतिपक्षी अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता परपक्ष का खण्डन करना ही उसका उद्देश्य होता है। यही इसका जल्प से अन्तर है।

इस कथात्रय में वाद तो तत्त्वनिर्णय का साधन है तथा जल्प और वितण्डा का तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिये इसी प्रकार उपयोग किया जाता है जैसे पेड़ पौधों की रक्षा के लिये काँटे वाली शाखाओं का (मि०, न्या० सू० ४.२.५०)।

१३. हेत्वाभास

ऊपर (पृ० १०४) अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभासों का निरूपण किया जा चुका है न्याय-सम्प्रदाय के प्रमाण आदि षोडश पदार्थों में हेत्वाभास भी एक है अतः यहाँ षोडश पदार्थों के विवेचन के प्रसङ्ग में हेत्वाभासों का व्यवस्थित रूप से विवेचन किया जा रहा है—

ऊपर (पृ० १००) कहे गये पक्षधर्मता (=पक्षसत्त्व) आदि (हेतु के पाँच) रूपों में से किसी एक रूप से भी रहित (हेतु) अहेतु हो जाते हैं। वे भी (पक्षसत्त्व आदि पाँचों में से) कुछ हेतु-रूपों के योग से हेतु के समान आभासित होते हैं अतः हेत्वाभास (कहे जाते) हैं। वे (हेत्वाभास) असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट भेद से पाँच ही हैं।

'व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतया प्रतीतिः सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः' इत्यसिद्धिलक्षणमुक्तम् । तच्च यद्यपि विरुद्धादिष्वपि सम्भवतीति साङ्कर्यं प्रतीयते, तथापि यथा न साङ्कर्यं तथोच्यते[1]। यो हि यत्र साधने पुरः परिस्फुरति समर्थश्च दुष्टज्ञप्तौ स एव दुष्टज्ञप्तिकारको दूषणमिति यावत् नान्य इति । तेनैव [2]पुरःस्फूर्तिकेन दुष्टौ ज्ञापितायां कथापर्यवसाने जाते तदुपजीविनोऽन्यस्यानुपयोगात् । तथा च सति यत्र विरोधः साध्यविपर्ययव्याप्त्याख्यो दुष्टज्ञप्तिकारकः स विरुद्धो हेत्वाभासः । एवं यत्र व्यभिचारादयस्तथाभूतास्तेऽनैकान्तिकादयस्त्रयः । ते[3] पुनर्व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टहेतुस्वरूपज्ञप्त्यभावेन पूर्वोक्ता असिद्धचयादयो दुष्टज्ञप्तिकारकाः, दूषणानीति यावत् ।

इनमें से असिद्धि का उदयनाचार्य ने यह लक्षण किया है—व्याप्त हेतु की पक्षधर्मता के रूप में प्रतीति होना सिद्धि है और उसका अभाव असिद्धि है । यद्यपि यह (लक्षण) विरुद्ध आदि (हेत्वाभासों) में चला जाता है अतः साङ्कर्य दोष दिखलाई देता है, तथापि यहाँ ऐसी व्याख्या की जाती है (=उच्यते) जिससे साङ्कर्य न दिखलाई दे । जो (दोष) जिस हेतु (=साधन) में प्रथमतः (=पुरः पुरस्ताद्) परिस्फुरित होता है और (हेतु की) दुष्टता का ज्ञान कराने में समर्थ होता है वही दुष्टता का ज्ञापक अर्थात् दूषण (दोष) होता है, अन्य नहीं । क्योंकि प्रथमतः स्फुरित होने वाले उस (दूषण) से ही (हेतु के) दोष का ज्ञान करा दिये जाने पर कथा की समाप्ति हो जाती है अतः उस (दोष) के आश्रित होने वाले (=उपजीवी) अन्य दोष का वहाँ (कोई) उपयोग नहीं । और, ऐसा होने (मानने) पर जहाँ साध्याभाव (=साध्यविपर्यय) के साथ व्याप्ति होना नामक विरोध दुष्टता का ज्ञान कराता है वह विरुद्ध नाम का हेत्वाभास होता है । इसी प्रकार जहाँ व्यभिचार आदि दोष वैसे (प्रथमतः स्फुरित होकर हेतु की दुष्टता के ज्ञापक) होते हैं वहाँ अनैकान्तिक आदि तीन होते हैं । किन्तु वे पूर्वोक्त असिद्धि आदि तो व्याप्तिपक्षधर्मता विशिष्ट हेतु के स्वरूप की सिद्धि न होने से ही (हेतु की) दुष्टता का ज्ञान कराने वाले अर्थात् दूषण (दोष) होते हैं ।

हेत्वाभास के लक्षण तथा असिद्ध आदि भेदों का विवेचन ऊपर (पृ० १०६) किया जा चुका है । यहाँ तर्कभाषाकार ने असिद्ध हेत्वाभास के उदयनाचार्यकृत लक्षण को प्रस्तुत करके उसकी युक्तिसगत व्याख्या करने का प्रयास किया है । उदयनाचार्य के अनुसार व्याप्त हेतु की पक्षधर्मता का ज्ञान ही सिद्धि है उसका अभाव असिद्धि है । व्याप्त हेतु की पक्षधर्मता की प्रतीति का अर्थ है व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान या परामर्श । फलतः असिद्धि का अर्थ होगा—व्याप्ति का अभाव तथा पक्षधर्मता का अभाव । यह ठीक है कि तीन प्रकार के असिद्ध हेत्वाभास में आश्रयासिद्ध में तो पक्षधर्मता के ज्ञान का अभाव होता है तथा व्याप्यत्वासिद्ध में व्याप्ति का अभाव होता है ।

---

१. तथा तदुच्यते, इति पाठा० । २. पुरावस्फूर्तिकेन, इति पाठा० ।
३. ये, इति पाठा० ।

१. 'तथाभूतः सोऽसिद्धस्त्रिविधः'। आश्रयासिद्ध-स्वरूपासिद्ध-व्याप्यत्वासिद्धभेदात्[2]। तत्र यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः। यथा गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्'। अत्र हि गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव। अयमप्याश्रयासिद्धः। तथाहि 'घटोऽनित्यः कार्यत्वात् पटवत्' इति। नन्वाश्रयस्य [3]घटादेः सत्त्वात् कार्यत्वादिति हेतुर्नाश्रयासिद्धः, सिद्धसाधनं तु[4] स्यात्, सिद्धस्य घटानित्यत्वस्य साधनात्। मैवम्। न हि स्वरूपेण कश्चिदाश्रयो भवत्यनुमानस्य, किन्तु सन्दिग्धधर्मवत्त्वेन[5]। तथा चोक्तं भाष्ये—

किन्तु विरुद्ध तथा अनैकान्तिक हेत्वाभास में भी व्याप्तिज्ञान का अभाव होता है। अतः वहाँ भी उदयनाचार्यकृत असिद्ध का लक्षण चला जायेगा उस लक्षण का साङ्कर्य हो जायेगा। साङ्कर्य दोष का तर्कभाषाकार ने 'तथापि यथा न' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा परिहार किया है। भाव यह है:—जहाँ कई हेत्वाभासों की संभावना होती है वहाँ जो हेतुदोष प्रथमतः बुद्धि में स्फुरित होता है (सूझता है) वही हेतु की दुष्टता को सूचित कर देता है। फलतः पक्ष का निर्णय हो जाता है या प्रतिपक्ष का निराकरण हो जाता है और कथा (वाद आदि) समाप्त हो जाती है। फिर दूसरे दोष के प्रदर्शन का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। इस प्रकार जहाँ 'विरोध' हेतु की दुष्टता का सूचक होता है वहाँ विरुद्ध हेत्वाभास होता है, जहाँ व्यभिचार आदि हेतु की दुष्टता के सूचक होते हैं वहाँ अनैकान्तिक आदि हेत्वाभास होते हैं और जहाँ असिद्धि आदि के कारण हेतु का व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्ट रूप सिद्ध नहीं होता वहाँ असिद्ध हेत्वाभास होता है। अतः कोई दोष नहीं।

१. असिद्ध हेत्वभास (क, आश्रयासिद्ध)

ऐसा वह असिद्ध (हेत्वाभास) (क) आश्रयासिद्ध, (ख) स्वरूपासिद्ध तथा (ग) व्याप्यत्वासिद्ध के भेद से तीन प्रकार का है उनमें से जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) ही सिद्ध नहीं होता (नावगम्यते) वह आश्रयासिद्ध है; जैसे गगन-कमल सुगन्धित होता है; क्योंकि वह कमल है, सरोवर में उत्पन्न कमल के समान। यहाँ गगन कमल आश्रय है और वह होता ही नहीं।

यह भी आश्रयासिद्ध होता है, जैसे घट अनित्य है; क्योंकि वह कार्य है, पट के समान। (यहाँ शङ्का है) यहाँ तो घट आदि आश्रय है वह तो सत् (विद्यमान) है अतः यहाँ 'कार्यत्वात्' यह हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है। हाँ, यह सिद्धसाधन हो सकता है; क्योंकि यह (पहिले से) सिद्ध घट की अनित्यता का साधक है। (समाधान) ऐसा (कथन) ठीक नहीं। क्यों कोई पदार्थ स्वरूप से अनुमान का आश्रय नहीं होता किन्तु सन्दिग्ध धर्म से युक्त होने के कारण (वह अनुमान का आश्रय होता है)। जैसे

१. तथाभूतः सोऽसिद्धः। स च, इति पाठा०।
२. आश्रयस्वरूपव्याप्यत्वासिद्धभेदात्, इति पाठा०।
३. घटादेः, इति क्वचिन्नास्ति। ४. सिद्धसाधकस्तु, इति पाठा०।
५. सन्दिग्धः, इति पाठा०।

'नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्ततेऽपि तु सन्दिग्धे ।'[1]
न च घटे नित्यत्वसन्देहोऽस्ति। अनित्यत्वस्य निश्चितत्वात् । तेन यद्यपि स्वरूपेण घटो विद्यते, तथाप्यनित्यत्वसन्देहाभावान्नासावाश्रय इत्याश्रयासिद्धत्वादहेतुः ।

स्वरूपासिद्धस्तु स उच्यते यो हेतुराश्रये नावगम्यते[2] । यथा 'सामान्यमनित्यं कृतकत्वात्' इति कृतकत्वं हि हेतुराश्रये सामान्ये नास्त्येव[3] । भागासिद्धोऽपि स्वरूपासिद्ध एव । यथा 'पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणवो नित्या

कि न्यायभाष्य में कहा गया है "न तो अज्ञात (अनुपलब्ध) अर्थ में, न ही निश्चित अर्थ में अनुमान प्रवृत्त होता है, किन्तु सन्दिग्ध अर्थ में, (ही प्रवृत्त होता है) (न्या० भा० १.१.१) । और, घट में अनित्यता का सन्देह है नहीं; क्योंकि उसकी अनित्यता निश्चित ही है । इस प्रकार यद्यपि स्वरूप से घट विद्यमान है, तथापि उसमें अनित्यत्व का सन्देह नहीं है, अतः वह आश्रय नहीं है और आश्रयासिद्ध होने से अहेतु (हेत्वाभास) है ।

अयमप्याश्रयासिद्धः—कुछ (?) तार्किक सिद्धसाधन नाम का एक पृथक् हेत्वाभास मानते थे । उनके अनुसार 'घटोऽनित्यः कार्यत्वात्' यह सिद्धसाधन का उदाहरण है । घट की अनित्यता तो सर्वविदित है, प्रत्यक्ष द्वारा ही वह सिद्ध है अतः उसकी सिद्धि के लिये दिया गया हेतु 'सिद्धसाधन' (सिद्धस्य साधनम्) ही है । तर्कभाषाकार ने यहाँ दिखलाया है कि सिद्धसाधन नामक पृथक् हेत्वाभास नहीं है अपितु 'घटोऽनित्यः कार्यत्वात्' इत्यादि में आश्रयासिद्ध हेत्वाभास ही है । कैसे ? कोई पदार्थ स्वरूप से अनुमान का आश्रय नहीं होता अपितु सन्दिग्ध धर्म से युक्त होकर ही वह अनुमान का आश्रय हुआ करता है । घट में अनित्यता का सन्देह नहीं है । अतः वह उपर्युक्त अनुमान का आश्रय नहीं हो सकता इस प्रकार आश्रय के असिद्ध होने से यह आश्रयासिद्ध ही है फलतः सिद्धसाधन नामक हेत्वाभास का आश्रयासिद्ध में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

टिप्पणी—'नानुपलब्धे०' इत्यादि अवतरण को न्यायभाष्य की विभिन्न पुस्तकों में विविध प्रकार से दिया गया है । एक संस्करण में यहाँ अपनाया गया पाठ ही है । यह ऊपर (पृ० ८७) उद्धृत पाठ से अधिक मिलता है, केवल 'किन्तु' के स्थान पर 'अपितु' पाठ है ।

(घ) स्वरूपासिद्ध

स्वरूपासिद्ध तो वह कहा जाता है जो हेतु आश्रय में (सिद्ध) नहीं होता, जैसे सामान्य अनित्य है, क्योंकि वह कृतक (=कार्य=जन्य) है । यहाँ जो 'कृतकत्व' हेतु है वह सामान्य रूपी आश्रय (पक्ष) में नहीं है । भागासिद्ध भी स्वरूपासिद्ध ही है; जैसे 'चार परमाणुरूप पृथिवी आदि नित्य हैं, क्योंकि गन्धयुक्त (गन्धवत्—गन्ध वाले) हैं । यहाँ जो गन्धवत्त्व हेतु है वह पक्ष रूप में दिये गये सब (पृथिवी, जल, तेज,

१. नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेऽपि तु सन्दिग्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, इति पाठा० ।
२. नैवावगम्यते, इति पाठा० । ३. नास्ति, इति पाठा० ।

गन्धवत्त्वाद्' इति । गन्धवत्त्वं हि पक्षीकृतेषु सर्वेषु' नास्ति, पृथिवीमात्रवृत्तित्वात् । अतएव भागे स्वरूपासिद्धः ।

तथा विशेषणासिद्ध-विशेष्यासिद्ध-असमर्थविशेषणासिद्ध-असमर्थविशेष्यासिद्धादयः स्वरूपासिद्धभेदाः । तत्र विशेषणासिद्धो यथा शब्दो नित्यो द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शत्वात्' । अत्र हि द्रव्यत्वविशिष्टमस्पर्शत्वं हेतुर्नास्पर्शत्वमात्रम् । शब्दे च द्रव्यत्वं 'विशेषणं नास्ति, गुणत्वात्, अतो विशेषणासिद्धः । न चासति विशेषणे द्रव्यत्वे तद्विशिष्टमस्पर्शत्वमस्ति । विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्' । यथा दण्डमात्राऽभावे पुरुषाऽभावे वा' दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्याभावः । तेन सत्यप्यस्पर्शत्वे 'द्रव्यत्वविशिष्टस्य हेतोरभावात् स्वरूपासिद्धत्वम् । विशेष्यासिद्धो यथा 'शब्दो नित्योऽस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वात्' इति । अत्रापि विशिष्टो हेतुः । न च विशेष्याऽभावे विशिष्टं स्वरूपमस्ति । विशिष्टश्च हेतुर्नास्त्येव ।

'असमर्थविशेषणासिद्धो यथा, शब्दो नित्योगुणत्वे सत्यकारणकत्वात्' । अत्र हि विशेषणस्य गुणत्वस्य' न किञ्चित् सामर्थ्यमस्तीति । विशेष्यस्या-

---

वायु) में नहीं रहता; क्योंकि केवल पृथिवी में ही (गन्धवत्त्व) होता है । इस लिये (यह हेतु) (एक) भाग में स्वरूपासिद्ध, है ।

इसी प्रकार विशेषणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, असमर्थविशेषणासिद्ध तथा असमर्थविशेष्यासिद्ध इत्यादि भी स्वरूपासिद्ध के प्रकार ही हैं । उनमें से विशेषणासिद्ध है, जैसे 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह द्रव्य होकर स्पर्शरहित है । यहां द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व हेतु है, अस्पर्शत्व मात्र हेतु नहीं वे और शब्द में 'द्रव्यत्व' विशेषण नहीं रहता; क्योंकि शब्द तो गुण है । इसलिये यह विशेषणासिद्ध है । और, द्रव्यत्व रूप विशेषण के न होने पर उस (द्रव्यत्व) से विशिष्ट अस्पर्शत्व नहीं हो सकता; क्योंकि विशेषण का अभाव होने पर विशिष्ट का भी अभाव हो जाया करता है; जैसे केवल दण्ड का अभाव होने पर अथवा पुरुष का अभाव होने पर दण्डविशिष्ट पुरुष का अभाव होता है । इसी प्रकार यद्यपि (शब्द में) अस्पर्शत्व विद्यमान है तथापि द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व रूप हेतु का अभाव ही है । इसलिये यह स्वरूपासिद्ध (हेत्वाभास) है । विशेष्यासिद्ध यह है. जैसे 'शब्द नित्य है; क्योंकि यह स्पर्शरहित होकर द्रव्य है' । यहां भी (अस्पर्शत्व से) विशिष्ट (द्रव्यत्व) हेतु है । (शब्द में द्रव्यत्व रूप विशेष्य नहीं है) और विशेष्य का अभाव होने पर विशिष्ट स्वरूप नहीं होता । किञ्च, विशिष्ट हेतु (आश्रयभूत शब्द में) नहीं है (अतः विशेष्यासिद्ध भी स्वरूपासिद्ध ही है) ।

असमर्थविशेषणासिद्ध यह है; जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि यह गुण होकर कारणरहित है'' । यहां (हेतु में) विशेषण जो गुणत्व है, इसका नित्यत्व की सिद्धि

---

१. परमाणुषु, इति पाठा० ।
२. स्वरूपासिद्धत्वम्, इति पाठा० ।
३. विशेषणम्, इति क्वचिन्नास्ति ।
४. विशिष्टस्याभावात्, इति पाठा०
५. च, इति पाठा० ।
६. द्रव्यत्व, इति क्वचिन्नास्ति ।
७. असमर्थविशेषणो, इति पाठा० ।
८. गुणत्वस्य, इति क्वचिन्नास्ति ।

कारणकत्वस्यैव [1]नित्यत्वसाधने सामर्थ्यात् । अतोऽसमर्थविशेषणता । स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात् । ननु विशेषणं गुणत्वं तत्र शब्देऽस्त्येव तत्कथं विशेषणाभावः । सत्यमस्त्येव गुणत्वं किन्तु न तद्विशेषणम् । तदेव हि हेतोर्विशेषणं भवति[2] यदन्यव्यवच्छेदेन प्रयोजनवत् । गुणत्वं तु [3]निष्प्रयोजनमतोऽसमर्थमित्युक्तमेव । असमर्थविशेष्यो यथा तत्रैव तद्वैपरीत्येन प्रयोगः । तथाहि, शब्दोनित्योऽकारणकत्वे सति गुणत्वात् इति । अत्र तु विशेषणमात्रस्यैव नित्यत्वसाधने समर्थत्वाद् विशेष्यमसमर्थम् । [4]स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेष्याभावे विशिष्टाभावाद्, विशिष्टस्य च हेतुत्वेनोपादानात् । शेषं पूर्ववत् ।

में) कुछ भी सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि विशेष्य जो अकारणत्व है वही नित्यत्व की सिद्धि में समर्थ है (जो कारणजन्य नहीं होता वह नित्य होता है यह नियम है)। इसलिये इस हेतु में असमर्थविशेषणता है । और, यह स्वरूपासिद्ध है; क्योंकि विशेषण के अभाव में विशिष्ट का भी अभाव होता है । (शङ्का) यहाँ 'गुणत्व' विशेषण है जो शब्द में है ही । फिर यहाँ विशेषण का अभाव कैसे है ? (समाधान) ठीक है कि (शब्द में) गुणत्व है किन्तु वह विशेषण नहीं है । हेतु का विशेषण वही होता है जो अन्य की व्यावृत्ति (=व्यवच्छेद) के लिये उपयोगी होता है (प्रयोजनवत्) । गुणत्व तो (यहाँ) निष्प्रयोजन है । अत: यह असमर्थ है, यह कहा गया है । असमर्थविशेष्य यह है; जैसे उस (अनुमान) में ही उसमे विपरीत रूप में प्रयोग कर दिया जाये । जैसे कि "शब्द नित्य है; क्योंकि वह कारणरहित होने पर गुण है । यहाँ तो केवल विशेषण ही नित्यता को सिद्ध करने में समर्थ है इसलिये विशिष्य असमर्थ ही है । और, यह स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि विशेष्य का अभाव होने पर विशिष्ट का अभाव हुआ करता है और विशिष्ट का ही हेतु रूप में ग्रहण किया गया है । शेष पहिले (असमर्थविशेषण) के समान है ।

जहाँ आश्रय (पक्ष) में हेतु स्वरूप से विद्यमान नहीं होता वहाँ स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होता । भागासिद्ध का भी स्वरूपासिद्ध में ही अन्तर्भाव किया जाता है । भागासिद्ध वहाँ होता है जहाँ हेतु पक्ष के कुछ भाग में रहे अन्य भाग में न रहे—असिद्ध हो : उदाहरणार्थ पृथिवी-जल-तेज तथा वायु के परमाणु नित्य हैं, क्योंकि वे गन्धयुक्त (गन्धवत्) हैं' यहाँ जो गन्धवत्त्व हेतु है । वह स्वरूपासिद्ध है ।

विशेषणासिद्ध —भी स्वरूपासिद्ध ही है । जहाँ कोई विशिष्ट हेतु दिया जाता है-और आश्रय में विशेषण असिद्ध होता है, यहाँ विशेषणासिद्ध कहा जाता है । यह नियम है कि विशेषण के अभाव में विशिष्ट का अभाव होता है (विशेषणाभावे विशिष्टाभावः) अतः विशेषण के असिद्ध होने पर विशिष्ट हेतु का आश्रय में अभाव

१. नित्यत्वसाधनसामर्थ्यात्, इति पाठा० । २. भवति, इति क्वचिन्नास्ति ।
३. अतो, इति क्वचिन्नास्ति । ४. स्वरूपासिद्धस्तु, इति पाठा० ।

व्याप्यत्वासिद्धस्तु स एव यत्र 'हेतोर्व्याप्तिर्नावगम्यते[1]। स द्विविधः। एकः साध्येनासहचरितः, अपरस्तु सोपाधिकसाध्यसम्बन्धी[2] तत्र प्रथमो यथा 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, संश्च विवादास्पदीभूतः शब्दादिः' इति। अत्र हि शब्दादिः पक्षः, तस्य क्षणिकत्वं साध्यं, सत्त्वं हेतुः। न चास्य हेतोः क्षणिकत्वेन सह व्याप्तौ प्रमाणमस्ति। इदानीमुपाधिसहितो [3]व्याप्यत्वासिद्धः प्रदर्श्यते। तद्यथा स श्यामो[4], मैत्रीतनयत्वात्, परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्' इति। अत्र हि मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वं साध्यते। न च मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वे प्रयोजकं किन्तु शाकाद्यन्नपरिणाम एवात्र प्रयोजकः[5]। प्रयोजकश्चोपाधिरुच्यते। अतो मैत्रीतनयत्वस्य[6]श्यामत्वेन सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणाम एवोपाधिः। [7]यथाऽग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। अत एवोपाधिसम्बन्धाद्

हो जाता है और स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होता है। इसी प्रकार विशेष्यासिद्ध भी स्वरूपासिद्ध ही है (ह० अनुवाद)।

असमर्थविशेषण में इतना अन्तर है कि वहाँ विशेषण आश्रय में रहता तो है किन्तु वह साध्य की सिद्धि में निष्प्रयोजन होता है। क्यों? व्यवच्छेदक या भेदक को विशेषण कहते हैं। विशेषण का प्रयोजन है इतरव्यावृत्ति। जहाँ विशेषण किसी की व्यावृत्ति नहीं करता, वहाँ वह विशेषण ही नहीं होता या कहिये उसमें विशेषणत्व ही नहीं होता। इस प्रकार विशेषण के असमर्थ=निष्प्रयोजन होने पर आश्रय में विशिष्ट हेतु का अभाव होता है अतः असमर्थविशेषण भी स्वरूपासिद्ध है। इसी प्रकार असमर्थ विशेष्य भी स्वरूपासिद्ध है।

(ग) व्याप्यत्वासिद्ध

व्याप्यत्वासिद्ध तो वह है जहाँ हेतु में व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। वह दो प्रकार का है। एक तो साध्य के साथ सहचार न रखने वाला, दूसरा उपाधियुक्त साध्य से सम्बन्ध रखने वाला। उनमें से प्रथम है; जैसे "जो सत् है वह क्षणिक है जैसे जलधर और विवाद का विषय शब्द आदि सत् है।" यहाँ शब्द आदि पक्ष है, उसकी क्षणिकता साध्य है, सत्त्व हेतु है। और, इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि इस (सत्त्व) हेतु की क्षणिकता के साथ व्याप्ति है।

अब सोपाधिक व्याप्यत्वासिद्ध दिखलाया जाता है। जैसे 'वह श्याम है, क्योंकि मैत्री का पुत्र है दृश्यमान मैत्री के पुत्र समुदाय के समान" यहाँ मैत्रीतनयत्व (मैत्री का पुत्र होना) के द्वारा श्यामत्व की सिद्धि की जा रही है। किन्तु मैत्रीतनयत्व तो श्यामत्व का निमित्त (प्रयोजक) नहीं होता अपि तु शाक आदि भोजन का परिपाक ही इसमें निमित्त या प्रयोजक होता है। प्रयोजक को ही उपाधि कहा जाता है। इस प्रकार मैत्रीतनयत्व के श्यामत्व के साथ सम्बन्ध में शाक आदि भोजन का परिणाम

---

१. हेतोर्, इति क्वचिन्नास्ति। २. सोपाधिकतया साध्यसम्बन्धः, इति पाठा०।
३. यो व्याप्यत्वासिद्धः सः, इति पाठा०। ४. श्यामो मैत्रतनयः, इति पाठा०।
५. अत्र प्रयोजकः, इति क्वचिन्नास्ति। ६. मैत्रीतनयत्वेन, इति पाठा०।
७. यथा वा, इति पाठा०।

व्याप्तिर्नास्तीति व्याप्यत्वासिद्धोऽयं मैत्रीतनयत्वादिर्हेतुः । तथा परोऽपि व्याप्यत्वासिद्धः । यथा 'क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावत्' । इति । न च हिंसात्वमधर्मे प्रयोजकं किंतु निषिद्धत्वमुपाधिरिति पूर्ववदुपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्धोयं हिंसात्वं हेतुः । ननु 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापको यः स उपाधिः' इत्युपाधिलक्षणम् । तच्च निषिद्धत्वे नास्ति तत् कथं निषिद्धत्वमुपाधिरिति । मैवम् । निषिद्धत्वेऽप्युपाधिलक्षणस्य विद्यमानत्वात् । तथा हि साध्यस्य अधर्मजनकत्वस्य[1] व्यापकं निषिद्धत्वम् । यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं, तत्र[2] निषिद्धत्वस्य विद्यमानत्वात् । न च यत्र यत्र हिंसात्वं तत्रावश्य निषिद्धत्वं क्रत्वङ्गहिंसायां व्यभिचारात् । अस्ति हि क्रत्वङ्गहिंसायां हिंसात्वं न चात्र निषिद्धत्वमिति । तदेवं त्रिविधोऽसिद्धो दर्शितः ।

ही उपाधि है, जिस प्रकार अग्नि के धूम के साथ सम्बन्ध में आर्द्रेन्धनसंयोग (उपाधि होती है) अतएव उपाधि का सम्बन्ध होने से यहाँ व्याप्ति नहीं है और यह मैत्रीतनयत्वादि हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है ।

इसी प्रकार दूसरा भी व्याप्यत्वासिद्ध होता है जैसे 'यज्ञ में होने वाली हिंसा अधर्म का साधन है, क्योंकि वह हिंसा है जैसे यज्ञ से बाहर की हिंसा' । हिंसात्व तो अधर्म का निमित्त नहीं होता किन्तु निषिद्धत्व होता है । इस प्रकार पूर्व (हेतु) के समान उपाधि के होने से यह हिंसात्व हेतु भी व्याप्यत्वासिद्ध है । (शङ्का) उपाधि का लक्षण है कि जो साध्य में व्यापक होकर साधन में व्यापक नहीं होती वह उपाधि होती है । और यह (लक्षण) निषिद्धत्व में नहीं जाता, फिर निषिद्धत्व उपाधि कैसे है ? (समाधान) ऐसा (कथन) ठीक नहीं, क्योंकि निषिद्धत्व में भी उपाधि का लक्षण विद्यमान है । जैसे कि साध्य जो अधर्मजनकत्व है निषिद्धत्व उसका व्यापक है जहाँ-जहाँ अधर्मसाधनत्व है वहाँ-वहाँ निषिद्धत्व विद्यमान होता है ; और, जहाँ-जहाँ हिंसात्व है वहाँ-वहाँ नियम से (=अवश्य) निषिद्धत्व नहीं होता । क्योंकि यज्ञ का अङ्ग होने वाली हिंसा में (नियम का) व्यभिचार है । यज्ञ का अङ्ग होने वाली हिंसा में हिंसात्व तो है किन्तु इसमें (अत्र) निषिद्धत्व नहीं है । इस प्रकार तीन प्रकार का असिद्ध दिखला दिया ।

टिप्पणी —(i) व्याप्यत्वासिद्ध के विषय में ऊपर (पृ० ११२) विस्तार से लिखा गया है, (ii) न्यायसूत्र में असिद्ध हेत्वाभास के स्थान पर साध्यसम नामक हेत्वाभास बतलाया गया था उसका लक्षण है 'साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः' (न्या० सू० १.२.८) । उसका स्वरूप उत्तरकालीन असिद्ध से भिन्न प्रतीत होता है । वृत्तिकार ने उसकी उत्तरकालीन असिद्ध के रूप में व्याख्या की है ।

---

१. अधर्मसाधनस्य, इति पाठा० ।

२. अवश्यं निषिद्धत्वमिति, इत्यधिकः पाठः ।

२. संप्रति विरुद्धः कथ्यते । साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । यथा 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' इति । अत्र हि नित्यत्वं साध्यं, कृतकत्वं हेतुः[1] । तद्विपर्ययेण चानित्यत्वेन कृतकत्वं व्याप्तं, यतो यद्यत् कृतकं तत्तत् खल्वनित्यमेव । अतः साध्यविपर्ययव्याप्तत्वात् कृतकत्वं हेतुर्विरुद्धः ।

३. साध्यसंशयहेतुरनैकान्तिकः सव्यभिचार इति वोच्यते । स द्विविधः साधारणानैकान्तिको असाधारणानैकान्तिकश्चेति । तत्र प्रथमः, पक्ष-सपक्ष-विपक्ष-वृत्तिः । यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् । इति । अत्र प्रमेयत्वं हेतुः पक्षे शब्दे, सपक्षे नित्ये व्योमादौ, विपक्षे चानित्ये घटादौ[2] विद्यते[3] । 'सर्वस्यैव[4] प्रमेयत्वात् । 'तस्मात् प्रमेयत्वं हेतुः साधारणानैकान्तिकः[5] । असाधारणानैकान्तिकः स एव यः सपक्षविपक्षाभ्यां व्यावृत्तः पक्ष एव वर्तते[6] । यथा

२. विरुद्धहेत्वाभास

अब विरुद्ध हेत्वाभास का वर्णन किया जाता है । साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध (हेत्वाभास) होता है । जैसे "शब्द नित्य है, क्योंकि वह कृतक (कार्य, जन्य) है" यहाँ नित्यत्व साध्य है । कृतकत्व हेतु है । और, कृतकत्व उस (नित्यत्व) के अभाव अनित्यत्व से व्याप्त है । क्योंकि जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य ही होता है । इसलिये यहाँ कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि यह साध्याभाव से व्याप्त है ।

विरुद्ध हेत्वाभास का निरूपण ऊपर (पृ० ११४) भी किया गया है । न्यायसूत्र में विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण यह है 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' (न्यां० सू०) १.२.६) । न्यायभाष्य के अनुशीलन से विदित होता है कि वहाँ विरुद्ध का स्वरूप उत्तरकालीन विरुद्ध हेत्वाभास के स्वरूप से भिन्न है ।

३. अनैकान्तिक हेत्वाभास

साध्य के संशय का हेतु अनैकान्तिक या सव्यभिचार (हेत्वाभास) है । वह दो प्रकार का है साधारण अनैकान्तिक और असाधारण अनैकान्तिक । उनमें से प्रथम (साधारण अनैकान्तिक) वह है जो पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष में रहता है । जैसे 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है" । यहां प्रमेयत्व हेतु शब्द रूप पक्ष में, नित्य आकाश आदि सपक्ष में और अनित्य घट आदि विपक्ष में रहता है; क्योंकि सभी प्रमेय होते हैं । इसलिये प्रमेयत्व हेतु साधारण अनैकान्तिक है, असाधारण अनैकान्तिक तो वह होता है जो सपक्ष तथा विपक्ष में नहीं रहता, पक्ष में ही रहता है । जैसे 'भूमि नित्य है, क्योंकि वह गन्ध वाली है" । यहाँ गन्धवत्व हेतु है । वह नित्य आकाश आदि

१. कृतकत्वं हेतुः. इति क्वचिन्नास्ति ।

२. शब्दे—व्योमादौ—घटादौ, इति क्वचिन्न सन्ति ।

३. वर्तते, इति पाठा० । ४. सर्वस्य, इति पाठा० ।

५. तस्मात् ··न्तिकः, इति क्वचिन्नास्ति ।

६. पक्ष एव वर्तते, इति क्वचिन्नास्ति ।

'भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्' इति । अत्र गन्धवत्त्वं हेतुः । स च सपक्षान्नित्याद् व्योमादेः, विपक्षाच्चानित्याज्जलादेर्व्यावृत्तो गन्धवत्त्वस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वादिति । व्यभिचारस्तु लक्ष्यते । सम्भवत्सपक्षविपक्षस्य[1] हेतोः सपक्षवृत्तित्वे सति विपक्षाद् व्यावृत्तिरेव नियमो गमकत्वात् । [2]तस्य च साध्यविपरीततताव्याप्तस्य तन्नियमाभावो व्यभिचारः । स च द्वेधा सम्भवति । [3]सपक्षविपक्षयोर्वृत्तौ ताभ्यां व्यावृत्तौ च ।

सपक्ष में तथा अनित्य जल आदि विपक्ष में नहीं रहता (दोनों से व्यावृत्त है); क्योंकि गन्धवत्त्व (गन्ध वाला होना) केवल भूमि में होता है ।

यहाँ व्यभिचार का लक्षण किया जाता है । जिस हेतु में सपक्ष तथा विपक्ष दोनों हो सकते हैं (अर्थात् अन्वय-व्यतिरेकी हेतु), उसकी सपक्ष में वृत्ति (=सपक्षसत्त्व) होने पर विपक्ष में व्यावृत्ति होना ही नियम है, क्योंकि तभी वह (साध्य का) अनुमापक होता है । और, साध्य के अभाव से व्याप्त न होने वाले (साध्यविपरीततया=साध्याभावेन व्याप्तस्य) उस हेतु का उस प्रकार का नियम न होना ही व्यभिचार है । वह व्यभिचार दो प्रकार का हो सकता है एक तो जब हेतु सपक्ष तथा विपक्ष (दोनों) में रहता है और दूसरे जब उन दोनों में नहीं रहता है (दोनों से व्यावृत्त होता है ।)

अनैकान्तिक का निरूपण ऊपर (पृ० ११६) किया जा चुका है । इसके दोनों नाम हैं अनैकान्तिक तथा सव्यभिचार । न्यायसूत्र (१.२.५) के अनुसार 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' यह लक्षण है । तर्कभाषाकार ने इसका लक्षण किया है 'साध्यसंशय हेतुः । 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्' इत्यादि साधारण अनैकान्तिक रूप से साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता । इसी प्रकार भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्' इत्यादि असाधारण अनैकान्तिक में जो गन्धवत्त्व हेतु है उसमें सपक्षसत्त्व नामक हेतु-रूप का अभाव है अतः यह भी साध्य के संशय का हेतु होता है ।

व्यभिचारस्तु लक्ष्यते—अनैकान्तिक को सव्यभिचार भी कहते हैं यहाँ 'व्यभिचार' शब्द का क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट करने के लिये तर्कभाषाकार ने व्यभिचार का लक्षण दिखलाया है । व्यभिचार का सामान्य अर्थ है नियम का अतिक्रमण, नियम का अभाव (नियमाभावो व्यभिचारः) । हेतु के पक्षसत्त्व आदि पाँच रूप होते हैं । अन्वय-व्यतिरेकी हेतु के लिये नियम है कि उसमें विपक्षाद् व्यावृत्ति तथा सपक्षसत्त्व दोनों रूप होने चाहिये । इनमें से एक-एक के अभाव में दो प्रकार का सव्यभिचार हेत्वाभास हो जाता है । जिस हेतु में विपक्षाद् व्यावृत्ति नहीं होती, जो सपक्ष के समान विपक्ष में भी रहता है (सपक्षविपक्षयोर्वृत्तौ) वह साधारण

१. नियमासम्भवात् सपक्षविपक्षवृत्तेः, इति पाठा० ।

२. तस्यैव साध्यविपरीताव्याप्तस्य, साध्यविपरीतव्याप्तस्य, इति पाठा० ।

३. सपक्षविपक्षयोरव्यावृत्तौ, इति पाठा० ।

४. यस्य प्रतिपक्षभूतं हेत्वन्तरं विद्यते स प्रकरणसमः। स एव सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते[1]। तद्यथा 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः', 'शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' इति। अत्र हि[2] साध्यविपरीतसाधकं समानबलमनुमानान्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। यः पुनरतुल्यबलो न स प्रतिपक्षः। तथाहि विपरीतसाधकानुमानं त्रिविधं भवति। उपजीव्यम्, उपजीवकम्, अनुभयं चेति। तत्राद्यं बाधकं बलवत्त्वात्। यथा अनित्यः परमाणुर्मूर्तत्वाद् घटवत्[3] इत्यस्य परमाणुसाधकानुमानं नित्यत्वं साधयदपि न प्रतिपक्षः। किन्तु बाधकमेवोपजीव्यत्वात्। तच्च धर्मिग्राहकत्वात्। न हि प्रमाणेनागृह्यमाणे धर्मिणि पर-

अनैकान्तिक कहलाता है। किन्तु विरुद्ध नामक हेत्वाभास में भी 'विपक्षाद् व्यावृत्ति' नियम का व्यभिचार होता है अतः वहाँ भी व्यभिचार का उपर्युक्त लक्षण चला जायेगा, इसके निवारण के लिये कहा गया है 'साध्यविपरीतताव्याप्तस्य'। विरुद्ध में तो हेतु साध्यविपरीत (साध्याभाव) से व्याप्त होता है, अतः वहाँ व्यभिचार का लक्षण नहीं जाता। जिस हेतु में सपक्षसत्त्व नहीं होता जो विपक्ष के समान सपक्ष से भी व्यावृत्त होता है (ताभ्यां व्यावृत्तो च), वह असाधारण अनैकान्तिक होता है।

५. सत्पतिपक्ष (प्रकरणसम)

जिस (हेतु) के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक (प्रतिपक्षभूत) दूसरा हेतु होता है वह प्रकरणसम है। यही तत्प्रतिपक्ष भी कहा जाता है। जैसे "शब्द अनित्य है क्योंकि उसमें नित्य के धर्म की उपलब्धि नहीं होती" तथा "शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें अनित्य के धर्म की उपलब्धि नहीं होती"। यहाँ साध्य के विपरीत (अर्थ) का साधक जो तुल्य बल वाला दूसरा अनुमान है वह प्रतिपक्ष कहा जाता है। किन्तु जो (दूसरा अनुमान) तुल्य बल वाला नहीं होता वह प्रतिपक्ष नहीं होता। क्योंकि विपरीत अर्थ का साधक अनुमान तीन प्रकार का होता है उपजीव्य (दूसरे अनुमान का आश्रय होने वाला), उपजीवक (दूसरे अनुमान पर आश्रित होने वाला) तथा अनुभय (आश्रय तथा आश्रित से भिन्न)। उनमें से प्रथम (उपजीव्य) बाधक होता है, क्योंकि वह बलवान् होता है; जैसे "परमाणु अनित्य है, क्योंकि वह मूर्त (परिच्छिन्न परिमाण वाला) है। जैसे घट" इस (अनुमान) का परमाणुसाधक अनुमान, नित्यता को सिद्ध करता हुआ भी प्रतिपक्ष नहीं होता, किन्तु बाधक ही होता है, क्योंकि वह इसका आश्रयभूत (उपजीव्य) है। और, वह उपजीव्य (तच्च) इसलिये है, क्योंकि वह धर्मी (परमाणु) का साधक है। यदि प्रमाण के द्वारा धर्मी जो परमाणु है वह गृहीत न होगा तो उसमें अनित्यता का (साधक) यह अनुमान संभव ही नहीं है, क्योंकि इस (अनुमान का) आश्रय ही असिद्ध होगा। इसलिये इस (अनित्यत्वसाधक) अनुमान ने परमाणु के साधक (अनुमान) का प्रामाण्य भी अनुमोदित कर दिया है

१. इत्युच्यते, इति पाठा०। २. विपरीतार्थसाधकम्, इति पाठा०।

३. अस्य⋯धर्मिग्राहकत्वात्, इति क्वचिन्नास्ति

माणावनित्यत्वानुमानमिदं सम्भवति, आश्रयासिद्धेः । अतोऽनेनानुमानेन परमाणुग्राहकस्य प्रामाण्यमप्यनुज्ञातमन्यथाऽस्योदयासम्भवात् । तस्मादुपजीव्यं बाधकमेव । उपजीवकं तु दुर्बलत्वाद् बाध्यम् । यथेदमेवानित्यत्वानुमानम् । तृतीयं तु सत्प्रतिपक्षं समबलत्वात् ।

५. यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणेन पक्षे साध्याभावः परिच्छिन्नः स कालात्ययापदिष्टः । स एव बाधितविषय इत्युच्यते । यथा 'अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्' । अत्र कृतकत्वं हेतुः । 'तस्य च यत् साध्यमनुष्णत्वं तस्याभावः प्रत्यक्षेणैव परिच्छिन्नः । त्वगिन्द्रियेणाग्नेरुष्णत्वपरिच्छेदात् । तथा परोऽपि कालात्ययापदिष्टो यथा, घटस्य क्षणिकत्वे साध्ये प्रागुक्तं सत्त्वं हेतुः ।

(=अनुज्ञातम्) । अन्यथा इसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती थी । इसलिये उपजीव्य बाधक ही होता है । किन्तु उपजीवक (किसी दूसरे अनुमान पर आश्रित होने वाला) तो बाध्य होता है; क्योंकि वह दुर्बल होता है, जैसे यह (परमाणु को) अनित्यता का अनुमान है । तीसरा (जो न उपजीव्य है, न उपजीवक ऐसा साध्यविपरीतसाधक अनुमान) तो सत्प्रतिपक्ष होता है; क्योंकि वह तुल्य बल वाला होता है ।

सत्प्रतिपक्ष के स्वरूप आदि का विवेचन ऊपर (पृ० ११७) किया जा चुका है न्यायसूत्र (१.२.७) में इसका लक्षण है 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः' । इसका प्राचीन नाम प्रकरणसम है, उत्तरकालीन नाम सत्प्रतिपक्ष । प्रतिपक्ष का अर्थ है साध्य के विपरीत सिद्ध करने वाला दूसरा तुल्यबल अनुमान । साध्यविपरीतसाधक अनुमान दो प्रकार का होता है अतुल्यबल और तुल्यबल । अतुल्यबल भी दो प्रकार का है उपजीव्य तथा उपजीवक । जिस अनुमान पर विपरीतार्थसाधक दूसरा अनुमान आश्रित होता है वह उपजीव्य कहलाता है तथा जो आश्रित होता है वह उपजीवक । यह स्पष्ट ही है कि उपजीवक की अपेक्षा उपजीव्य बलवत्तर होता है । अतः उपजीव्य अनुमान उपजीवक का बाधक होता हैं और वहाँ सत्प्रतिपक्ष नहीं होता । समबल या तुल्यबल जो दो अनुमान होते हैं, जिनमें उपजीव्य उपजीवक भाव नहीं होता (अनुभय) वहीं सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हुआ करता है ।

५. कालात्ययापदिष्ट (बाधितविषय)

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के द्वारा पक्ष में जिस (हेतु) के साध्य का अभाव निश्चित कर लिया जाता है (=परिच्छिन्नः) वह कालात्ययापदिष्ट है, वह बाधितविषय भी कहा जाता है । जैसे "अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि वह कृतक है, जैसे जल । यहाँ कृतकत्व हेतु है, और उसका जो साध्य अनुष्णत्व है उसका अभाव प्रत्यक्ष के द्वारा ही निश्चित है; क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा अग्नि की उष्णता का ज्ञान होता है । इसी प्रकार दूसरा कालात्ययापदिष्ट यह है; जैसे घट की क्षणिकता को सिद्ध करने के लिये पूर्वोक्त 'सत्त्व हेतु है' । उसका भी साध्य जो क्षणिकत्व है उसका अभाव अक्षणिकत्व है होगा जो प्रत्य-

---

१. तस्य साध्यं यत्, इति पाठा० ।

तस्यापि च यत् साध्यं क्षणिकत्वं तस्याऽभावोऽक्षणिकत्वं 'प्रत्यभिज्ञालक्षण-प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नम् । स एवायं घटो यो मया पूर्वमुपलब्धः' इति प्रत्यभिज्ञया पूर्वानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवया पूर्वापरकालावगाहिन्या' घटस्य स्थायित्वपरिच्छेदादिति ।

एते चासिद्धादयः पञ्च हेत्वाभासा यथा कथञ्चित्' पक्षधर्मत्वाद्यन्य-तमरूपहीनत्वादहेतवः स्वसाध्यंन साधयन्तीति ।

येऽपि लक्षणस्य केवलव्यतिरेकिहेतोस्त्रयो दोषा' अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, न तु पञ्चभ्योऽधिकाः । तथाहि, अतिव्याप्ति-र्व्याप्यत्वासिद्धिः । विपक्षमात्रादव्यावृत्तत्वात् सोपाधिकत्वाच्च । यथा गोलक्ष-णस्य पशुत्वस्य । गोत्वे हि सास्नादिमत्त्वं प्रयोजकं न तु पशुत्वम् । तथा 'अव्या-

भिज्ञा रूप प्रत्यक्ष के द्वारा ही निश्चित है । क्योंकि यह वही घट है जो मैंने पहिले देखा था' इस पूर्व अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहकार से इन्द्रिय द्वारा होने वाली पूर्व तथा अपर काल (के एकत्व) को ग्रहण करने वाली (पूर्वापरकालयोः एकत्वावगा-हिनी चि०) प्रत्यभिज्ञा से घट की स्थायिता का निश्चय होता है ।

बाधितविषय के स्वरूप आदि का ऊपर (पृ० ११८) विवेचन किया जा चुका है । न्यायसूत्र (१.२.९) के अनुसार इसका लक्षण है—'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः'। इसका कालान्तर में परिष्कृत रूप ही तर्कभाषा में है । बाधितविषय का प्रसिद्ध उदाहरण है 'अग्निरनुष्णः कृतकत्वात्' । बौद्ध का क्षणिकत्वसाधक अनुमान भी बाधित विषय ही है । बौद्ध का अनुमान है 'सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वात्' या कहिये 'घटः क्षणिकः सत्त्वात्' । किन्तु प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष के द्वारा घट की स्थायिता = अक्षणिकता का निश्चय हो जाता है, अतः यह बाधितविषय हेत्वाभास है । 'पूर्वानुभव' इत्यादि वाक्य में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप दिखलाया गया है (प्रत्यभिज्ञा द्र० ऊपर पृ० १६) ।
अन्य हेतुदोषों का पांच हेत्वाभासों में अन्तर्भाव—

किञ्च, ये असिद्ध आदि पाँचों हेत्वाभास (अहेतु) होते हैं तथा अपने साध्य को सिद्ध नहीं करते हैं, क्योंकि पक्षधर्मता (पक्षसत्त्व) आदि (हेतु के पांच रूपों में से) किसी एक रूप से रहित होते हैं ।

जो लक्षण अर्थात् केवलव्यतिरेकी हेतु के तीन दोष हैं अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव, उनका भी इन (पांच हेत्वाभासों) में अन्तर्भाव हो जाता है, वे इन पाँच से अतिरिक्त नहीं हैं उदाहरणार्थ जो अतिव्याप्ति (दोष) है वह व्याप्यत्वासिद्धि ही है, क्योंकि (वहाँ लक्षण रूप व्यतिरेकी हेतु) सभी विपक्षों से व्यावृत्त नहीं होता तथा सोपाधिक होता है । जैसे गो के लक्षण पशुत्व की (सोपाधिकता है) । गो होने

१. प्रत्यभिज्ञातर्कादिलक्षणेन प्रत्यक्षेण, इति पाठा० ।
२. पूर्वापरकालकलनया, इति पाठा० ।
३. यथायथम्, इति पाठा० ।
४. त्रयो दोषाः, इति क्वचिन्नास्ति ।
५. अव्याप्तिर्, इति पाठा० ।

प्तेर्भागासिद्धत्वम्[1]। यथा गोलक्षणस्य शाबलेयत्वस्य। एवम् असम्भवोऽपि स्वरूपासिद्धिः। यथा गोलक्षणस्यैकशफत्वस्येति।

[१३. छलम्]

अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम्। यथा नवकम्बलोऽयं माणवकः[2] इति वाक्ये[3] नूतनाभिप्रायेण प्रयुक्तस्य

(=गोत्व) में सास्ना आदि होना ही प्रयोजक है (जो सास्नादिमान् है वह गौ है) पशु होना (=पशुत्व) नहीं। इसी प्रकार अव्याप्ति (दोष) भागासिद्ध ही है; जैसे शाबलेयत्व (कबरी होना), इस गौ के लक्षण की (भागासिद्धि है)। इसी प्रकार असंभव (दोष) भी स्वरूपासिद्ध ही है, जैसे एकशफत्व (बिना चिरे खुर वाला होना), इस गोलक्षण की (स्वरूपासिद्धता है)।

एतेन च इत्यादि का अभिप्राय हैः—सद् हेतु के जो पक्षसत्त्व आदि पाँच रूप होते हैं उनमे से किसी एक के अभाव में हेतु दोषयुक्त हो जाता है—हेत्वाभास हो जाता है। फलतः ५ हेत्वाभास होते हैं।

ऊपर (पृ० ९) लक्षण के तीन दोष बतलाये गये हैं अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। अनुमान प्रकरण (पृष्ठ ६९) में यह भी कहा गया है 'लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः' इस पर यह शङ्का हो सकती है कि यदि लक्षण भी हेतु है तो उसके दोषों को भी हेतु दोष मानना होगा और इस प्रकार हेत्वाभास पांच ही हैं (पञ्चैव), यह कथन संगत न हो सकेगा। इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है 'यद्यपि लक्षणस्य' इत्यादि। भाव यह है कि लक्षण-दोषों का भी पांच हेत्वाभासों में अन्तर्भाव हो जाता है। कैसे? अतिव्याप्ति का उदाहरण है 'पशुत्वं 'गोर्लक्षणम्' यहाँ 'पशुत्व' गौ का लक्षण है या कहिये पशुत्व ही गौ होने का हेतु है। किन्तु सभी पशु गाय नहीं होते सास्नादि वाला पशु गौ कहलाता है अतः यहाँ 'सास्नादिमत्त्व' उपाधि है और यह सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्ध है। लक्षण की अव्याप्ति भागासिद्ध (स्वरूपासिद्ध) ही है। जैसे यदि कहा जाये शाबलेयत्वं गोर्लक्षणम्' तो यहाँ शाबलेयत्व (कबरापन) सभी पक्षों (गायों) में नहीं रहता अतः हेतु भागासिद्ध है। लक्षण का असम्भव दोष भी स्वरूपासिद्ध ही है। यदि कहा जाये 'एकशफत्वं गोर्लक्षणम्' तो यहाँ 'एकशफत्व' (बिना चिरे खुर वाला होना) किसी भी गौ में नहीं रहता अतः स्वरूपासिद्ध है।

१४. छल

अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द का अन्य अर्थ मानकर दोष दिखलाना छल है। जैसे 'नवकम्बलोऽयं माणवकः' (=यह विद्यार्थी नव कम्बल वाला है) इस वाक्य में नवीन (नये) के अभिप्राय से प्रयुक्त जो 'नव' शब्द है उसका दूसरा अर्थ (=नौ,

१. भागासिद्धः, इति पाठा०। २. देवदत्तः, इति पाठा०।
३. वाक्यस्य, इति पाठा०।

'नवशब्दस्यार्थान्तरमाशङ्क्य कश्चिद् दूषयति । 'नास्य नव कम्बला: सन्ति दरिद्रत्वात् न ह्यस्य द्वयमपि सम्भाव्यते कुतो नव' इति । स च वादी छल-वादितया ज्ञायते ।

[१५. जातिः

असदुत्तरं जातिः । सा च उत्कर्षसम-अपकर्षसम[2]-आदिभेदेन बहुविधा विस्तरभिया नेह कृत्स्नोच्यते । तत्राव्याप्तेन दृष्टान्तगतधर्मेण [3]पक्षे अव्यापक-धर्मस्यापादनम् उत्कर्षसमा जातिः । यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवदि-त्युक्ते[4] कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात् तर्हि तेनैव हेतुना तद्वदेव शब्दः सावयवोऽपि स्यात् ।' अपकर्षसमा तु दृष्टान्तगतेन धर्मेणाव्याप्तेनाव्यापकस्य धर्माभावस्यापादनम् । यथा पूर्वस्मिन् प्रयोगे कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात् तेनैव हेतुना घटवदेव हि शब्दः श्रावणोऽपि न स्यात् । न हि घटः श्रावणः' इति

---

९ संख्या) मानकर कोई दोष दिखलाता है—'इसके नौ कम्बल नहीं है, क्योंकि यह तो दरिद्र है, इसके तो दो की भी संभावना नहीं है, नौ कहाँ ?" वह वादी छलवादी के रूप में जाना जाता है ।

न्यायसूत्र (१.२.१०) में छल का लक्षण है—वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्, वहाँ तीन प्रकार का छल बतलाया गया है वाक्छल, सामान्यछल, उपचारछल ।

१५. जाति

अयुक्त या अनुचित (=असद्) उत्तर जाति (कहलाता) है । वह उत्कर्षसम अपकर्षसम आदि भेद से अनेक प्रकार की है । विस्तार के भय से यहाँ सभी का कथन नहीं किया जा रहा है । उनमें उत्कर्षसमा जाति है—दृष्टान्त में रहने वाले अव्याप्त धर्म के द्वारा पक्ष में किसी अव्यापक धर्म का प्रसङ्ग दिखलाना (=आपादन) । जैसे "शब्द अनित्य है, क्योंकि यह कृतक (=कार्य, जन्य) है, जैसे घट" । (एक के) यह कहने पर दूसरा इस प्रकार कहता है—"यदि कृतकत्व हेतु से घट के समान शब्द अनित्य होगा तो उसी हेतु से उस (घट) के समान ही शब्द अवयवयुक्त (=सावयव) भी होने लगेगा । अपकर्षसमा जाति तो दृष्टान्त में रहने वाले अव्याप्त धर्म के द्वारा किसी अव्यापक धर्म के अभाव का प्रसङ्ग दिखलाना है । जैसे पूर्वोक्त (अनुमान के) प्रयोग में ही कोई इस प्रकार कहता है—"यदि कृतकत्व हेतु से घट के समान शब्द अनित्य होगा तो उसी हेतु से घट के समान ही शब्द श्रोत्र द्वारा गृहीत (=श्रावण) भी न होगा; क्योंकि घट तो श्रोत्र द्वारा गृहीत नहीं होता ।

न्याय (१. २. १८) के अनुसार जाति का लक्षण है 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां

---

१. नवशब्दस्य,-इति क्वचिन्न
२. अपकर्षसम, इति क्वचिन्न ।
३. साध्ये पक्षे, इति पाठा० ।
४. प्रयुक्ते, इति पाठा० ।

[१६. निग्रहस्थानानि]

पराजयहेतुः निग्रहस्थानम् । तच्च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्त-अर्थान्तर-अप्रतिभा-मतानुज्ञा-विरोध-आदिभेदाद् बहुविधमपि 'विस्तरभयान्नेह कृत्स्नमुच्यते । 'यद् विवक्षितार्थे किञ्चिदूनं तन्न्यूनम् । 'विवक्षितात् किञ्चिदधिकम् अधिकम् । 'सिद्धान्तादपध्वंसः अपसिद्धान्तः । प्रकृतेनानभिसम्बद्धार्थवचनम् अर्थान्तरम् । उत्तरापरिस्फूर्तिः अप्रतिभा । पराभिमतस्यार्थस्य स्वप्रतिकूलस्य स्वयममेवाभ्यनुज्ञानं 'स्वीकारो मतानुज्ञा । इष्टार्थभङ्गो विरोधः ।

प्रत्यवस्थानं जातिः, । जब वादी के द्वारा किसी साध्य को सिद्ध करने के लिये कोई हेतु दिया जाता है और प्रतिवादी व्याप्ति की अपेक्षा किये बिना ही केवल दृष्टान्त के साधर्म्य या वैधर्म्य के आधार पर उसका उत्तर देता है तो वह उत्तर अयुक्त, या असद् उत्तर होता है क्योंकि उसमें व्याप्ति का ध्यान नहीं रक्खा जाता है। वह असद् उत्तर ही तर्कशास्त्र में 'जाति' कहलाता है । न्यायसूत्र (५.१.१) में २४ प्रकार की जाति बतलाई गई है । और, तदनन्तर सभी जातियों के लक्षण तथा उदाहरण भी दिखलायें गये है । उनमें से तर्कभाषा में केवल दो उत्कर्षसमा तथा अपकर्षसमा के उदाहरण ही दिखलाये गये हैं । बौद्ध तथा जैन दर्शन में भी जाति के अनेक भेदों का निरूपण किया गया है (द्रष्टव्य वाद-विधि, उपायहृदय आदि) ।

१६. निग्रहस्थान

निग्रहस्थान वह है जो पराजय का निमित्त होता है । और, वह न्यून, अधिक अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा, विरोध आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है । विस्तार के भय से यहाँ सब का वर्णन नहीं किया जा रहा है । जो विवक्षित अर्थ (से विषय) में कुछ कम (कहना) है वह 'न्यून' (नामक निग्रहस्थान) है । विवक्षित अर्थ से कुछ अधिक (कह देना) 'अधिक' है । (अपने) सिद्धान्त से हट जाना 'अपसिद्धान्त' है । प्रस्तुत (=प्रकृत=प्रकरणसंगत) अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ का कथन 'अर्थान्तर' है । उत्तर का स्फुरण न होना 'अप्रतिभा' । दूसरे के अभिमत और अपने मत के विरुद्ध अर्थ की अनुज्ञा अर्थात् स्वीकृति 'मतानुज्ञा' है । (अपने) अभीष्ट अर्थ का निषेध करना (=भङ्ग) विरोध' है ।

न्यायसूत्र (१. २. १९) में निग्रहस्थान का यह लक्षण दिया गया है 'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्' । न्यायभाष्य के अनुसार 'निग्रहस्थान' का अर्थ है पराजय की प्राप्ति (निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः) । आगे चलकर पराजय के हेतु को निग्रहस्थान माना गया है । तर्कभाषा में निग्रहस्थान का यही रूप है । वृत्तिकार विश्वनाथ ने निग्रहस्थान शब्द की यह व्युत्पत्ति दिखलाई है निग्रहस्य=खलीकारस्य, स्थानं=ज्ञापनं निग्रहस्थानम् । अर्थात् पराजय का ज्ञापन ही निग्रहस्थान है । फलतः

१. विस्तरभिया, इति पाठा० । २. यत्र, इति पाठा० । ३. विवक्षितार्थे, इति पाठा० । ४. अपध्वस्तो, इति पाठा० । ५. अभ्यनुज्ञा, इति पाठा० ।

इहात्यन्तमुपयुक्तानां स्वरूपभेदेन भूयो भूयः प्रतिपादनम्[1] । यदनतिप्रयोजनं तदलक्षणमदोषाय[2] । एतावतैव [3]बालव्युत्पत्तिसिद्धेः ।

'इति श्रीकेशवमिश्रविरचिता तर्कभाषा समाप्ता ।

निग्रहस्थान पराजय का ज्ञापक हेतु है । जब कोई वादी या प्रतिवादी ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि उसे पराजित समझा जाने लगे तो उसे निगृहीत या (निग्रहस्थान को प्राप्त हुआ) कहा जाता है ।

न्यायसूत्र (५ २. १) में निग्रहस्थान के २२ प्रकार बतलाये गये हैं, तदनन्तर उन सभी का लक्षण तथा उदाहरण द्वारा निरूपण किया गया है । तर्कभाषाकार ने उनमें से केवल 'न्यून' आदि कतिपय निग्रहस्थानों का ही दिग्दर्शन कराया है ! वादी या प्रतिवादी के निग्रह की प्रक्रिया इस प्रकार समझी जा सकती है:—वादी ने स्थापना की "शब्द नित्य है क्योंकि वह जन्य है" । इसके पश्चात् वह कहने लगा "शब्द एक गुण है वह आकाश का गुण है' । यहाँ उसको शब्द की कृतकता का यिवेचन करके उसकी अनित्यता को सिद्ध करना है, यही प्रकृत अर्थ है । किन्तु इस प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ का कथन वह करने लगता है अतः निर्णायक (मध्यस्थ) यह निर्देश कर सकता है कि 'अर्थान्तर' है । इस अर्थान्तर से उसकी पराजय सूचित हो जाती है ।

टिप्पणी—(i) यद्यपि न्यायशास्त्र तत्त्वज्ञान के निरूपण के लिये प्रवृत्त हुआ है तथापि तत्त्वनिर्णय में सहायक होने के कारण छल, जाति तथा निग्रहस्थानों का यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । जैसा कि न्यायभाष्य (१. १. १.) में कहा गया है--छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थमिति । उपलक्षितानां स्ववाक्ये परिवर्जनं छलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्य्यनुयोगः । जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः, सुलभः समाधिः, स्वयं च सुकरः प्रयोग इति । (ii) बौद्ध तथा जैन तार्किकों ने भी निग्रहस्थानों का वर्णन किया है (द्र० वादन्याय, उपायहृदय आदि) ।

ग्रन्थ का उपसंहार

यहाँ अत्यन्त उपयोगी (पदार्थों) का स्वरूप के भेद से बार-बार निरूपण किया गया है, जिसका अधिक प्रयोजन नहीं है उसका निरूपण नहीं किया गया । किन्तु यह दोषावह नहीं है; क्योंकि इतने मात्र से ही बालकों की (न्यायशास्त्र-सम्बन्धी) व्युत्पत्ति (=ज्ञान) सिद्ध हो जाती है ।

---

१. रूपभेदानां प्रतिपादनम्, इति पाठा० ।

२. अनतिप्रयोजनानां चालक्षणं न दोषाय, इति पाठा० ।

३. बालव्युत्पादन०, इति पाठा० ।

यह शङ्का हो सकती है कि तर्कभाषा नामक ग्रन्थ में कतिपय पदार्थों का कई बार विस्तार से प्रतिपादन किया गया है जैसे बुद्धि, आत्मा, हेत्वाभास आदि का। न्यायशास्त्र के किन्हीं पदार्थों का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया जैसे जाति तथा निग्रहस्थान आदि का। इसी प्रकार अनेक पदार्थों का नाम मात्र से निर्देश कर दिया गया है, विशद रूप में लक्षण आदि नहीं दिखलाया गया। इसलिये यह ग्रन्थ शास्त्र के विषय का सम्यक् प्रतिपादन नहीं करता। इसके समाधान रूप में कहा गया है 'इह' इत्यादि। भाव यह है कि बालकों को न्यायशास्त्र का बोध कराने के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसी उद्देश्य से यहाँ पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है। अतः किसी प्रकार के दोष की शङ्का करना उचित नहीं।

इस प्रकार श्री केशव मिश्र विरचित तर्कभाषा समाप्त होती है।

उत्तरप्रदेशस्थ-मयराष्ट्रमण्डलान्तर्गत-रसूलपुरग्रामनिवासिनां
श्रीचन्द्रभानुनम्बरदारमहोदयानाम् आत्मजेन
विविधबुधजनचरणाधिगतविद्येन
श्रीनिवासशास्त्रिणा कृता
हिन्दीव्याख्येयं समाप्ता

6
7
8
d

200
225
250
675

Sharma
27477261